शरणागतिरहस्य
३६५६
वाल्मीकि-रामायणमें
भगवच्छरणागति
लेखक
भट्ट मथुरानाथ शास्त्री
साहित्याचार्य, कविरत्न
गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ

शरणागतिरहस्य

{ वाल्मीकि-रामायणमें
भगवच्छरणागति }

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री

साहित्याचार्य, कविरत्न

प्रारम्भिक निवेदन

कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥

महर्षि वाल्मीकिका सरस्वतीनिःस्यन्द रसिक और भावुक दोनों समाजोंके लिये वन्दनीय है। आपने मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रकी चरित-कथाको नाना रसोंसे रोचक बनाकर रसिकसमाजको जिस तरह रसाप्लावित किया है उसी तरह भगवद्भक्तिकी भागीरथी प्रवाहित करके भावुक भक्तोंके हृदयोंको भी द्रवित किया है। किन्तु बहुतोंको कहते हुए सुना है कि 'श्रीमद्रामायण आदिकाव्य चाहे हो सकता है, उसमें करुणरस अंगी भी हो सकता है परन्तु भक्तिका साम्प्रदायिक तत्त्व जैसा अन्यान्य ग्रन्थोंमें मिलता है वैसा वाल्मीकिरामायणमें नहीं है।'

यह उक्ति रामायणके मार्मिकोंकी नहीं हो सकती। दूसरी बातोंको तो जाने दीजिये, रामायणवर्णित विभीषण-शरणागतिको भला कौन नहीं जानता ? जहाँ भक्तकारुण्यसे विद्रुत होकर शत्रुके सहोदर भ्रातातकको भगवान् स्वीकार करते हैं वहाँ भक्ति और भक्तवात्सल्य खोजना होगा ? स्वीकार करना भी कैसे मौकेपर ? जब कि त्रैलोक्यकम्पन रावण-सरीखे दुर्जेय शत्रुसे प्रत्यक्ष मुक़ाबला हो रहा है और प्रायः सभी सचिव विभीषणके अंगीकारको अस्वीकार करते हैं।

'शरणागति' को भक्तिका प्रधान द्वार ही नहीं, सर्वस्व समझिये। इसके छः अंगोंमें भक्तिका सब कुछ आ जाता

है। भगवान् वाल्मीकिने अपनी सुप्रसन्न तथा गभीर वाणीमें शरणागतिका सब रहस्य सूचित कर दिया है। किन्तु व्यङ्ग्य होनेके कारण वह मार्मिकोंकी बुद्धिमें ही आने लायक है। गोविन्दराजकृत 'रामायणभूषण' ने इस विषयको बहुत विशद किया है; किन्तु वह भी धीरे-धीरे सर्वसाधारणके लिये दुर्गम हो गया है। इस निवन्धमें तिलक, शिरोमणि और भूषणा इन तीनों ही टीकाओंका आशय सूचित कर देनेके अनन्तर लेखक-की साधारण बुद्धिमें जो कुछ व्यङ्ग्यार्थ आया वह भी स्थान-स्थानपर निवेदन किया है।

यद्यपि 'भूषणा' ने विशिष्टाद्वैत (श्रीरामानुजसम्प्रदाय) के अनुसार ही शरणागतिका प्रतिपादन किया है किन्तु इस निवन्धमें स्थान-स्थानपर अन्यान्य वैष्णवसम्प्रदायोंके सिद्धान्तों-की भी संक्षेपतः सूचना देनेका यत्न किया गया है। मार्मिकों-की सेवामें यद्यपि यह निवेदन पुनरुक्तप्राय है, किन्तु जिस अल्पज्ञ, मूढधी पुरुषने यह दुःसाध्य काम उठा लिया था वह पूर्वोक्त आधारोंसे ही जैसा कुछ वन सका, भावुकोंके सम्मुख उपस्थित किया है। वस, यह सूचित करना ही इस लेखका लक्ष्य है। अन्यान्य प्रसंगोंमें निरन्तर लगी हुई वाणीको 'शरणागति' के अभिमुख देखकर दयाशील भगवद्भक्त भी सर्वापराध क्षमा कर देंगे, यह सुदृढ़ विश्वास है।

श्रावण शुक्ल तृतीया }
सं० १९९२ }

अकिञ्चित्कर—भट्ट मथुरानाथ शास्त्री
[साहित्यप्रधानाध्यापक राजकीय
संस्कृत कालेज, जयपुर]

श्रीहरिः

विषयसूची

विषय		पृष्ठसंख्या

भुजविसाल गहि हृदय लगावा ।

श्रीहरिः

शरणागतिरहस्य

विभीषणका शरण आना

कोसलनरेन्द्र भगवान् श्रीरामचन्द्र अथाह वानर-वाहिनी लिये दक्षिण-सागरके तटपर विराज रहे हैं। सेनाको समुद्र-पार किस तरह पहुँचाया जाय, इसका विचार किया जा रहा है। उधर लङ्कामें त्रिलोकविख्यात राक्षसेन्द्र रावण भी सभा जोड़कर मन्त्रियोंसे सलाह कर रहे हैं कि अब क्या करना चाहिये। विश्व-विख्यात-पराक्रम वालीको (जिसने स्वयं रावणको भी बगलमें दबा लिया था) और उसके भाई सुग्रीवकी सेना लेकर श्रीरामचन्द्र लङ्काके समीप ही पहुँच चुके हैं। ठकुरसुहाती मानी जाय चाहे सच्चा प्रभाव-वर्णन समझा जाय, किन्तु प्रहस्तादि सभी सचिवोंने लङ्काधिपतिका त्रिलोककम्पन प्रभाव दिखलाकर आश्वासन दिया कि आपकी अवश्य विजय होगी। इसमें अधिक चिन्ता करनेकी कोई बात ही नहीं है। कुछ योद्धाओंने तो जोशमें आकर वहीं तलवार खींच ली और वीरताके जोममें आकर वे कहने

लगे—'ज्यादा सोच-विचारकी बात ही नहीं होनी चाहिये। हम-लोग जाते हैं और अभी राम तथा सुग्रीवको समाप्त करके सारा झगड़ा मिटाये देते हैं।'

लङ्केश्वरके छोटे भाई, धीर-प्रकृति, शास्त्र-तत्त्वज्ञ (भगवान्‌के अनुग्रहके अधिकारी दैवजीव) विभीषण भी वहाँ मौजूद थे, क्योंकि वह भी लङ्केश्वरके मन्त्र-सचिवोंमेंसे एक थे। वह चुपचाप सब कुछ सुनते रहे। पर यह झूठी उछल-कूद उन्हें बहुत बुरी लग रही थी। वह श्रीरामचन्द्रको केवल एक पराक्रमी राजा ही नहीं, भक्तोंके उद्धारार्थ भूतलमें उतरे हुए साक्षात् भगवान् समझते थे। वह किसी तरह मनको रोके हुए भगवद्विमुख साक्षात् राक्षसों-के समाजमें बड़े कष्टसे अबतक निवास कर रहे थे। गोसाईंजीने उस दशाका अच्छा आभास दिया है कि 'जिमि दसननमहँ जीभ बेचारी।' वह श्रीरामचन्द्रके प्रभावको जानते थे। केवल यही नहीं, उनका लङ्केश्वरके साथ भाईका नाता था। स्नेह ही क्या, सच्ची बात तो यह है कि हृदयगत सौजन्यके कारण उनसे यह झूठी शेखी अधिक नहीं सुनी गयी। उन्होंने उन लोगोंको शान्त करके बैठाया। लङ्केश्वरको उत्तम-मध्यम सब तरह समझाया कि, 'श्रीरामचन्द्रके साथ युद्ध करना किसी कारणसे भी ठीक नहीं। सुग्रीवादिका साथ देना राजनीतिके अनुसार एक बड़ा रहस्य है। अतएव इसीमें कल्याण है कि सीताको श्रीरामचन्द्रके पास पहुँचा दिया जाय।' किन्तु घनघोर वीरोंके सामने विभीषणकी सलाह न जमी।

लङ्केश्वर इस मन्त्रपर कुछ विचार किये बिना ही सभासे उठ खड़े हुए। किन्तु विभीषण हृदयसे उनका भला चाहते थे। दूसरे दिन प्रातःकाल बिना बुलाये ही वह रावणके महलमें पहुँचे। बहुत कुछ समझाया, किन्तु होनहार नहीं टलती। लङ्केश्वरने सलाह तो मानी ही नहीं, प्रत्युत व्यङ्ग्य-बाणोंसे विभीषणके हृदयको छेद दिया। कहा कि—'रामचन्द्रको मदद देनेवाले मुझसे छिपे नहीं हैं। मुझे शत्रुसे अधिक ऐसे गुप्त शत्रुओंका अधिक भय है। सच है, नमकहराम किसीके साथी नहीं होते।' खैर, रावण बड़े भाई थे। किसी तरह यह इसे पी भी जाते, किन्तु भतीजे इन्द्रजित्‌ने भी मर्यादा लाँघकर उन्हें बुरी तरह फटकारा। कहा कि—'वीर्य, बुद्धि, पराक्रम आदि सबसे हीन तुम्हीं इस कुलमें उत्पन्न हुए हो इत्यादि।' निष्कपट-हृदय विभीषणको इससे बड़ी भारी वेदना हुई। उनका हृदय इस अपमानके कारण एकदम रो उठा।

बस, यहींसे वह भगवान्‌की शरणमें जानेके अधिकारी बनने लगे। जबतक निर्वेद नहीं होता, भगवान्‌की भक्ति हृदयमें स्थान नहीं पाती। गीताके ठाकुरने भी भक्तिके अधिकारियोंकी लिस्ट बनाते हुए सबसे पहले उसीका नाम लिखा है जिसके हृदयको दुनियाके दुःखोंकी असहनीय चोट पहुँच चुकी हो। वह कहते हैं कि मेरा भजन करनेवाले प्रधानतः ये हैं—'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।' (दुःखपीड़ित, भगवन्माहात्म्यको जाननेकी इच्छा करनेवाला, प्रयोजन रखनेवाला तथा पूर्ण ज्ञानी) बात यह है कि जिज्ञासु आदिकी अपेक्षा आर्तका भगवान्‌की तरफ स्वाभाविकरूपसे अधिक खिंचाव होता है। भगवान्‌को भी औरोंकी अपेक्षा उसपर

शीघ्र दया आ जाती है । भक्तको दुःखी देखकर भक्तोंके प्रणयी भगवान्‌से रहा नहीं जाता । आर्त गजेन्द्रकी पुकार सुनकर भगवान् वैकुण्ठसे गरुड छोड़कर स्वयं पैदल ही दौड़े थे । बस, इसीलिये महर्षि वाल्मीकिने विभीषणको 'अर्थार्थी, ज्ञानी' आदि समझते हुए भी आर्तके रूपमें पहले-पहल अधिक चित्रित किया है।

विभीषण लङ्काधिपतिको कालवशीभूत समझकर वहाँसे उठ खड़े हुए । उनके हृदयमें भगवान्‌की तरफ पहलेसे कुछ खिंचाव था ही, इधर इस सहकारी कारणने उसको और भी प्रबल बना दिया । उन्होंने ज्येष्ठ भ्रातासे खटपट करनेकी अपेक्षा लङ्काको छोड़ देना ही उचित समझा । और वह अपना साथ देनेवाले चार अनुगामियोंके साथ वहाँसे चल पड़े । हृदयमें बड़ा हर्ष हो रहा था कि आज बहुत कालसे जिनका गुण श्रवण करता आया हूँ, उन श्रीरामचन्द्र-के दर्शन करूँगा । आती बेर फिर एक बार रावणको समझाया और अन्तमें कहा कि—'अच्छी बात है, आप मुझे बुरा समझते हैं तो मैं चला जाऊँगा । मैं अपने हृदयसे चाहता हूँ कि आप सुखी हों, किन्तु आपके सुखी होनेमें मैं ही यदि बाधक हूँ तो मैं चला जाता हूँ । आप सुखी हों । मैंने आपको बड़ा भाई समझकर स्नेहके कारण आपकी हितचिन्तासे जो कुछ कहा-सुना हो, उसे क्षमा कर दें । किन्तु आप अपनी और राक्षसोंसहित इस पुरीकी सावधानीसे रक्षा करें ।' व्यङ्ग्य-मर्यादासे उन्हें सूचित कर दिया कि यदि आप श्रीरामचन्द्रसे सन्धि करना नहीं चाहते तो अब आपकी और इस पुरीकी खैर नहीं । महर्षि वाल्मीकिके अक्षर हैं—

'तन्मर्षयतु यच्चोक्तं गुरुत्वाद्धितमिच्छता ।
आत्मानं सर्वथा रक्ष पुरीं चेमां सराक्षसाम् ॥
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सुखी भव मया विना ।'

बस, वह लङ्कासे विदा होकर समुद्रके दूसरे तटकी तरफ चले, जहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्र वानरचमूपति सुग्रीव, हनूमान् आदिकी मन्त्रणासभा जोड़कर समुद्र-लंघनका उपाय सोच रहे थे। महर्षि वाल्मीकि भी यहींसे भगवच्छरणागतिका आरम्भ करते हैं। उसका प्रथम पद्य है—

'इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणं रावणानुजः ।
आजगाम मुहूर्तेन यत्र रामः सलक्ष्मणः ॥'

'रावणानुज विभीषण 'इति' इस तरह (पहले सर्गोंमें जिस प्रकार कहा जा चुका है), रावणके प्रति कठोर वाक्य कहकर जहाँ लक्ष्मणसहित रामचन्द्र थे, वहाँ मुहूर्तमात्रमें (अति शीघ्रतासे) 'आजगाम' आये।'

यह श्लोकका अक्षरार्थ है। इसमें शरणागतिका जो कुछ साम्प्रदायिक रहस्य है तथा आदिकवि भगवान् वाल्मीकिके अक्षरोंमें जो कुछ गाम्भीर्य है, उसे भी अब अवधानसे सुनिये—

शरणागतिके छः अङ्ग हैं—'मैं सदा अनुकूल रहूँगा यह संकल्प, प्रतिकूलताका त्याग, भगवान् मेरी रक्षा करेंगे यह अटल विश्वास, अब आप ही मेरे रक्षक हैं इस तरह वरण करना, अपनी आत्माका भगवान्को समर्पण कर देना तथा दीनता।'[1]

---

१ 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥'

इन छः अङ्गोंमेंसे भगवान्‌के अनुकूल हो जाना, प्रतिकूलताका त्याग करना उसी समय दिखला दिया, जिस समय राक्षसकुलप्रसूत होनेपर भी विभीषण श्रीरामचन्द्रजीको अच्छा मानने लगे थे और उनके लिये लङ्कासे चल पड़े थे। विश्वविख्यात पराक्रमशाली बाली आदिके निग्रहको देखकर भगवान्‌के रक्षकत्वपर भी उनका विश्वास जम चुका था। किन्तु शरणागतिका सबसे प्रधान अङ्ग जो दीनता है, उसका प्रकाशन अभीतक नहीं हुआ था। उसी अङ्गको लेकर महर्षि वाल्मीकि शरणागतिका आरम्भ करते हैं। कहते हैं—'इत्युक्त्वा परुषं वाक्यम्' (इस तरह कठोर वाक्य कहकर)।

जिस उग्रशासन रावणके डरसे वायुतक जनानेमें डरता हुआ चलता था कि ऐसा न हो जो स्त्रियोंके अञ्चल उड़नेसे बेअदबी करनेके अपराधमें मैं पकड़ा जाऊँ, उस जगद्विजयी रावणको छोटा होकर भी 'मौत तुम्हारे सिरपर खेल रही है' इत्यादि कह देना और जीनेकी आशा करना, यह असम्भव है। अतएव अब तो लङ्कासे चला जाना ही पड़ेगा। किन्तु यहाँसे चले जानेपर भी क्या रावणसे छुटकारा मिल जायगा ? सिवा श्रीरामचन्द्रजीके और कोई नहीं बचा सकता, यों अपनेमें दीनता लाते हुए विभीषण आगे बढ़ते हैं। इसलिये कहा कि 'इत्युक्त्वा परुषं वाक्यम्'

'इति' (इस तरह) यों 'इति' से कहनेके प्रकारको सूचित किया गया है। वह यह कि 'प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली' (श्रीरामचन्द्रजीके पास सीताको लौटा दो) यह कर्तव्यमें सुभीता दिखलाया। 'यावन्न गृह्णन्ति शिरांसि बाणाः' (यदि नहीं लौटा-

ओगे तो मस्तक देकर प्रायश्चित्त करना पड़ेगा) यह भय भी दिखाया । यों 'सब प्रकारसे' समझाया गया था, इस बातको सूचित करनेके तात्पर्यसे कहा कि 'इति'।

'इति' से महर्षिका और भी तात्पर्य है । आगे जाकर यह कलङ्क आ सकता है कि 'हितको जाननेवाले मर्यादानुगामी सहोदर भ्राता विभीषणने ही सङ्कटमें पड़े हुए भाईका साथ न दिया' यह अपयश आगे न मिले 'इति' इस प्रकार (बहुत अच्छी तरह) 'उक्त्वा' कहकर ।

विभीषण-सदृश शान्त-प्रकृति भगवद्भक्तके वाक्यको 'परुषम्' कठोर कहनेका तात्पर्य यह है कि वह वाक्य 'हित' था, परन्तु रावणरूप ग्राहकके दोषसे वह कठोर हो गया । मलयपवन विला-सियोंका आन्तरिक सन्ताप दूर करता है किन्तु विरही उससे जले जाते हैं । इसलिये आधार-दोषसे वाक्यके कठोर बन जानेका हेतु महर्षि साथ ही सुझा रहे हैं—'रावणम्' प्रबल-दुर्बलका विचार न कर जो सब जगत्को 'रुलानेवाला' है, उसके सामने शत्रुका बल वर्णन करना अवश्य ही उसे कठोर प्रतीत होगा । किन्तु विभीषण-के लिये भी महर्षि विशेषण देते हैं 'रावणानुजः' रावणका सामना करनेवाला भी कोई सत्त्व-प्रधान व्यक्ति ही होना चाहिये । वह उस पराक्रमीके छोटे भाई ही तो थे । इसलिये सत्त्वाधिक्यके कारण अपना वक्तव्य उन्होंने अच्छी तरह कह दिया । दूसरे उनको तो 'हितम्' हित कहना था । इसलिये इसमें डरनेकी भी कोई बात न थी । 'रावणानुजः' छोटे भाई होकर ज्येष्ठ भ्राताको समझा रहे थे, यह शङ्का भी हट जाती है । क्योंकि हित-कथनमें

ज्येष्ठ होना ही आवश्यक नहीं। मनु तो कहते हैं—महर्षि आङ्गिरस बालक ही थे। उन्होंने अपने पिताओंको पढ़ाया और पढ़ाते समय ज्ञानवृद्ध होनेके कारण उनको 'पुत्रो!' यह सम्बोधन किया।

'पितॄनध्यापयामास शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रकानिति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥'

स्मृति तो यहाँतक कहती है कि—'अज्ञ पुरुषको बालक, और मन्त्र देनेवालेको पिता कहना चाहिये।'

'अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव च मन्त्रदम्।'

अब आता है 'आजगाम'। जब लङ्कासे विभीषण श्रीरामके पास गये थे तब 'जगाम' (गये) यों कहना चाहिये; आनेका क्या प्रसङ्ग? जहाँ-जहाँ ऐसा प्रसङ्ग आया है वहाँ महर्षि 'जगाम' ऐसा ही कहते आये हैं। और तो क्या, भगवान् श्रीरामचन्द्रके विषयमें भी कहते आ रहे हैं 'जगाम मनसा सीताम्' फिर यहाँ 'आजगाम' कहाँसे आजगाम (आया?) सुनिये—

महर्षि दिखलाते हैं कि विभीषण दैवजीव थे। वह तो लङ्कासे वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं रखते थे। सदा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंको ही अपना घर समझते आ रहे थे। और घर आनेमें सदा यों ही कहा जाता है कि हम कल रात्रिको दस बजे घर आये, न कि गये। कहावतमें भी यों ही कहा गया है कि 'सबेरेका भूला शामको भी घर आ जाय तो भूला नहीं कहलाता।' भक्त भगवान्की ही विभूति हैं। भगवान् ही उनका

आश्रय है। आश्रयके पास लौटनेमें आना ही कहा जायगा, जाना नहीं। इसीलिये तो 'शरणागति' शरणमें 'आगति' आना कहा जाता है न कि 'गति' जाना। इसी तात्पर्यसे जानेके प्रसङ्गमें भी महर्षि कहते हैं 'आजगाम'।

'आजगाम' के साथ कहा है 'मुहूर्तेन'। क्या विभीषण ज्योतिषियोंसे मुहूर्त शोधन करवाकर चले थे? नहीं नहीं। इसका अर्थ है, मुहूर्तमात्रमें, जल्दीसे। इसके द्वारा भगवद्भक्त विभीषण-की मानसिक अवस्थाका सूचन किया है। वह चिरकालसे भगवान् श्रीरामचन्द्रके दर्शनके लिये उत्सुक हो रहे थे। उनको बड़ी उतावली लग रही थी कि कब लङ्कासे छुटकारा पाऊँ और भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करूँ। वह जब दुबारा रावणको समझाने उसके महलमें गये थे तो भीतर-ही-भीतर यह भी धुकड़-पुकड़ लग रही थी कि अब यदि समझानेसे लङ्कापति रास्तेपर आ गये तो श्रीरामचन्द्र-चरण-दर्शन नहीं हो सकेगा। खैर, ज्येष्ठ भ्राताका तो कल्याण होगा। मैं मनके द्वारा तो चरणोंकी शरणागति स्वीकार कर ही चुका हूँ। फिर और कोई उचित अवसर देखकर शरणमें चला जाऊँगा। किन्तु जब रावणने उचित सलाहको ठुकरा दिया और विभीषणका घोर अपमान किया, उस समय उन्हें लङ्का छोड़ना निश्चित करना पड़ा। अब उन्हें भगवच्छरणमें जानेके बीचका विलम्ब कैसे सहन होता?

जैसे ही प्रातःकाल हुआ कि बछड़ा देखता रहता है कि कब दोहनेका समय आवे और मैं माताके पास पहुँचूँ और स्तन-

ज्येष्ठ होना ही आवश्यक नहीं। मनु तो कहते हैं—महर्षि आङ्गिरस बालक ही थे। उन्होंने अपने पिताओंको पढ़ाया और पढ़ाते समय ज्ञानवृद्ध होनेके कारण उनको 'पुत्रो!' यह सम्बोधन किया।

'पितॄनध्यापयामास शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रकानिति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥'

स्मृति तो यहाँतक कहती है कि—'अज्ञ पुरुषको बालक, और मन्त्र देनेवालेको पिता कहना चाहिये।'

'अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव च मन्त्रदम्।'

अब आता है 'आजगाम'। जब लङ्कासे विभीषण श्रीरामके पास गये थे तब 'जगाम' (गये) यों कहना चाहिये; आनेका क्या प्रसङ्ग? जहाँ-जहाँ ऐसा प्रसङ्ग आया है वहाँ महर्षि 'जगाम' ऐसा ही कहते आये हैं। और तो क्या, भगवान् श्रीरामचन्द्रके विषयमें भी कहते आ रहे हैं 'जगाम मनसा सीताम्' फिर यहाँ 'आजगाम' कहाँसे आजगाम (आया?) सुनिये—

महर्षि दिखलाते हैं कि विभीषण दैवजीव थे। वह तो लङ्कासे वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं रखते थे। सदा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंको ही अपना घर समझते आ रहे थे। और घर आनेमें सदा यों ही कहा जाता है कि हम कल रात्रिको दस बजे घर आये, न कि गये। कहावतमें भी यों ही कहा गया है कि 'सबेरेका भूला शामको भी घर आ जाय तो भूला नहीं कहलाता।' भक्त भगवान्की ही विभूति हैं। भगवान् ही उनका

आश्रय है। आश्रयके पास लौटनेमें आना ही कहा जायगा, जाना नहीं। इसीलिये तो 'शरणागति' शरणमें 'आगति' आना कहा जाता है न कि 'गति' जाना। इसी तात्पर्यसे जानेके प्रसङ्गमें भी महर्षि कहते हैं 'आजगाम'।

'आजगाम' के साथ कहा है 'मुहूर्तेन'। क्या विभीषण ज्योतिषियोंसे मुहूर्त शोधन करवाकर चले थे? नहीं नहीं। इसका अर्थ है, मुहूर्तमात्रमें, जल्दीसे। इसके द्वारा भगवद्भक्त विभीषण-की मानसिक अवस्थाका सूचन किया है। वह चिरकालसे भगवान् श्रीरामचन्द्रके दर्शनके लिये उत्सुक हो रहे थे। उनको बड़ी उतावली लग रही थी कि कब लङ्कासे छुटकारा पाऊँ और भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करूँ। वह जब दुबारा रावणको समझाने उसके महलमें गये थे तो भीतर-ही-भीतर यह भी धुकड़-पुकड़ लग रही थी कि अब यदि समझानेसे लङ्कापति रास्तेपर आ गये तो श्रीरामचन्द्र-चरण-दर्शन नहीं हो सकेगा। खैर, ज्येष्ठ भ्राताका तो कल्याण होगा। मैं मनके द्वारा तो चरणोंकी शरणागति स्वीकार कर ही चुका हूँ। फिर और कोई उचित अवसर देखकर शरणमें चला जाऊँगा। किन्तु जब रावणने उचित सलाहको ठुकरा दिया और विभीषणका घोर अपमान किया, उस समय उन्हें लङ्का छोड़ना निश्चित करना पड़ा। अब उन्हें भगवच्छरणमें जानेके बीचका विलम्ब कैसे सहन होता?

जैसे ही प्रातःकाल हुआ कि बछड़ा देखता रहता है कि कब दोहनेका समय आवे और मैं माताके पास पहुँचूँ और स्तन-

पान करूँ। जैसे ही गौको चरनेके लिये छोड़नेका समय आया और दुहनेवाला दुहाली (दोहनी) लेकर पास आने लगा कि बच्छा अपने खूँटेसे बँधा ही खुलनेके लिये तड़फड़ाने लगता है। रस्सीको खूँटेसे खोलते समय तो वह यहाँतक खींचातान मचाता है कि ग्वाला भी तंग आ जाता है। आप ही देखिये—जैसे ही रस्सी खुली कि वह माताके पास पहुँचने-तक रास्तेमें कितना समय लगाता होगा ? उस समय रास्तेकी चीजोंपर उसकी दृष्टितक नहीं पड़ती। वह एकदम दौड़कर, माताके स्तनतक पहुँचकर ही दम लेता है। ठीक इसी तरह विभीषणको भी हड़बड़ाहट लग रही थी कि कब दूसरे पार पहुँचूँ और भगवान्‌का दर्शन करूँ। जो मनसे भगवान्‌के भक्त हुआ करते हैं, उन्हें भगवद्-विमुखोंका सङ्ग कितना अखरता होगा, यह अपने आप सोचनेकी बात है, समझानेकी जरूरत नहीं। किन्तु वह सङ्ग निपट परवश रहनेके कारण मन मारकर सहना ही पड़ता था। परन्तु जब वहाँसे छुटकारा मिल रहा है, तब देरी कैसी ? जिस तरह जलते हुए अँगारोंके मार्गमें पैर रखना जितना ही कम हो उतना ही अच्छा, उसी तरह मार्गमें जितने पैंड कम रखने पड़ें उतना ही अच्छा, यह विभीषणकी लालसा थी। भक्तोंके विषयमें क्या अच्छा कहा है—

'वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तरव्यवस्थितिः।
न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम्॥'

'अग्निकी लपटोंके अन्दर रहना अच्छा, किन्तु हरिविमुखोंके साथ निवास अच्छा नहीं, वह तो 'वैशस' है, बड़ी कठोरता है।'

इसीलिये विभीषणके हृदयकी व्याकुलताको सूचन करनेवाली जल्दी-को प्रकाश करनेके लिये महर्षि कहते हैं—'मुहूर्तेन ।'

आगे कहते हैं 'यत्र रामः' जहाँ राम थे (वहाँ आये)। कहना चाहिये 'रामम् आजगाम' रामके पास पहुँचे। जहाँ शरणागतिका निरूपण किया जा रहा है, वहाँ 'शरण' जो भगवान् उनके पास 'आगति' यों साक्षात् भगवान्का उपसर्पण ही वर्णन किया जाता है। फिर यहाँ 'यत्र रामः' कहकर रामके निवास-देशका अड़ंगा बीचमें क्यों लगाया? इसका भी तात्पर्य है—विभीषण भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका मन-ही-मन ध्यान करते हुए इतने अनुरक्त हो गये थे कि चित्तमें सोचते आ रहे थे—'अहा! वह (स्थान) कितना पवित्र है, जहाँ भगवान् इस समय विराज रहे हैं।' अतएव उनकी दृष्टिमें श्रीरामकी अपेक्षा भी उनके चरणार-विन्दोंसे पवित्र हुए उस स्थानका बड़ा सम्मान था। भक्तगण भगवच्चरणार्चित स्थानको दूरसे देखकर ही गद्गद हो उठते हैं। आहा—

'सुभगश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजोपमो गिरिः।
यस्मिन्वसति काकुत्स्थः कुवेर इव नन्दने॥'

'समस्त पर्वतोंमें राजाके समान इस चित्रकूटका बड़ा सौभाग्य है, जहाँ नन्दनवनमें कुवेरकी तरह भगवान् श्रीरामचन्द्र निवास करते हैं।'

अथवा—लङ्कानिवासके 'वैशस' से घबराये हुए विभीषण जल्दी-जल्दी उड़े आ रहे थे। उन्हें समुद्रकी लम्बाई इस समय बेढब खटक रही थी। किन्तु जैसे ही श्रीरामचन्द्रजीके निवास-स्थान-

की सीमापर पहुँचे कि उन्हें शान्ति मिल गयी। इसलिये उन्हें तो श्रीरामचन्द्रजीके निवाससे पवित्र हुआ वह देश ही बड़ा अच्छा लग रहा था। अतएव उनके हृदयानुसार महर्षिने कहा—'यत्र रामः।'

किंवा—रामके पास पहुँचना ही अभी कहाँ? कोसलराजाधिराज भगवान् श्रीरामचन्द्र इस समय विचारसभा एकत्रकर युद्धके विषयमें अत्यन्त गुप्त और गभीरतम विचार कर रहे हैं। चारों ओर बड़े-बड़े वानर-चमूपति शिविरका खड़ा पहरा दे रहे हैं। किसीको अन्दर जानेकी आज्ञा नहीं। नये आये विभीषणको 'रामम् आजगाम' यों कहवाकर रामके पास पहुँचनेका अवसर कौन देगा? वह तो आगे जाकर राम-दरबारकी ड्योढ़ीपर पहुँचकर पहरेदारोंसे स्वयं अपनी अर्जी पहुँचवाते हैं—

'निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्॥'

'प्राणिमात्रको आश्रय देनेवाले महात्मा श्रीरामचन्द्रजीको जल्दीसे सूचित कर दीजिये कि यह विभीषण उपस्थित हुआ है।' यह अक्षरार्थमात्र है। इसका वास्तविक तत्त्व शरणागतिमें आगे आवेगा।

वह आकाशसे नीचे उतरे, उसके पहले ही अपने अङ्गीकारके विषयमें सङ्कल्प-विकल्प कर ही रहे थे कि सुग्रीवने इन्हें देखनेमात्रमें ही शत्रु-पक्षका समझकर ठौर-की-ठौर ठण्डा कर देनेका विचार कर लिया। विभीषण भी इस बातको नहीं समझते थे, सो नहीं था। वह भी जानते थे कि मेरा अङ्गीकार कर लेना

सहज तो है नहीं। सुग्रीव-सरीखे विक्रान्त वीर मुझे देखते ही उबल पड़ेंगे। परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्रकी दयालुताका दृढ़ विश्वास अटलरूपसे उनके हृदयपर जमा हुआ था। इसलिये शिविरमें पहुँचते ही यकायक साक्षात् श्रीरामचन्द्रके पास ही अपने नामका 'जुबानी विजिटिंग कार्ड' पहुँचा दिया—'विभीषण-मुपस्थितं राघवाय निवेदयत।' अब जबतक भीतर आनेकी परवानगी न मिले तबतक उस शिविरदेशमें ही तो ठहरना पड़ा था। इसलिये यह धुकधुकी लिये ठहरना जिस देश (स्थान) में हो रहा था, उसीको प्रधानतया निर्देश करते हुए वाल्मीकि कहते हैं—'यत्र रामः तत्राजगाम।'

यहाँ एक गूढ बात और रह गयी। वैयाकरण पण्डितोंके इसपर कई दाव-पेंच चल सकते हैं। 'यत्र रामः' यों खाली कर्तृपद कह दिया, क्रिया नहीं। 'यत्र न्यवसत्' (रहते थे) 'सैन्यसंनिवेशमकरोत्' (कैंप डाले हुए थे) किंवा 'सभामध्यतिष्ठत्' (सभा कर रहे थे) इत्यादि कुछ तो क्रियापदका निर्देश होना चाहिये था। वास्तवमें यह शङ्का ठीक है। किन्तु महर्षि इस समय शरणागतिके लिये आते हुए विभीषणके हृदयका चित्र खींच रहे हैं। किसी भी बड़े आदमीके पास आनेवाला पुरुष पहले उसका समय और कार्य देखता है कि वह क्या कर रहे हैं। इस समय मुझे मिलनेकी आज्ञा दी जा सकेगी कि नहीं। किन्तु विभीषणको भगवान्की दयालुताका दृढ़ विश्वास हो चुका है जो शरणागतिमें अत्यन्त आवश्यक है। वह जानते हैं कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कुछ भी कर रहे हों, जहाँ आपको मालूम हुआ कि

मेरी शरण चाहनेवाला दीन आया है, वहीं आपका चित्त दयार्द्र हो उठता है। फिर आपसे विलम्ब सहा नहीं जाता। शरणागति-रहस्यमें स्वयं भगवान् आज्ञा करेंगे —

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥'

'जो एक बार भी मनसे मेरी शरण आ जाता है, 'मैं आपका हूँ' यह मुखसे कह देता है, उसे मैं प्राणिमात्रसे अभय दे देता हूँ। यह मेरा व्रत है। व्रत जिस तरह छोड़ा नहीं जाता, छोड़नेपर अपराधभागी होना पड़ता है, इस तरह मैं भी इस अपने नियमको नहीं छोड़ सकता।' यह अक्षरार्थ है। इसका भी रहस्य आगे आवेगा।

यह भगवान्‌का स्वभाव दैवजीव विभीषण अच्छी तरह जानते थे। और यह भी उन्हें मालूम था कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको मालूम होनेके पहलेतक मेरे ऊपर जो भी सन्देह लोगोंको होंगे, हो सकते हैं। यहाँतक कि मेरा तिरस्कार, वधतक हो सकता है, किन्तु भगवान्‌को जहाँ विदित हुआ कि कोई शरणागत खड़ा है वहाँ मुझे फिर कोई भय नहीं। इसीलिये आकाशमें खड़े रहकर बड़े ऊँचे स्वरसे (जिससे स्वयं भगवान् श्रवण कर लें) वह सूचना देते हैं—'निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने। सर्वलोक-शरण्याय' सब लोगोंको आश्रय देनेवाले महात्मा श्रीरामचन्द्रजीको जल्दी मेरी खबर कर दीजिये' यहाँ 'सर्वलोकशरण्याय' कहनेसे स्पष्ट प्रकाशित कर दिया कि 'आप सबको शरण देते हैं।' जहाँ

आपने 'शरण' शब्द सुना कि फिर उसकी पुकार सुननेमें विलम्ब नहीं करते। इसलिये 'शरण्यके पास शरणागत आया है' यह सूचितमात्र कर दीजिये। फिर मेरी पहुँच अपने आप हो जायगी। चाहे श्रीमान् कुछ ही करते हों। श्रीरामचन्द्रकी सत्तामात्र (वहाँ मौजूद रहनामात्र) अपेक्षित है। बस, इसीलिये यहाँ और क्रिया-पद न लगाकर 'यत्र रामः' यों केवल कर्तृपद ही दिया। सत्ता-वाचक क्रियापदका तो अपने आप ऊपरसे आक्षेप हो जाता है—'यत्र काचिदपि क्रिया नास्ति तत्र अस्ति भवतीत्याद्याक्षिप्यते' 'जहाँ और कोई क्रिया नहीं रहती वहाँ 'है' इत्यादि सत्ताद्योतक क्रिया जोड़ दी जाती है।'

'यत्र रामः' के आगे रामका एक विशेषण दिया है 'सलक्ष्मणः' लक्ष्मणसहित। यहाँ शुद्ध साहित्यज्ञ पण्डित तो कदाचित् अपने शास्त्रके अनुसार 'साहचर्य' का अनुगम जोड़ें कि लक्ष्मण-पदके साहचर्यसे 'राम' पदका राघव ही अर्थ है, परशुरामादि नहीं। परन्तु यहाँ विभीषणका अभिप्राय कुछ गूढ़ है। अपने मतलबकी ओर झुकता हुआ है। वह कहते हैं—मैं शरण चाहनेवाला होकर राम-दरबारमें हाजिर हुआ ही हूँ और भगवान् श्रीरामचन्द्र भी शरणागतका अङ्गीकार करनेवाले स्वयं ही हैं। किन्तु यह सब अबतक भगवान्के दयालुत्वपर ही निर्भर करता है। भगवान् शरणागतको अभय देते हैं यह रिआयत भगवान्की तरफसे ही दी हुई है। मेरा तो इसमें कुछ पुरुषार्थ नहीं। किन्तु वह व्यङ्ग्य-मर्यादासे सूचित करते हैं—नहीं, मेरी तरफसे भी उद्योगका द्वार है। भगवान् अकेले थोड़े ही विराजे हैं, 'सलक्ष्मणः' सौमित्रेय

श्रीमान् लक्ष्मण भी तो साथ हैं। सुमित्रानन्दन शरणागतोंकी दशाको जाननेवाले हैं। क्योंकि सर्वविभूतिसम्पन्न अयोध्या यहाँ-तक कि जननी और अपनी प्रियतमातकको छोड़कर वह भगवान्की चरणशरणमें रह रहे हैं। प्रथम तो भगवान्की दयासे कोई 'किन्तु' उपस्थित ही नहीं होगा। यदि कदाचित् मेरे ही दुर्दैवसे कोई सन्देह आ उपस्थित हो तो, श्रीलक्ष्मण, जो अत्यन्त दयालु हैं और साथ ही अपने आग्रहके पक्के भी हैं, मेरी वकालत कर सकते हैं। यकायक मामला डिसमिस नहीं हो सकता। इसी आशयसे महर्षि कहते हैं 'यत्र रामः सलक्ष्मणः।'

धर्मज्ञ विभीषणने ज्येष्ठ भ्राताको क्यों छोड़ा ?

शरणागतिका निरूपण हो, इसके पहले एक शङ्का यह आती है कि आप विभीषणको 'भक्त' और 'धर्मज्ञ' बताते हैं, फिर उन्होंने पिताके समान अपने बड़े भाईका सङ्कटके समय साथ कैसे छोड़ दिया ? आजकल प्रत्येक ग्रन्थमें पात्रोंके 'चरित्र' को सँभालनेवाले करेक्टरके 'कलेक्टर' समालोचक महोदय साथ-ही-साथ रहते हैं। विशेषतः रामचरित्रपर तो आलोचनाओंका स्रोत अनन्त-सा मालूम हो रहा है। कोई लक्ष्मणपत्नी 'उर्मिला' को वाल्मीकिने भुला दिया, कहते हैं। कोई भगवान् श्रीरामको कूटनीतिज्ञ और भरतको उदारचरित सिद्ध करते हैं। अस्तु, यहाँ इस प्रसङ्गको नहीं लेना है, किन्तु चरित्रके आधारको पकड़कर यह उन लोगोंकी शङ्का जोरदार-सी मालूम होती है कि विभीषणका चरित्र ठीक धार्मिकके-जैसा नहीं मालूम होता। वह राक्षसकुलोत्पन्न थे इसलिये हजार

अच्छे होनेपर भी उनसे धर्मानुगमन नहीं हो सका, यह भी उत्तर नहीं हो सकता। क्योंकि स्वयं महर्षिने विभीषणको अपने पितामह विश्रवाका वरदान दिलाया है कि 'इसको धर्मतत्त्व मालूम होंगे।' जगह-जगह उनकी प्रशंसा भी रामायणमें आती है—'विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षसचेष्टितः' 'विभीषण धर्मात्मा थे, उनकी चेष्टा राक्षसोंके समान न थी।' फिर यह किसके समान चेष्टा हुई कि बड़े भाईको मृत्युमुखमें जाते देखकर भी मदद देना तो दूर रहा, उसको छिटकाकर चले गये ?

बड़ा भाई पिताके समान होता है यह केवल शास्त्रानुरोध ही न था। जन्मसे रावणके आश्रयमें वह पले भी तो थे। फिर अपने पोषकको सङ्कटके समय छोड़कर चले जाना किसकी-सी चेष्टा है ? पोषकको भी तो पिताके समान ही माना जाता है। अगर भाईको छोड़ भी दिया था तो कम-से-कम अपने बड़े भाईके शत्रुसे तो जा मिलना उचित न था। शत्रुसे जा भी मिले थे तो अपने भाईका स्थान तो स्वीकार नहीं करना था। खैर, सोनेकी लङ्का-जैसे स्थानका ही इतना लोभ छातीपर चढ़ बैठा था तो कम-से-कम इतना तो न करते जो अपने बड़े भाई और उसके कुटुम्बके मरनेके सब उपाय स्वयं चला-चलाकर बतलाते। इस विषयमें उनका चरित्र तो यहाँतक सर्टीफिकेट पा चुका है कि आजतक भी यह कहावत जारी है—'घरका भेदी लङ्का ढावै।'

ठीक है। आपकी शङ्का है कि धर्मात्मा होकर भी विभीषणने अपने आवश्यक धर्मका त्याग कैसे किया ? और वह

धर्मत्याग उचित कोटिमें कैसे गिना गया ? इस धर्मकी शङ्काका धर्मसे ही समाधान सुनिये—

जिस धर्मकी आप दुहाई देते हैं, उसीमें कहा है कि—

'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥'

'जो पिता या गुरु, घमण्डके कारण कार्य-अकार्यको नहीं जाने, फिर केवल अज्ञान ही नहीं, खोटे रास्तेपर चलने भी लग जाय तो धार्मिक पुरुषको उसका परित्याग कर देना चाहिये।' यहाँ 'विधीयते' कहा है अर्थात् परित्याग कर देना ही विधिवाक्य है। इस फैसलेकी नजीर भी पहलेकी मौजूद है। ध्रुव, प्रह्लाद आदिने सौतेली माता और सगे पिताका साथ कहाँ दिया था ?

भक्तिसम्प्रदाय ही क्यों, धर्मशास्त्रकी व्यवस्थानुसार भी समाधान सुनिये—

आप जान चुके हैं कि विभीषणको पितामहके वरदानसे ज्ञान, विज्ञान, सब धर्मका तत्त्व मालूम था। उन्होंने विज्ञानदृष्टिसे जान लिया था कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सर्वलोकशरण्य, सर्वलोकेश्वर साक्षात् नारायण ही हैं। भक्तोंके उद्धारार्थ अवतार लेकर यहाँ पधारे हैं। मन्दोदरी आदिको भी यह अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो चुकी थी। धर्मतत्त्वोंका यथावद्विवेक करनेवाले विभीषण जानते थे कि सामान्य धर्मकी अपेक्षा विशेष धर्म प्रबल हुआ करता है। ज्येष्ठ भ्राताका अनुवर्तन करना यह शास्त्रोक्त सामान्य धर्म है। सबके लिये लागू है। जो कार्य त्रैवर्गिक फल अर्थात् धर्म-अर्थ-

काम इनके साधनभूत हुआ करते हैं वह सामान्य धर्मके अन्तर्गत गिने जाते हैं। ज्येष्ठ भ्राताके अनुगमन करनेसे धर्म-सिद्धि होकर, तद्द्वारा उत्तम अदृष्ट बनकर, फिर उसके साधकको परमात्माका लाभ होगा। यों परम्परासे परमात्माके आराधनमें यह (ज्येष्ठ भ्राताका अनुवर्तन) सहायक होगा। और तो क्या, इसके द्वारा यदि मोक्ष भी हो जाय तो भी यह परमात्माकी उपासनाका एक अङ्ग ही गिना जायगा। इसके विरुद्ध, भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शरणमें जाना तो साक्षात् परमात्माराधन है, इसलिये यह विशेष धर्म हुआ। क्योंकि यज्ञादि करना जो धर्मकोटिमें गिना जाता है, उसको करके भी लोग यही चाहते हैं कि सर्वेश्वर भगवान् प्रसन्न हों। फिर यहाँ जब साक्षात् भगवान्का ही सेवन हस्तगत है, तो फिर सामान्य धर्मके पीछे कौन पड़े ?

सामान्य धर्मका अनुष्ठान शास्त्रोक्त है। उसका पालन अवश्य करना चाहिये। किन्तु जहाँतक वह सामान्य धर्म विशेष धर्मका विरोधी न हो, वहींतक। अर्थात् अविरोधदशामें दोनोंका सेवन करना शास्त्रोक्त है। परन्तु जब सामान्य धर्म विशेष धर्मका विरोधी हो पड़े, उस समय उसका त्याग कर देना ही शास्त्रकी अनुमति है। विभीषण कष्ट पाते हुए भी, मन मारकर भी, लङ्कामें रह रहे थे। अर्थात् ज्येष्ठ भ्राताके अनुवर्तनरूप सामान्य धर्मका सेवन कर रहे थे। जिस समय सागरतटपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका पधारना सुना, उस समय वह सोच रहे थे कि देखें ज्येष्ठ भ्राताका अनुवर्तन करते हुए भी मुझे श्रीरामचन्द्रजीकी शरणमें जानेका अवसर मिलता है कि नहीं ? इसी आशासे

उन्होंने रावणको बहुत कुछ समझाया। अपमान सहकर भी, भय-प्ररोचना देकर भी, इस सङ्कटसे बचानेका बार-बार प्रयत्न किया। किन्तु जब देख लिया कि यह भगवान्‌की ही इच्छा है कि रावणको हितमार्ग इस समय नहीं दीखता। आसुर-प्रकृति होनेके कारण यह कलुषभाव इसके हृदयसे नहीं जा सकता। तब लाचार होकर वहाँसे हट जाना ही उनको कल्याणकर प्रतीत हुआ। यों विशेष धर्मके साथ विरोध होनेपर ही सामान्य धर्म छोड़ा गया है। यह सभी जानते हैं कि सामान्यकी अपेक्षा विशेष बलवान् हुआ करता है।

और भी देखिये—सबसे पहले मनुष्य अपनी आत्माका भला सोचता है। जिस समय घरमें आग लग जाती है, उस समय अपनी सारी प्यारी चीजोंको छोड़कर मनुष्य एकदम घरसे बाहर निकल खड़ा होता है। यहाँतक कि पुत्र-पत्नीतककी फिक्र पीछे होती है। पहले आप अपनेको बचाता है, फिर चाहे सर्वस्व देकर भी लोगोंसे मदद चाहे कि—'जो कोई मेरे पुत्रको मकानके अंदरसे निकाल लाये, उसे मैं इतने हजार वा लाख रुपये इनाम दूँगा।' किन्तु आप अपनी आत्माको आँच लाना नहीं चाहता। विस्तारकी जरूरत नहीं। बम्बई आदि प्रदेशोंमें ऐसे शतशः दृष्टान्त देखे गये हैं। ठीक है। पुत्र आदि भी अपने सुखके लिये ही प्रिय प्रतीत हुआ करते हैं—'आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति।' इसी तरह जब विभीषणने देखा कि रामसे वैर करके रावणका अकल्याण तो अवश्यम्भावी है, फिर मैं प्रभुका विद्वेषी बनकर क्यों आत्मनाश करूँ?

अब जो यह कलङ्क लगाया जाता है कि 'राज्यकी लालसा-से रामके पास गये' यह भी रामायणसे तो सिद्ध नहीं होता। शरणागतिके समय 'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः' (मैं स्त्री-पुत्रादि सब कुछ छोड़कर श्रीरामचन्द्रकी शरणमें आया हूँ) यों अन्य विषयका वैराग्य स्वयं विभीषण कण्ठरवसे कहते हैं। बल्कि जिस समय श्रीरामचन्द्रकी शरणमें जाकर प्रार्थना करने लगे, उस समय यही कहा कि 'मैं तो सर्वविध पुरुषार्थ आपमें ही समर्पण कर चुका हूँ। आप ही मेरे राज्य हैं। आप ही मेरे जीवित हैं। आप ही मेरे सुख हैं। मैं तो लङ्का, सुहृत्, सम्बन्धी तथा धनादि सब कुछ छोड़ चुका हूँ।'

'परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च।
भवद्गतं मे राज्यं च जीवितं च सुखानि च॥'

फिर यह किस तरह कहा जाय कि राज्यके लोभसे वह श्रीरामके पास गये थे और यह पहलेसे माल्रम भी कहाँ था कि श्रीरामचन्द्र जाते ही मुझे लङ्काका राजा ही बना देंगे। उन्हें तो अपने अङ्गीकार कर लेनेतककी फिक्र पड़ रही थी।

हाँ, यह जरूर है कि विभीषणके नहीं चाहनेपर भी भगवान् श्रीरामचन्द्रने विना सोच-विचारके ही उन्हें लङ्काका राज्य दे दिया था। बात यह थी कि—विभीषणके पहुँचनेपर भगवान् श्रीरामने बातचीतका प्रसङ्ग छेड़कर विभीषणकी शङ्काको हटाना चाहा था। इसलिये वे उनसे लङ्का और राक्षसोंका वृत्तान्त पूछने लगे। विभीषणने एक-एकका ऐसा प्रभाव दिखलाया कि जिसकी

सीमा नहीं। इन्द्रजित्के लिये कहा कि वह जिस समय अच्छेद्य कवचको धारणकर, धनुष ले युद्धमें आता है, अदृश्य हो जाता है। उसे अग्निका वरदान है। वह अन्तर्हित हुआ ही सबको मार डालता है। प्रहस्तके लिये कहा कि उसने कुबेरके सेनापति मणिभद्रको कैलासमें ही पछाड़ दिया था। वही रावणका सेनापति है। अभिप्राय यह कि, उन्होंने रावणका वह प्रभाव बतलाया कि जो दूसरा होता तो लङ्काके फतह करनेकी आशा ही छोड़ बैठता। किन्तु जिस जोशसे विभीषणने रावणका बल-विक्रम वर्णन किया उसी स्वरमें श्रीरामचन्द्रने भी दिखलाया कि मुझपर इस प्रभावका कुछ भी असर नहीं हो सकता। मैं सब कुछ समझ गया हूँ। मैं उसी रावणको प्रहस्त और इन्द्रजित् प्रभृति बन्धुबान्धवोंसहित मारकर तुम्हें ही राजा बनाऊँगा, जिससे तुम्हें उसके उस प्रभावका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाय। मैं यह सत्य-सत्य कहता हूँ—

'अहं हत्वा दशग्रीवं सप्रहस्तं सबान्धवम्।
राजानं त्वां करिष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते॥'

इसके पहले विभीषणने कोई बातचीत ही नहीं की थी कि जिससे राज्य-प्रार्थना जानी जाती। भगवान् श्रीरामचन्द्रने ही अपनी तरफसे विभीषणको लङ्काका राज्य दे डाला। यहींतक ही नहीं, श्रीकोसलेन्द्रने सुमित्रानन्दनको तत्काल हुकुम भी दिया कि इसी समय राज्याभिषेक भी हो जाना चाहिये। समुद्रमें सब नदियाँ मिलती हैं, इसलिये इसीके जलसे अभी राज्याभिषेक हो जाना उचित है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् विभीषणको यह दिखाना चाहते हैं कि तुम रावणका इतना प्रताप

बतलाते हो किन्तु मैं उसके प्रभावको कितना समझता हूँ, यह यों ही समझ लो कि मैं पहलेसे ही तुम्हें लङ्काका राज्यतक दे देता हूँ इसीलिये तो 'करिष्यामि' (करूँगा) कहकर, फिर सोचते हैं 'शायद विभीषणको भविष्यत्पर भरोसा न हो' अतएव उसी समय अभिषेक भी कर देते हैं। यह रावण-प्रभावको 'न किञ्चित्' दिखानेके लिये ही है, विभीषणकी लालसासे जल्दी नहीं है।

बात तो यह है कि जब विभीषण श्रीरामचन्द्रजीकी शरणमें आ चुके और उनपर भगवान्‌का अनुग्रह हो चुका तो बेचारी लङ्काका ही राज्य क्या, सम्पूर्ण त्रैलोक्यका राज्य उनके नीचे था। भगवान्‌की प्रसन्नता होना ही कठिन है, फिर राज्य-भोगादि तो क्या, यावन्मात्र वैभवकी उपलब्धि अपने-आप हो जाती है। परन्तु भक्त उसपर नजरतक नहीं डालते। समुद्रका प्रवाह जब किसी तरफ चल निकलता है तब क्या वह रास्तेमें आये हुए वृक्षादिको चलाकर बहा ले जानेकी चेष्टा थोड़े ही करता है। वह तो अपने-आप टूट-टूटकर बहते चले जाते हैं। इसी तरह जब भगवान्‌की प्रीतिका प्रवाह किसी भाग्यवान्‌के अभिमुख हो जाता है तब त्रैलोक्यकी विभूति अपने-आप उसके पीछे-पीछे चली आती है। क्या अच्छा कहा है—

'आयुरारोग्यमर्थांश्च भोगांश्चैवानुषङ्गिकान्।
ददाति ध्यायतां नित्यमपवर्गप्रदो हरिः॥'

'भगवान् तो पुनः पुनर्जन्म-मरणरूप भवबन्धसे छुड़ानेवाले हैं, वह अपने भजन करनेवालोंको दीर्घायु, नीरोगता तथा अर्थ

और काम-भोगोंको आनुषङ्गिकरूपसे अपने-आप दे डालते हैं' फिर विभीषण चलकर लङ्काका राज्य क्यों माँगने लगे ?

बल्कि जिस समय श्रीरामने 'राजानं त्वां करिष्यामि' कहकर लङ्काका राज्य उन्हें दिया, उस समय उसका प्रतिवचन न देकर विभीषणने सेवा करनेके अधिकारकी ही प्रार्थना की। कहा कि— 'हे प्रभो! मैं लङ्काके प्रधर्षणमें आपकी सहायता करूँगा और जबतक प्राण हैं सेनाका सञ्चालन करूँगा।'

'राक्षसानां वधे साह्यं लङ्कायाश्च प्रधर्षणे।
करिष्यामि यथाप्राणं प्रवक्ष्यामि च वाहिनीम्॥'

उत्तरकाण्डमें तो स्पष्ट दिखलाया है कि विभीषणकी लङ्का-राज्य-स्वीकारकी जरा भी इच्छा न थी। श्रीरामचन्द्रजीने अपनी मित्रताकी शपथ देकर जबरदस्ती उनसे राज्य स्वीकार कराया है—

'यावत्प्रजा धरिष्यन्ति तावत्त्वं वै विभीषण।
राक्षसेन्द्र महावीर्य लङ्कास्थस्त्वं धरिष्यसि॥
शापितस्त्वं सखित्वेन कार्यं वै मम शासनम्।
प्रजाः संरक्ष धर्मेण नोत्तरं वक्तुमर्हसि॥'

'तुम मुझसे यदि मित्रता रखते हो तो उसीकी तुम्हें शपथ है। और यदि तुम मुझे बड़ा समझते हो तो मेरी आज्ञा तुम्हें माननी पड़ेगी। तुम धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा स्वीकार करो। अब इसका कुछ उत्तर सुननेका मैं अवकाश देना नहीं चाहता।'

श्रीरामचन्द्रजीने धर्म-स्थापनार्थ अवतार लिया है, यह वह जानते थे। जब श्रीरामकी ही धर्म-राज्य चलानेकी आज्ञा हो गयी

तब उन्हें लाचार चुप होना पड़ा । फिर यह भी तो उन्हें विचार था कि जिस लङ्कामें भगवद्विमुख ही जीव रहते आये हैं वह यदि किसी तरह सन्मार्गपर आ जाय तो कितनोंका उद्धार हो जायगा । श्रीराम यदि अपनी मित्रताकी ही शपथ दिलाते तो भी विभीषण शायद टाल देते किन्तु जब 'कार्यं वै मम शासनम्' (मेरी आज्ञाका पालन करना पड़ेगा) कहा तब विभीषणसे जवाब नहीं बना । जो विभीषण श्रीरामको आरम्भसे ही अपने सर्वस्वके स्वामी मान चुके थे, उनकी आज्ञाका उल्लंघन वह कैसे करते ? यह स्वीकार लालचसे न था, किन्तु अपनेको भगवत्किङ्कर मानकर उनकी आज्ञाको शिरोधारण करना था ।

यही पितृ-त्यागका सवाल लक्ष्मणपर भी एक बार आ चुका है । वह जिस समय श्रीअयोध्यासे भगवान् श्रीरामचन्द्रकी सेवकतामें वनको जाने लगे तब कहा गया कि पिताको छोड़कर आपका जाना कैसे ठीक होगा ? उसपर श्रीसुमित्रानन्दनने कहा—

'अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये ।
भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः ॥'

'मैं महाराजमें अपना पितृभाव उपलक्षित नहीं करता । मेरे भ्राता समझिये, स्वामी समझिये, बन्धु समझिये, पिता समझिये, सब कुछ श्रीरामचन्द्र हैं ।'

श्रीसौमित्रेय श्रीरामके अनन्य भक्त थे । वह उनकी महिमाको जानते थे । इसलिये शरीर-सम्बन्धसे सोपाधिक पिता दशरथको छोड़कर निरुपाधिक सकल प्राणीमात्रके बन्धु श्रीरामसे ही आपने प्रार्थना की—

'अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानमकुतोभयम्।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते॥'

'मैं वनके रास्तेमें निर्भय होकर आपके आगे-आगे चलूँगा। आपके शयन करनेपर, जगनेपर आपकी सब सेवा करूँगा।'

यों श्रीरामचन्द्रकी परिचर्यारूपी फलकी ही लक्ष्मणने प्रार्थना की। श्रीरामने जब उन्हें अयोध्यामें ही छोड़नेका अभिप्राय प्रकट किया उस समय लक्ष्मणने आतुर होकर, जोरसे श्रीरामके चरण पकड़कर शरणागति स्वीकार की!

'स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः।'

यहाँ विभीषण भी सोपाधिक बन्धु अपने भ्राताको छोड़कर श्रीरामचन्द्रके दास्यभावकी आशासे ही शरणमें आये थे, यह स्पष्ट दीख रहा है। यही कारण है कि जब विभीषण उदास होकर रावणको खरी बात सुनाते हुए उसकी सभासे उठ खड़े हुए, उस समय महर्षि वाल्मीकि भी ध्वनि-मर्यादासे उनकी तारीफ़ करते हैं। वे उन्हें 'श्रीमान्' कहकर अभिनन्दन करते हैं—'अन्तरिक्षगतः श्रीमान्।' अन्यथा जो विभीषण 'परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च' (मैंने लङ्का, मित्र, धन सब छोड़ दिये हैं)। यों सब 'श्री' को छोड़कर जो आ रहे हैं वह कहाँसे 'श्रीमान्' हुए? पर नहीं, अबतक श्रीरामके प्रतिकूल संसर्गमें थे। आज उनके सम्मुख जानेके लिये वह आकाशमें चढ़ रहे हैं, इससे बढ़कर और कौन-सा सौभाग्य होगा? इसीलिये महर्षि प्रहृष्ट होकर बधाई देते हैं 'अन्तरिक्षगतः श्रीमान्।'

अन्यान्य स्थलोंमें भी महर्षि जहाँ-जहाँ प्रशंसा सूचित करना चाहते हैं, वहाँ उसका कुछ चिह्न रख देते हैं। जैसे—'स तु नागवरः श्रीमान्।' 'लक्ष्मणो लक्ष्मसम्पन्नः।'

इस तरह जब श्रीरामकी किङ्करता ही विभीषणका लक्ष्य है, तब उनपर अधर्मकी शङ्का कैसे ठहर सकती है?

वानरोंने विभीषणको आकाशमें देखा

पहले पद्यमें–दैन्य, दृढ़ विश्वास, आत्मसमर्पण आदि कल्याण-गुण शरणागतिके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। उनसे सम्पन्न, लङ्कानिवासरूप प्रतिकूल प्रपञ्चसे घबराये हुए दैवजीव विभीषण भक्तवत्सल भगवान्‌के भावी अनुग्रहकी प्रेरणासे लङ्काको छोड़कर 'यत्र रामः तत्र आजगाम'–'जहाँ श्रीरामचन्द्र विराजते थे, वहाँ आये' यह कहकर शरणागतिकी भूमिका आरम्भ की गयी।

आगे महर्षि कहते हैं—

'तं मेरुशिखराकारं दीप्तामिव शतह्रदाम्।
गगनस्थं महीस्थास्ते ददृशुर्वानरोत्तमाः॥'

'मेरुके शिखरकी तरह उन्नत, चमकती हुई बिजलीकी तरह कान्तियुक्त, आकाशमें स्थित उन विभीषणको भूमिमें स्थित उन वानरश्रेष्ठोंने देखा।'

ऊँचे पूरे थे, हृष्ट-पुष्ट थे, त्रैलोक्यविभवाधिष्ठाता लङ्केश्वरके भाई, भरी लङ्काको छोड़कर आ रहे थे इसलिये रत्नाभूषणादियुक्त भी थे, इन कारणोंसे तो 'मेरुशिखराकारम्' सुमेरुके शिखरसदृश कहना ठीक ही है, किन्तु सुवर्णमय सुमेरुके शिखरसदृश कहनेसे

यह भी ध्वनित होता है कि तपाया हुआ सोना ठंडे पानीमें बुझाया जाकर जिस तरह शीतलता प्राप्त करता है, वनाग्निसे तपा हुआ मेरुशिखर तापसे गलकर जिस तरह शीतल ह्रद (झील) में गिरना चाहता हो, इसी तरह सन्तप्त विभीषण शान्तिकी लालसासे इस तरफ आ रहे थे, अतएव महर्षिने कहा 'तं मेरुशिखराकारम् ।'

'मेरु' पदसे यह भी सूचित होता है कि विभीषण अबतक भगवान् श्रीरामचन्द्रके प्रतिपक्षसमूहमें थे, अतएव बालिवधादिसे प्रकट-पराक्रम भगवान् श्रीरामचन्द्रके सम्मुख स्थिरताकी आशा ही क्या थी ? कौन-सा भगवद्विरोधी स्थिर रह पाया है ? किन्तु अब 'यत्र रामस्तत्राजगाम' अर्थात् भगवान्के अभिमुख हुए हैं, इसलिये अब विभीषणको सब प्रकार स्थिरता मिल गयी । अस्थिरताकी कोई शङ्का न रही । पातालतक जड़ जम गयी । अतएव स्थिरतासे गगनमें स्थित हैं । इस बातको सूचित करते हुए महर्षि कहते हैं—'मेरुशिखराकारम्' । मेरुशिखरकी उपमासे यह भी ध्वनित करते हैं कि मेरुशिखर जिस प्रकार अचलतया कुछ करनेमें समर्थ नहीं, वैसे मैं भी यहाँ आ तो गया हूँ, पर मेरे पास कौन-सा ऐसा साधन है जिससे आपकी मुझे किङ्करता मिल जाय । मैं तो यहाँ आकर अचल स्थित हूँ । अब आपकी वत्सलता—दयालुताका ही भरोसा है । विभीषणके इस मनोभावको सूचित करते हुए कहते हैं—'मेरुशिखराकारम्' ।

मेरुशृङ्गाकार विभीषण श्रीरामके पास आये, इससे रावणकी तरफ शृङ्ग-भङ्ग और श्रीरामकी तरफ शृङ्ग-लाभ भी सूचित किया गया है।

इस प्रथम उपमासे विभीषणकी कान्ति सूचित हो चुकी थी, फिर भी दूसरी उपमा दी है 'दीप्तामिव शतह्रदाम्' 'चमकती हुई बिजलीके सदृश।' इससे यह तो सूचित होता ही है कि प्रतिकूल संसर्गसे व्याकुल हुए विभीषण श्रीरामकी शरणमें आनेके लिये आकाशमें इतनी तेजीसे चले आ रहे थे कि उनके शरीरकी कान्तिसे आकाशमें एक श्वेत प्रकाशकी लीक-सी बँध गयी थी। अतएव उनके लिये दूसरी उपमा देनी पड़ी 'जैसे चमकती हुई बिजली।' विभीषणमें स्वाभाविक तेज और रत्नाभूषणादिकी कान्ति तो थी ही और फिर वह आकाशमें आ रहे थे, तब बिजलीसे बढ़कर कौन-सी सुन्दर उपमा होती? तेज चलना बिजलीसे बढ़कर हो भी किसका सकता है? किन्तु 'तम्' इस पुँल्लिङ्गके साथ 'दीप्तामिव शतह्रदाम्' यों स्त्रीलिङ्ग बिजलीकी उपमा देना शायद कुछ लोगोंको खटके। पुराने कवियोंके प्रयोग देकर समाधान भी कर दिया जा सकता है कि तेजीके कारण आकाशमें कान्तिकी लीक-सी बाँधकर आनेमें दूसरी उपमा ठीक बैठती ही नहीं, फिर किया क्या जाय? परन्तु बिजलीकी उपमासे ध्वनिका जो प्रयोजन महर्षि सूचित करते हैं, वह बड़ा अद्भुत और अनुपम है। बिजलीमें तड़पन (कम्पविशेष) और शीघ्रता दोनों साथ-साथ रहती हैं। यहाँ भी 'ददृशुर्वानरोत्तमाः' वन्दरोंने विभीषणको जैसे ही देखा वैसे ही उन्हें शङ्का हुई कि ये लोग रामभक्त हैं, मुझ अपरिचितको उनके पास कब जाने देंगे। हाय, यहाँ आकर भी शरणमें पहुँचनेका सौभाग्य न मिला। यों विरहोज्जृम्भित एक तड़पन हुई। तथा अब बहुत शीघ्र इसका कोई उपाय होना

चाहिये, अन्यथा चैन कहाँ ? यह त्वरा । यह दोनों बातें विभीषणमें थीं, उन्हींको ध्वनित करनेके लिये महर्षि उपमा देते हैं—'दीप्ता-मिव शतह्रदाम् ।'

'तं गगनस्थं ददृशुः' 'आकाशमें स्थित उन्हें देखा ।' वह वानरचमूपति इतने सावधान होकर शिविर (कैंप) रक्षाका कार्य कर रहे थे कि नीचे उतरकर आना तो कैसा, जिस समय चले आ रहे थे और दूर (आकाशमें ही) थे, उसी समय अत्यन्त दूरसे ही उन्हें देख लिया, इसी तात्पर्यसे कहा—'गगनस्थम्' ।

वानरोंका विचार

अस्तु, विभीषण और उनके वे चारों अनुचर अभी आकाशमें ही थे कि—

> **'तमात्मपञ्चमं दृष्ट्वा सुग्रीवो वानराधिपः ।**
> **वानरैः सह दुर्धर्षश्चिन्तयामास बुद्धिमान् ॥'**

'महापराक्रमी और बुद्धिमान् वानरसेनापति सुग्रीव आत्मासे पाँचवें अर्थात् चार अनुचर और स्वयं पाँचवें उन विभीषणको देखकर वानरोंके साथ विचार करने लगे ।'

'दुर्धर्ष' पदका अर्थ है जो किसी प्रकार भी दबाया न जा सके । इस पदसे भी महर्षि विभीषणकी हृदयदशाका स्पर्श करते हैं । शरणागतवत्सल भगवान् श्रीरामचन्द्र आगे स्वयं आज्ञा करते हैं कि 'जो शरण आनेकी बुद्धिसे एक बार भी मेरी ओर आ जाता है उसे मैं अभय दे देता हूँ यह मेरा व्रत है ।' इस उद्धारदीक्षाका मैंने गंडा बँधवाया है । अतएव भगवान् श्रीरामचन्द्रके

पास तो रोक होनेका डर नहीं था, किन्तु सुग्रीवने तो अभय-दानदीक्षाका कङ्कण नहीं बँधवाया है। वह तो सेनापति हैं। अपना हो चाहे पराया। वह अपनी सेनाध्यक्षताकी ड्यूटीपर अविचल हैं। उन्हें डराकर दबा लेना तो दूर रहा, कोई रो-गाकर भी पिघला नहीं सकता। वह किसी भी लोभसे दबनेवाले नहीं।' अतएव शरणागतिके इस पुण्यमय पर्वपर आये हुए शरणाकांक्षीका भी अगर पीछे पैर हटानेवाला कोई है तो वह है सुग्रीव। क्योंकि उनके पास कोई दया-माया नहीं चलती। विभीषणके इसी करुणभावको सूचित करनेके लिये कहा—'दुर्धर्षः'।

कहते हैं, 'सुग्रीव' पद भी विशेष अभिप्रायको सूचित करनेके कारण बड़े सुन्दर अवसरपर आया है। साहित्यवाले तो 'परिकर' का 'अङ्कुर' खोज निकालें या 'निरुक्ति' का अलङ्कार जड़ दें। गगनस्थित विभीषणको देखनेके लिये शीघ्रतासे मस्तकको ऊँचा करके रामपरिचर्यामें सावधान, हितानुप्राणित वह जिस उत्सुकतासे देख रहे थे, उस दर्शन-व्यतिकरमें उनकी ग्रीवा बड़ी सुन्दर भङ्गीसे उठी हुई थी इसीलिये कहते हैं 'सुग्रीवः'।

इसका दूसरा विशेषण है 'वानराधिपः'। इसकी भी कुछ दूरसे 'ध्वनि' आ रही है। सुनिये—सेनाधिप। 'सेना' लड़ने-मारनेका साधन होनेके कारण सतर्कताका स्थान है। उसीका चाहे 'अधिप' क्यों न हो, पर है वह एक 'अधिप' ही। अतएव 'अफसर' होनेकी हैसियतसे उसके सब काम अधिकारोचित गाम्भीर्यसे ही होने चाहिये। परन्तु सुग्रीव हैं 'वानराधिप'।

जातिका गुण कहाँ जा सकता है ? अतएव बड़ी जल्दीसे उछलकर ऊपर देखने लगे। इसीसे कहा—'वानराधिपः'।

'अधिप' पदसे भी सूचित किया कि वानरसेना श्रीरामकी अत्यन्त प्रीतिपात्र है। महर्षिने इसके विषयमें कहा है—'राघवार्थे पराक्रान्ताः' वानर भगवान् श्रीरामके लिये जी-जानसे लड़े हैं, इसलिये भगवान् भी उन्हें अत्यन्त प्रणयभाजन मानते हैं। किन्तु यह उनके भी 'अधिप' हैं। अतएव यह भगवान्के और भी अधिक प्रीतिपात्र हैं। इसीलिये श्रीरामके हितानुचिन्तनमें अति सावधान होकर देख-भाल कर रहे हैं। अथवा—जो सेना भगवान् श्रीरामकी रक्षारूप परिचर्या करनेसे श्रीरामकी दृष्टिमें पूर्ण गौरव पा चुकी है उस सेनाकी भी अच्छी तरह रक्षा करनेवाले 'अधिकं पातीति' यही हैं। अतएव उस गौरवका सब श्रेय सुग्रीवको ही है। इसलिये अपनी बड़ी भारी जिम्मेवारी समझनेके कारण वह अति सतर्कतासे देख रहे थे इसीलिये कहा—'वानराणाम् अधिपः।'

'बुद्धिमान्'। सेनामें रात-दिन मार-काटके संसर्गसे वह केवल वीरताश्रय ही हों, सो नहीं, बुद्धिमान् भी थे। विभीषणका निर्भयतासे आगमन देखा, मुखपर भी एक उल्लास दिखायी दे रहा था जो प्रतिपक्षीमें नहीं हुआ करता। इन लक्षणोंसे वह जान तो गये थे कि यह निर्दोष हैं, किन्तु श्रीरामविषयक हित-चिन्ताके कारण उन्होंने अपने अधीनस्थ वानरोंके साथ इसपर फिर भी विचार कर लेना उचित समझा। इसीसे उनकी प्रशस्त बुद्धिको सूचित करते हुए महर्षिने कहा—'बुद्धिमान्।'

अस्तु । श्रीहनूमत्प्रमुख वानरोंसे यह बोले—

'एष सर्वायुधोपेतः कश्चिद्राक्षसः अस्मान् हन्तुमभ्येति, पश्यध्वम् ।'

सम्पूर्ण शस्त्रोंको लिये हुए यह कोई राक्षस हमलोगोंको मारनेके लिये सामने आ रहा है, देखो । यहाँ 'सर्वायुधोपेतः' पर पण्डितोंमें आयुध चल गये ! विभीषण सन्तप्त होकर शरण लेने आ रहे थे या श्रीरामसे दो-दो हाथ करने, जो सब हथियारोंसे सज-धजकर आये । स्वयं महर्षि भी पहले कह चुके हैं—'उत्पपात गदापाणिः' विभीषण गदा हाथमें लिये ही 'उत्पपात' आकाशमें उड़े । 'गदापाणिः' के स्वारस्यपर भी दृष्टि दीजिये । 'गदाम् आदाय' (गदा लेकर) कहनेसे इरादा रखकर गदा लेना प्रतीत होता है, किन्तु 'गदापाणिः' में बात ही और है । उन दिनों लङ्कामें रणचण्डीकी प्रचण्ड भेरी बज उठी थी । सभी राजकीय पुरुष शस्त्र लेकर ही इधर-उधर आना-जाना कर रहे थे । विभीषण लङ्केश्वरके अनुज थे । वह स्वयं इस फौजी आर्डरको कैसे न मानते ? विशेषतः वह स्वयं लङ्काधिपतिसे मिलने, उन्हें समझाने राजभवनमें जब जा रहे थे तब भला कुछ भी शस्त्र न रखते, यह कहाँतक ठीक था ? अतएव इच्छा न होनेपर भी बलगाम्भीर्यसूचक एक गदामात्र हाथमें लिये रावणके पास गये थे । समझानेके समय जब रावणकी समझका ही टोटा देखा, तब वहाँ ठहरना ठीक न समझा । उन्हें श्रीरामकी शरणमें जानेकी लौ तो पहलेसे ही लग रही थी, मनमें उनके चरणदर्शनकी उत्कण्ठा बढ़ ही रही थी, अतएव अन्यमनस्कताके कारण संरम्भवश उसी हालतमें विभीषण आकाशमें उड़ चले । इसीलिये महर्षिने कहा था

'गदापाणिः' । परन्तु यह यहाँ 'सर्वायुधोपेतः' कैसे हो उठे ? कोई तो इसपर कहते हैं कि सुग्रीवको रामहित-व्यग्रताके कारण लङ्काकी तरफसे जो भी आता था, वही महान् शङ्काजनक प्रतीत होता था । अनुकूल विभीषण भी उन्हें प्रतिकूल दीख पड़े । इसीलिये प्रेमान्ध होनेके कारण, एक शस्त्र क्या था, उन्हें तो वह सब शस्त्रोंसे भी बढ़कर दीखा । इसलिये कहा—'सर्वायुधोपेतः' ।

दूसरे कहते हैं—'नहीं, जब इसने एक शस्त्र बड़े चातुर्य, और लेनेकी रीतिके अनुसार ले रक्खा है तब प्रतीत होता है जरूर यह युद्धनिपुण है । इसे सभी शस्त्र चलानेमें क्या बाधा पड़ेगी । अतएव इसे 'एकायुधयुक्त' न कहकर 'सर्वायुधोपेतः' कहना चाहिये ।'

किन्तु आप और भी थोड़े अन्तःप्रविष्ट होइये । सुग्रीव श्रीरामचन्द्रके स्वभावको नहीं जानते थे, यह तो था ही नहीं । वह श्रीरामकी दया, भक्तवात्सल्य आदिका पूर्ण अनुभव कर चुके थे । यों कहिये, वह स्वयं श्रीरामकी दयाके प्रत्यक्ष नमूने थे । जिस दिन उन्होंने श्रीहनुमान्‌की सलाहसे श्रीरामकी शरण ग्रहण की, उसी दिन बल्कि उसी समय श्रीरामने उन्हें केवल विश्वास ही नहीं दिया, मैत्रीग्रहणपूर्वक किष्किन्धाराज्यका वचन दिया और शीघ्र ही किष्किन्धाधिपति बना भी दिया । ऐसी दशामें क्या वह श्रीरामके हृदयको नहीं जान पाये होंगे ? वह जानते थे कि श्रीरामके पास कैसा भी दोषी—अहित—प्रतिकूल चला आवे, वह उसे दुःख-व्यग्र देखकर अवश्य दया करेंगे । अतएव जब यह निर्भय चला आ रहा है तब अवश्य ही शरणार्थी है । फिर इसके

हाथमें तो श्रीरामको वशीभूत करनेवाला 'शरणागति' ही एक ऐसा ब्रह्मास्त्र है जिसमें सब आयुधोंसे बढ़कर शक्ति है। अतएव विभीषणके लिये उन्होंने कहा—'एष सर्वायुधोपेतः'।

'कश्चिद्राक्षसः' कोई राक्षस। राक्षसपदसे उसकी नैसर्गिक क्रूरता सूचित की है। 'बदला लेनेमें यह तो सर्प है' यहाँ 'सर्प' पदसे जिस तरह अन्योंसे बढ़कर क्रूरता सुझायी जाती है इसी भाँति 'राक्षस' पदसे अत्यन्त क्रूरता दिखायी गयी है। निर्दयता सूचित करनेके लिये जब दूसरोंको राक्षसकी उपमा दी जाती है तब यहाँ तो यह साक्षात् राक्षस ही आ रहा है। अतएव सावधान होनेका अवसर है, यह सुग्रीवने कहा। यह सुनते ही, वे सब वानर तो थे ही, वृक्ष और पर्वतोंको हाथोंमें ले-लेकर कहने लगे—हमें हुक्म दीजिये, हम इन्हें अभी मार गिरायें। इनका दम ही कितना है? 'अल्पचेतनाः।'

विभीषणका वानरोंके प्रति वक्तव्य

इस तरह 'अन्योऽन्यं सम्भाषमाणानां तेषाम्' आपसमें बात-चीत करते रहनेपर भी विभीषण समुद्रके दूसरे तटपर पहुँचकर 'स्वस्थ एव व्यतिष्ठत' स्वस्थ ही, निःशंकचित्त ही अवस्थित रहे। यहाँ 'तेषां सम्भाषमाणानाम्' में वैयाकरण लोग कारकके 'षष्ठी चानादरे' सूत्रकी चादर हटाकर देख लें, यह अनादर अर्थमें षष्ठी है। अर्थात् 'यह वन्दर हैं जो चाहें सो कहते रहें, परन्तु सर्वज्ञ परमदयालु सर्वलोकैकशरण्य श्रीरामचन्द्र अवश्य मेरी रक्षा करेंगे। यह उन्हें दृढ़ विश्वास था। इसलिये छोटे-मोटेपर तो

शायद दृष्टि न भी पड़े परन्तु पहाड़पर तो सबकी दृष्टि पड़ती ही है, किन्तु यहाँ पहाड़ हाथमें लिये इन दूसरे पहाड़ बन्दरोंपर भी अनादरके कारण दृष्टि न डालते हुए विभीषण दूसरे तटपर उनके सामने आ ही पहुँचे। वे तो मार-काटके लिये तैयार थे, किन्तु यह 'स्वस्थः' निर्विकार स्वस्थचित्त थे। इनको कोई भय-संशय न था। यहाँ 'स्वस्थः' की जगह 'खस्थः' ऐसा भी पाठ है। उन बन्दरोंकी उपेक्षा करते हुए छिपना तो कैसा, निडर रहकर सबको अपना आना सूचित करनेके लिये आकाशमें ही खड़े रहे। यहाँ 'खस्थः व्यतिष्ठत' यों 'स्था' धातुका दो बार कहना बहुतोंको अखरेगा। 'खे व्यतिष्ठत' 'आकाशमें खड़े रहे' यही पर्याप्त था, किन्तु यहाँ कुछ विशेष अभिप्राय है। 'खस्थः' के प्रथम 'स्था' धातुसे साधारण 'अवस्थान' खड़े रहना अर्थ हुआ। और दूसरी बार उसी 'स्था' धातुके कथनसे अवस्थान-विशेष अर्थात् निर्भयावस्थान सूचित हुआ। मारनेके लिये पहाड़ोंको लिये हुए कुछ क्रुद्ध उन बन्दरोंके इस तरह बोलते रहनेपर भी वह आकाशमें निर्भय-निष्कम्प खड़े रहे अर्थात् विचलन होनेसे उनका अवस्थान नहीं टूटा। इसीको सूचित करनेके लिये कहा—'खस्थ एव व्यतिष्ठत' (कुछ भी विचलित न होनेसे उनके अवस्थानमें अन्तर नहीं पड़ा।)

विभीषण उत्तर-तीरपर पहुँचकर निर्भयतासे आकाशमें खड़े ही न रहे, महर्षि कहते हैं—उवाच च, 'च' (और) बोले—

'उवाच च महाप्राज्ञः स्वरेण महता महान्।
सुग्रीवं तांश्च सम्प्रेक्ष्य सर्वान्वानरपुङ्गवान्॥'

'च' का पूर्वसे सम्बन्ध है। 'खस्थ एव व्यतिष्ठत उवाच च' 'आकाशमें खड़े रहे और बोले।' इसलिये पूर्वार्थसम्बद्ध इस पद्यका यह शब्दार्थ हुआ कि 'महाबुद्धिमान् और गंभीराशय विभीषण सुग्रीव और उन सब वानरश्रेष्ठोंको देखकर कुछ देरतक आकाशमें ही खड़े रहे और फिर ऊँचे स्वरसे बोले।'

यहाँ 'च' कार पूर्व अर्थका सम्बन्ध दिखाता हुआ ही एक अपूर्व (अद्भुत) अर्थको भी सूचित करता है। उसपर कुछ ध्यान दीजिये—'उवाच च' 'और बोले भी।' महर्षि सूचित करते हैं कि भगवान् श्रीरामचन्द्रकी आगे प्रतिज्ञा है कि—

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥'

जो एक बार भी मेरी तरफ आ जाता है, अर्थात् 'प्रपत्ति' स्वीकार कर लेता है, उसको मैं प्राणिमात्रसे अभय दे देता हूँ यह मेरा व्रत है, इस प्रतिज्ञाके अनुसार एक बार भगवान्के पास आ जाना ही स्वीकारके लिये, सर्वाभय-प्राप्तिके लिये, पर्याप्त है किन्तु यहाँ तो विभीषण शरणमें आये और 'उवाच च' बोले भी। बड़ा भारी एहसान हो गया। अहा हा! भगवान् आज्ञा करते हैं कि मुझसे संकटमें पड़े हुए भक्तका दुःख देखा नहीं जाता। कोई मुझे कितना ही अटकावे परन्तु मुझसे रुका नहीं जाता। यह मेरा स्वभाव ही है, मैं क्या करूँ। जिस समय दुःखमें पड़ा हुआ दीन मेरा स्मरणमात्र कर लेता है, मैं स्वयं वहाँ जाता हूँ और उसको उसी समय दुःखसे छुड़ाता हूँ। देखिये—यहाँ 'प्रपत्ति'

की रस्म भी पूरी नहीं की जाती । यों कहिये भक्तकी तरफसे कोई चेष्टा ही नहीं होती । वह तो पड़ा-पड़ा स्मरणमात्र कर लेता है । जाड़ेके दिनोंमें हम पलंगपर लेटे हैं । उस कड़ाकेकी सर्दीमें भी प्यास तो लगती ही है । इच्छा हुई पानी पियें । पर उस समय उठा किससे जाय । चुप हो गये । फिर तकाजा हुआ । पानीकी बहुत जरूरत है । कोई दूसरा पिला जाय तो बड़ा अच्छा हो । चाहिये था हमें कि उठकर पानीके पास जाते और पी आते, परन्तु आलस्यने पैर तोड़ दिये । लालसा हुई हमारी आत्मतृप्ति भी दूसरा ही कर जाय । इसके लिये बड़े-से-बड़े बादशाहतकको अपनी आवश्यकता सूचन करनेके लिये मुखसे तो बोलना ही पड़ता है । अर्थात् हम नौकरको आवाज देते हैं—'थोड़ा पानी पिला जाना !' किन्तु हमको तो जुबान हिलाना भी परिश्रम मालूम होता है । ऐसी अवस्थामें खूब प्यासकी हालतमें यदि नौकर बिना कहे ही आकर हमें पानी पिला जाय तो कैसा आनन्द आता है ? इसीके अनुसार भगवान्ने अपनी भक्तवत्सलतासे भक्तोंको इतना सिर चढ़ा दिया है, इतना अलस बना दिया है कि वे अपनी तरफसे कुछ भी चेष्टा नहीं करते । पड़े-पड़े यादमात्र कर लेते हैं । जैसे हम पलंगपर पड़े-पड़े जलका स्मरणमात्र कर लेते हैं । अब स्मरणमात्र करते ही कोई वैज्ञानिक या चतुरचूडामणि भृत्य स्वयं ही आकर जैसे पानी पिला देता है, उसी तरह भगवान् भी स्मरणमात्र करते ही स्वयं वहाँ जाकर उनकी रक्षा करते हैं । क्योंकि—

'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥'

—सबको भयसे बचाना इसका भगवान्‌ने गंडा बँधा रक्खा है ।

इसकी नजीर भी लीजिये—संकटमें पड़े गजेन्द्रने, जिस समय उसकी तिलमात्र सूँड़ बाहर थी, भगवान्‌का स्मरण किया । ध्यान रहे, यहाँ स्तोत्र-पाठादिसे अथवा 'वाचा' वाणीसे ही स्मरणका अवकाश न था । केवल हृदयमें ध्यान किया था । बस, भगवान् आतुर होकर, जल्दीके मारे गरुड़को भी ढकेलकर स्वयं पधारे और उसकी रक्षा की । इसलिये भगवान् आज्ञा करते हैं—'मैंने सैकड़ों बार देख लिया है कि मुझे ही ऐसे अवसरपर जाना पड़ता है ।' किन्तु यहाँ तो विभीषण स्वयं इतनी दूर चलकर आये । यह क्या थोड़ा एहसान है ? उनको बड़ा भारी कष्ट हुआ । आप आज्ञा करते हैं—'आगमनमपि भाराय' दुःखपीड़ितका मेरे पास अपने पैरोंसे चलकर आना भी मेरे ऊपर बड़ा भार चढ़ा देता है । उसपर भी जलेपर नमक यह छिड़का जा रहा है कि यह आकर मुझसे प्रार्थना भी कर रहे हैं ! हद हो गयी ! मुझे रक्षा करनेके लिये स्वयं इतनी दूर जाना चाहिये था, उसपर तो यह स्वयं यहाँ आ गये । अब तो यहाँ आते ही मुझे स्वयं सँभाल लेना था परन्तु बोलना भी इन्हींको पड़ा ! यह तो स्पष्ट ही मेरे लिये 'क्षते क्षार-प्रयोगः' 'कटेपर खार छिड़कना है ।' बस, इसी भक्तवत्सलताके कारण विभीषणका परम उपकार ध्वनित करते हुए महर्षि कहते हैं 'च उवाच' और बोले ।

विभीषणके लिये एक विशेषण दिया है 'महाप्राज्ञः' 'महा-बुद्धिमान् ।' क्योंकि विभीषणको यद्यपि दृढ़ विश्वास था कि मैं

की रस्म भी पूरी नहीं की जाती। यों कहिये भक्तकी तरफसे कोई चेष्टा ही नहीं होती। वह तो पड़ा-पड़ा स्मरणमात्र कर लेता है। जाड़ेके दिनोंमें हम पलंगपर लेटे हैं। उस कड़ाकेकी सर्दीमें भी प्यास तो लगती ही है। इच्छा हुई पानी पियें। पर उस समय उठा किससे जाय। चुप हो गये। फिर तकाजा हुआ। पानीकी बहुत जरूरत है। कोई दूसरा पिला जाय तो बड़ा अच्छा हो। चाहिये था हमें कि उठकर पानीके पास जाते और पी आते, परन्तु आलस्यने पैर तोड़ दिये। लालसा हुई हमारी आत्मतृप्ति भी दूसरा ही कर जाय। इसके लिये बड़े-से-बड़े बादशाहतकको अपनी आवश्यकता सूचन करनेके लिये मुखसे तो बोलना ही पड़ता है। अर्थात् हम नौकरको आवाज देते हैं—'थोड़ा पानी पिला जाना!' किन्तु हमको तो जुबान हिलाना भी परिश्रम मालूम होता है। ऐसी अवस्थामें खूब प्यासकी हालतमें यदि नौकर बिना कहे ही आकर हमें पानी पिला जाय तो कैसा आनन्द आता है? इसीके अनुसार भगवान्‌ने अपनी भक्तवत्सलतासे भक्तोंको इतना सिर चढ़ा दिया है, इतना अलस बना दिया है कि वे अपनी तरफसे कुछ भी चेष्टा नहीं करते। पड़े-पड़े यादमात्र कर लेते हैं। जैसे हम पलंगपर पड़े-पड़े जलका स्मरणमात्र कर लेते हैं। अब स्मरणमात्र करते ही कोई वैज्ञानिक या चतुरचूडामणि भृत्य स्वयं ही आकर जैसे पानी पिला देता है, उसी तरह भगवान् भी स्मरणमात्र करते ही स्वयं वहाँ जाकर उनकी रक्षा करते हैं। क्योंकि—

'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥'

—सबको भयसे बचाना इसका भगवान्‌ने गंडा बँधा रक्खा है।

इसकी नजीर भी लीजिये—संकटमें पड़े गजेन्द्रने, जिस समय उसकी तिलमात्र सूँड़ बाहर थी, भगवान्‌का स्मरण किया। ध्यान रहे, यहाँ स्तोत्र-पाठादिसे अथवा 'वाचा' वाणीसे ही स्मरणका अवकाश न था। केवल हृदयमें ध्यान किया था। बस, भगवान् आतुर होकर, जल्दीके मारे गरुड़को भी ढकेलकर स्वयं पधारे और उसकी रक्षा की। इसलिये भगवान् आज्ञा करते हैं—'मैंने सैकड़ों बार देख लिया है कि मुझे ही ऐसे अवसरपर जाना पड़ता है।' किन्तु यहाँ तो विभीषण स्वयं इतनी दूर चलकर आये। यह क्या थोड़ा एहसान है? उनको बड़ा भारी कष्ट हुआ। आप आज्ञा करते हैं—'आगमनमपि भाराय' दुःखपीड़ितका मेरे पास अपने पैरोंसे चलकर आना भी मेरे ऊपर बड़ा भार चढ़ा देता है। उसपर भी जलेपर नमक यह छिड़का जा रहा है कि यह आकर मुझसे प्रार्थना भी कर रहे हैं! हद हो गयी! मुझे रक्षा करनेके लिये स्वयं इतनी दूर जाना चाहिये था, उसपर तो यह स्वयं यहाँ आ गये। अब तो यहाँ आते ही मुझे स्वयं सँभाल लेना था परन्तु बोलना भी इन्हींको पड़ा! यह तो स्पष्ट ही मेरे लिये 'क्षते क्षार-प्रयोगः' 'कटेपर खार छिड़कना है।' बस, इसी भक्तवत्सलताके कारण विभीषणका परम उपकार ध्वनित करते हुए महर्षि कहते हैं 'च उवाच' और बोले।

विभीषणके लिये एक विशेषण दिया है 'महाप्राज्ञः' 'महा-बुद्धिमान्।' क्योंकि विभीषणको यद्यपि दृढ़ विश्वास था कि मैं

कैसी भी दशामें होऊँ, भगवान् मुझे अवश्य स्वीकार करेंगे, तो भी भगवान्‌के अन्तरङ्ग सेवकोंकी सहायता लेना आवश्यक है। राजा चाहे जितना दयालु हो परन्तु चतुर लोग राजाके पास रहनेवाले अन्तरङ्ग लोगोंसे मिलकर ही राजासे परिचय बाँधते हैं, क्योंकि उसमें फिर विघ्नकी शंका नहीं रहती। इसी प्रकार विभीषणने भी सोचा कि श्रीरामके जो पार्श्ववर्ती हैं उनके द्वारा ही मैं अपनी प्रार्थना पहुँचाऊँ, जिससे बाधाकी शंका ही न रहे। मान लीजिये, भगवान् श्रीरामचन्द्रने स्वीकार कर भी लिया और सेवक अनुकूल न हुए तो कठिनता पड़ेगी। 'जलमें रहना और मगरमच्छसे वैर।' इसलिये पहले अन्तरङ्गोंकी प्रार्थना करूँ, यही मेरा पुरुषार्थ है। इसी सोच-विचारमें वह क्षणभर आकाशमें खड़े रहे। सुग्रीव और सब बन्दरोंको पहले देखा। अर्थात् उन्होंने पहले राम-दरबारकी परिस्थितिको जान लेना उचित समझा। पासमें रहनेवाले कौन-कौन हैं, उन्हींको अनुकूल करके प्रार्थना पहुँचानी चाहिये। यह भी उनकी बुद्धिमत्ता ही है कि इतनी ही देरमें जान गये कि यह सेनापति हैं, श्रीरामके विश्वासी हैं और ये वानर इनके अधीन हैं। अतएव पहले 'सुग्रीवम्' गिनाया और फिर 'सर्वान् वानरपुङ्गवान्' से सबका 'साकल्य' कर दिया। अन्यथा 'सर्वान् वानरपुङ्गवान्' से बचकर वह कहाँ गये थे!

यह भी वह हृदयमें जानते थे कि ये बन्दर लोग जो मुझपर पहाड़ ढानेको तैयार हैं, कोई द्वेषके कारणसे नहीं। श्रीराममें इनकी एकान्त प्रीति है इसीके कारण ऐसा कर रहे हैं। अतएव यह इन लोगोंका गुण है, दोष नहीं। इन सब बातोंको थोड़ी

देरके ठहरनेमें विभीषणने देख लिया और जान लिया था। अतएव महर्षिने यहाँ कहा—'सम्प्रेक्ष्य,' 'सम्' अच्छी तरह केवल उन्हें ऊपरसे देखमात्र न लिया किन्तु भीतरी नजरसे जाँच लिया था, इसी बुद्धिमानीको सूचित करते हुए महर्षि कहते हैं—'महाप्राज्ञः।'

आगे है 'महता स्वरेण' ऊँचे स्वरसे अर्थात् बड़े जोरसे बोले। कारण यह था कि जिन पार्श्ववर्तियोंको मैं अपने अनुकूल करना चाहता हूँ वह सब सुन लें। न जाने उनमेंसे मेरा कौन सहायक बन जाय और वह इस समय न जाने कहाँ बैठा हो ! अथवा यदि कोई पार्श्ववर्ती सहायताको तैयार न भी हों तो स्वयं भक्तवत्सल ही मेरा आर्त-स्वर सुन लें। फिर मुझे क्या करना है। बस, इसलिये वह वीरोचित ऊँचे स्वरसे बोले।

यहाँ 'महाप्राज्ञः' यह विशेषण देकर भी महर्षि एक विशेषण विभीषणके लिये और देते हैं—'महान्।' क्या 'महाप्राज्ञः' कम था ? 'महाप्राज्ञः' के आदिका आधा टुकड़ा ही तो 'महान्' है। फिर यह दुबारा 'महान्' क्यों ? सुनिये, महर्षि सूचित करते हैं—यह 'महाप्राज्ञः' ही क्या हैं, यह तो सब तरहके महत्त्वके भाजन हैं। 'महाबुद्धिमान्' से बुद्धिकृत महत्त्व ही प्रतीत होता है किन्तु महान् कहनेसे यावन्मात्र महत्त्व आ गया। जबसे विभीषणने श्रीरामको अच्छा मानकर यहाँ आनेकी हृदयमें धारणा की थी तभी-से वह बड़े बड़भागी थे, परन्तु आज यहाँ वह शरणमें आ गये और उसपर इस तरह ऊँचे स्वरसे अपना आर्तनिवेदन भगवान्को सुना रहे हैं, इनसे बढ़कर भला और कौन भाग्यवान् होगा ?

जिनके अच्छे भाग्य होते हैं वही तो सब कुछ रहते भी उन्हें छोड़कर, अकिञ्चनता स्वीकार करके भगवान्‌की शरणमें आया करते हैं । आहा, क्या कहा है—

'आकिञ्चन्यैकशरणाः केचिद्भाग्याधिकाः पुनः ।
मामेव शरणं प्राप्य मामेवान्ते समश्नुते ॥'

'निष्किञ्चनता ही जिनका एक अवलम्बन है, ऐसे होकर भी बड़े भाग्यवान्, 'केचित्' कोई असंख्योंमें एक, दुर्लभतम केवल मेरी ही शरण लेकर अन्तमें मुझको ही प्राप्त होते हैं ।' बस, शरणागतिके इसी गूढ़ तात्पर्यको सुझाते हुए महर्षि विभीषणको बधाई देते हैं 'महान् ।'

वह 'महान्' 'विभीषणः' 'किम् उवाच' क्या बोले, वह उनका वक्तव्य 'रावणो नाम दुर्वृत्तः' इत्यादि बारहवें पद्यसे लेकर 'निवेदयत मां क्षिप्रम्' इत्यादि १७ वें पद्यतक ६ पद्योंमें बतलाया गया है । यह विभीषणका वक्तव्य ही शरणागतिका आरम्भ है । इसलिये विचारकी दृष्टिसे यह बड़ा महत्त्व रखता है । या यों कहिये कि जब कोई मुकदमा दायर होता है, तो उसमें पहले मुद्दईका जो बयान होता है उसीपर सारे मुकदमेका दारमदार रहता है । शरणागतिके भी जो छः अङ्ग पहले कह आये हैं उनका भी इन छः पद्योंमें बीजरूपसे सूचन कर दिया गया है । बात यह है कि ऊपर कहे हुए 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः' आनुकूल्य-का संकल्प इत्यादि शरणागतिके अंकुर जब किसी भाग्यवान्‌की उर्वरा हृदय-भूमिमें फूट आते हैं और वह प्रतिकूल संसर्गसे छूटकर

साधु-समागमादि अनुकूल संसर्गके द्वारा भगवान्‌के अभिमुख आने लगता है तो उसके पहले ही उसका हृदय स्वच्छ (कपटादि दोषोंसे शून्य) हो चुका है यह मानना पड़ेगा। अन्यथा अशुद्ध क्षेत्रमें पूर्वोक्त बीज उगेंगे ही कैसे ? और जब उसका हृदय स्वच्छ हो चुका है तो शरणागतिके प्रारम्भिक बयानमें वह उसकी स्वच्छ-हृदयता अवश्य सूचित होनी चाहिये। इसीके अनुसार विभीषण अपने प्रारम्भिक वक्तव्यमें अपनी हृदय-शुद्धिको सूचित कर रहे हैं। उसका यह स्वरूप है कि अभियोक्ता (मुद्दई) अपने दोषोंको अपने मुखसे सत्य-सत्य कह दे। किसी मनुष्यसे कोई बड़ा अपराध बन गया और वह धार्मिक बुद्धिसे उसका प्रायश्चित्ता-दिद्वारा शोधन करना चाहता है तो धर्मशास्त्रोंमें उसकी शुद्धिके लिये पहले अनुताप (मैंने यह अपराध क्यों किया यों हृदयसे पछताना) बताया है। फिर वह निरभिमानभावसे अपने दोषका उद्घोषण करता हुआ प्रतीकारका प्रार्थी हो। इसीलिये प्रायश्चित्ती शोधन-व्यवस्था देनेवालोंमेंसे एक-एकके पास स्वयं जाता है और बड़ी नम्रतासे प्रार्थना करता है। अपना दोष सत्य-सत्य कहता है। यहाँ विभीषण भी अपने स्वरूपको छिपाते नहीं। अपना दोष स्वयं सत्य-सत्य कह रहे हैं। इसलिये गर्व-हानि होकर कार्पण्य (दीनता) प्रदर्शनरूप शरणागतिका अंग सूचित होता है। उसीको वक्तव्यके आरम्भमें कहते हैं—

'रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः।
तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः॥'

'दुष्ट आचरणवाला, जातिसे राक्षस और राक्षसोंका ही स्वामी, रावण नामका है। मैं विभीषण नामसे प्रसिद्ध उसका छोटा भाई हूँ।'

यहाँ 'रावणः' (रुलानेवाला) पदसे सब लोगोंको पीडा पहुँचाना, 'दुर्वृत्त' पदसे अकार्य करना, 'राक्षस' पदसे जातिगत क्रूरता, 'राक्षसेश्वर' पदसे नौकर-चाकर भी सब उसके क्रूर हैं यों दुष्टपरिकरता, रावणकी सूचित की गयी। 'रावण इस तरहका दुष्ट है' इस कथनसे यह सब दोष रावणमें सिद्ध होते हैं, होने दो। तुम्हें इससे क्या ? उसपर कहते हैं—'तस्याहमनुजो भ्राता' मैं उसका 'छोटा' भाई हूँ। ऐसे घोर अपराधीके भाई होनेसे अपनेमें पूर्ण दोष सिद्ध हो गया। धर्मशास्त्रकी गद्दीपर बैठकर प्रायश्चित्तकी व्यवस्था देते समय 'सह यानासनाशनात्' एक यानमें चलना, एक स्थानमें बैठना, साथ भोजन, इत्यादिसे ही जब संसर्ग-प्रायश्चित्तका दण्ड देना आवश्यक हो पड़ता है तब यहाँ तो यह खास भाई ही हैं। भाई भी 'छोटा'! बड़ा भाई होता तो मुझे उसकी आज्ञामें चलनेकी कैद न रहती। देखिये—कुबेर रावणके भाई ही हैं परन्तु बड़े हैं, वह अलग रहते हैं, उनके दोषोंसे बचे हैं। किन्तु वह कहते हैं कि मैं छोटा हूँ। इच्छा अथवा अनिच्छा-से उसके किये अपराधोंमें मुझे योग देना ही पड़ता है।

'उस दुर्वृत्तने जनस्थानसे जटायुको मारकर सीताको हरण किया। सीता इस समय बड़ी दीन दशामें है। उसे कठिन स्थानमें रोक रखा है।' कदाचित् इससे भगवती सीताके चारित्र्य-पर सन्देह हो जाय इसलिये वहीं आगे कह देते हैं कि 'राक्षसीभिः

सुरक्षिता' अकेली नहीं, क्रूर राक्षसियाँ उसपर कड़ा पहरा दे रही हैं। यदि चारित्र्यपर कोई धब्बा आ जाता तो राक्षसियोंद्वारा उसपर इस तरह क्रूरता करवानेकी क्या आवश्यकता रहती? अस्तु, आगे कहते हैं कि मैंने उसे उपपत्तियुक्त वाक्योंसे बार-बार समझाया कि सीताको श्रीरामके पास लौटा दो, किन्तु मरनेवाला जिस तरह औषध नहीं लेता उस तरह कालप्रेरित रावणने इस बातको स्वीकार नहीं किया। प्रत्युत उसने मुझको बहुत 'परुष' असहनीय कठोर बातें कहीं और 'दासवच्चापमानितः।' उच्छिष्ट-भोजी दासको जिस तरह ठुकराते हैं, मेरा अपमान किया। अपमान अपमानमें अन्तर है। बड़ा भाई अभिमानी छोटे भाईको दो कड़ी बात कहकर उस भाईकी दृष्टिमें अपमान कर सकता है परन्तु वह अपमान सीमाके भीतर है। भाईने भाईके भाईपनको स्मरणमें रखते हुए वह अपमान किया है, अतएव वह भाई सहन कर जाता है। किन्तु यदि जुठखोरे तुच्छ दासको जिस तरह सरेबाजार ठुकराते हैं, हम छोटे भाईको वैसे ठुकरायेंगे तो वह अपमान भाईकी दृष्टि रखते हुए न होनेके कारण असहनीय हो जायगा। इसी दुःखवेदनाको सूचित करते हुए वह कहते हैं, 'दासवच्चापमानितः।'

अब यहाँ दृष्टि दीजिये। इस अपमान होनेके कारण प्रतिकूल संसर्गपर वैराग्योत्पत्ति दिखायी है जो शरणागतिमें आवश्यक है। भक्ति-ग्रन्थोंमें कहा है कि जब भगवान्की किसीपर निर्हेतुक कृपा हो जाती है, तब वह उसपर कोई ऐसा घोर दुःखजनक अपमानादि डाल देते हैं जिससे वह दुनियाँके सब प्रयोजनोंसे

विरक्त हो जाता है और उसकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌के अभिमुख हो जाता है। यहाँ विभीषण भी भगवान्‌का अनुग्रह होनेके कारण इस दासवत् अपमानसे विरक्त हो उठते हैं। यहाँतक—शरणागतिके लिये आवश्यक जो वैराग्य है उसका निरूपण हुआ। अब इस दुःखकी निवृत्तिके लिये तुम क्या करना चाहते हो? यज्ञ-याग, तन्त्र-मन्त्रसे उसे उड़ाना चाहते हो या और कुछ? इसपर—'प्रयोजनान्तरसे विमुख होकर परम पुरुषार्थस्वरूप भगवान् श्रीरामकी ही शरण लेना मैं चाहता हूँ' यह आगे प्रकट करते हैं—

'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः॥'

'स्त्री-पुत्रादिको छोड़कर श्रीरामकी शरण आया हूँ' श्रीरामकी शरण आये हो तो शायद जिन दुनियावी कामनाओंसे खिन्न हुए हो, उन मनोरथोंको पूर्ण करना चाहते होगे। तो कहते हैं—'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च' मैंने स्त्री-पुत्रादि सबको छोड़ दिया है। यहाँ 'पुत्रांश्च दारांश्च' यह उपलक्षणमात्र है। यावत् लङ्काकी विभूति छोड़ दी है यह उनका अभिप्राय है। क्योंकि विभीषणकी जो दूसरी प्रार्थना श्रीरामके सामने आगे चलकर होगी, उसमें उन्होंने साफ ही कहा है—

'परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च॥'

'मैंने सम्पूर्ण लङ्का, मित्र और सब प्रकारकी विभूतियाँ छोड़ दी हैं।'

यह दरख्वास्त तो नायबोंके द्वारा हाकिमके पास पहुँचायी जा रही है, परन्तु जहाँ स्वयं विभीषणका बयान साक्षात् श्रीरामके

दरबारमें होगा वहाँ उन्होंने अपना वक्तव्य खुलकर साफ-साफ कहा है। अतएव यह उन्होंने स्पष्ट ही सूचित कर दिया है कि मुझे दुनियावी प्रयोजन नहीं, क्योंकि उनको तो मैं स्वयं छोड़कर आया हूँ। अब तो—'राघवं शरणं गतः' परमपुरुषार्थ श्रीभगवान् रामचन्द्रका आश्रय लेना ही मेरा प्रधान प्रयोजन है।

हाकिमसे प्रयोजनकी अर्ज करनेवाले लोग दरवाजेपर तो कह जाते हैं कि—'नहीं हमें तो सिर्फ सलाम ही करना है' जिससे कि दरवान उन्हें न रोके किन्तु भीतर जाकर फिर अपने मतलबकी बात छेड़ बैठते हैं। इसी तरह शायद विभीषण भी पहले निःस्वार्थता दिखाते हैं फिर कोई प्रयोजन माँग बैठें, सो नहीं है। उन्होंने श्रीरामचन्द्रके सम्मुख भी, जिस समय श्रीराम उन्हें लङ्काका राज्य देने लगे, उसपर ध्यान ही नहीं दिया। उन्होंने तो यही कहा है कि 'राक्षसानां वधे लङ्कायाश्च प्रधर्षणे ते साह्यं करिष्यामि' 'मैं राक्षसोंके वधमें तथा लङ्काविजयमें आपके साथ-साथ रहकर परिचर्या करूँगा' इस तरह रामपरिचर्याको ही वह फलस्वरूप मानते हैं। इस बातसे विभीषणपर जो स्वार्थिताका दोष लगाया जाता है वह बिल्कुल निर्मूल हो जाता है।

इसके आगे १७ वाँ श्लोक विभीषणके वक्तव्यमें सबसे प्रधान है। यों कहना चाहिये कि उनकी प्रार्थनाके शरीरका मेरुदण्ड (रीढ़की हड्डी) है। वही तो उनका 'बयान-दावा' है। उसीमें तो वह अपना सब कुछ प्रार्थनीय कहते हैं। और दूसरे—इतनी दूर यहाँ आकर 'खस्थ एव व्यतिष्ठत' आकाशमें ही क्यों खड़े

हो ? क्या प्रयोजन है ? वह प्रयोजन भी कैंपके दरवाजेपर खड़े फौजी अफसरके द्वारा कोसलनरेन्द्र श्रीरामके पास यही तो पहुँचाया गया है कि—'मैं शरण आया हूँ, श्रीरामचन्द्रजीके पास मेरी खबर पहुँचा दीजिये।' अतएव, जगच्छरण्य श्रीरामचन्द्रसे मिलनेके लिये अपरिचित विभीषण अपना जबानी 'विजिटिंग-कार्ड' (नामाङ्कित लघु पत्र) भेजते हुए सुग्रीवादिसे प्रार्थना करते हैं कि—

'निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम् ॥'

यही पद्य 'शरणागति' को आरम्भ करता है, इसलिये पहले इसका वाच्यार्थ (सामान्य शब्दार्थ) खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। इसके अनन्तर ध्वन्यर्थमें जो भक्ति-रहस्य भरा है उसे सूचित किया जायगा। पद्यका अन्वय होगा—'सर्वलोक-शरण्याय महात्मने राघवाय मां विभीषणम् उपस्थितं क्षिप्रं निवेदयत।' शब्दार्थ पहले भी कह आया हूँ कि—'सब लोगोंको आश्रय देनेवाले महात्मा श्रीरामचन्द्रके प्रति मुझ विभीषणको उपस्थित हुआ (इस स्थानपर आया हुआ) शीघ्र सूचित कर दीजिये।'

पहला पद है 'सर्वलोकशरण्याय'। इसमें 'शरण्य' का अर्थ है—'शरणे रक्षणे साधुः शरण्यः' 'तत्र साधुः' इस तद्धितके सूत्रसे 'यत्' प्रत्यय हुआ है, रक्षा करनेमें जो उत्कृष्ट हो वह 'शरण्य'। इसकी शब्दार्थ निरुक्ति हुई—'शरणं भवितुमर्हः' 'शरण बनने लायक।' 'शरण' शब्दके कोषमें अर्थ हैं—'शरणं गृहरक्षित्रोः' घर और रक्षक। इसके अनुसार जो रक्षक बनने

लायक हो वह 'शरण्य'। महर्षि वाल्मीकि तो यहाँ बड़े चक्करसे बोलते हैं। जब शरण पदका अर्थ रक्षक है तब सीधा यों ही क्यों नहीं कह दिया—'सर्वलोकशरण्य' 'सब लोगोंके रक्षक' (श्रीरामचन्द्रजीके प्रति सूचित कर दीजिये) नहीं। 'सब लोगोंके रक्षक बनने लायक' इस कथनमें जो स्वारस्य है वह 'सब लोगोंके रक्षक' इस कथनमें नहीं। इन्द्र, वरुण, कुबेर, कौन-सा देवता रक्षक नहीं है? वह तो कहलाते ही 'लोकपाल' हैं। 'इन्द्र' 'इदि परमैश्वर्ये' जो खूब ऐश्वर्ययुक्त हो वह इन्द्र। यों प्रत्येक देवता रक्षक हैं। आप इन्द्रको रक्षकत्वेन वरण करेंगे, प्रार्थना करेंगे तो क्या वह आपकी रक्षा नहीं करेंगे? करेंगे। परन्तु महर्षि वाल्मीकिका तात्पर्य है कि चाहे रक्षक सभी हो जायँ किन्तु असलमें रक्षक बनने लायक कोई है तो वह परम दयालु भगवान् श्रीरामचन्द्र ही हैं। लोकमें कहा भी तो जाता है कि 'भाई, यों तो जो हाकिमकी गद्दीपर बैठ जाय वही हाकिम है, परन्तु सच पूछो तो हाकिम बनने लायक तो 'अमुक' व्यक्ति ही है।' इसी तरह जिस देवताका आप स्मरण करेंगे यदि आपकी भावना सच्ची होगी तो वही अवश्य रक्षा करेगा। परन्तु दीन-हीन, चाहे कैसा भी क्यों न हो, सब लोगोंकी रक्षा करने लायक यदि वास्तवमें कोई हो सकता है तो वह हैं दयावतार भगवान् श्रीरामचन्द्र।

भगवान् श्रीरामचन्द्रमें गुण ही इस तरहके हैं कि और देवताओंके रहनेपर भी भावुकोंका हृदय अपने आप ही आपकी तरफ खिंचा चला आता है। कविगण कहते हैं—

'स्वसूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां,
कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवगुणः ॥'

और नायकोंके रहनेपर भी नाटकोंमें प्रायः अधिकांश श्रीरामचन्द्रको ही प्रधान नायक बनाया जाता है। अन्य काव्योंमें भी जहाँ देखिये, श्रीरामचन्द्रके ही गुणगान हो रहे हैं। इसमें कवियोंका दोष नहीं है, यह तो भगवान् श्रीरामचन्द्रमें रहनेवाले गुणगणोंका दोष है, जिनके कारण कवि उनका ही वर्णन करते हैं।

रक्षा करनेका काम पड़ता है संकट पड़नेपर। अतएव आवश्यक हुआ कि भक्तके संकटको देखकर रक्षकके हृदयमें दया होनी चाहिये। दीन, हीन, अधम, कैसा भी हो, उसे संकटसे बचा ले; यही रक्षकका काम होना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्र-के दयाके उदाहरण जगत्प्रसिद्ध हैं। 'शबरी' जिस जातिकी थी उस जातिको स्पर्श करनेतकमें भी लोग घृणा करते हैं। परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्र ऋषियोंसे बढ़कर, अपने सुहृद्—भाई-बन्धुओंसे बढ़कर उसे ऊँचा दर्जा दे चुके हैं। हार्दिक प्रेमसे निवेदन किये हुए उच्छिष्ट कदर्य बेरतक भगवान्‌ने आस्वादन किये, यहाँतकके अनुग्रहकी कथा लोग कहते हैं। खैर, शबरी मनुष्य तो थी परन्तु जटायु गीध, जो पक्षियोंमें भी अमंगल गिना जाता है उसे भगवान्‌ने पितृतुल्य आदर दिया है। आप आज्ञा करते हैं—

'राजा दशरथः श्रीमान् पिता मम महायशाः।
पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः ॥'

'महायशस्वी मेरे पिता राजा दशरथ मेरे जिस तरह पूजनीय थे इसी तरह यह पक्षिश्रेष्ठ भी मेरा माननीय और पूजनीय है।' भगवान्‌ने अपने हाथसे उसका और्ध्वदैहिक संस्कार किया जो साक्षात् पिता दशरथके भाग्यमें भी न था। जिसको भगवच्चरण स्पर्श हो जाता है, वही कितनी ऊँची भूमिकाको पहुँच जाता है, फिर यहाँ भगवान्‌ने अपने हाथसे जिसका संस्कार किया क्या उसका उद्धार नहीं हुआ? परन्तु इसपर भी भगवान्‌का प्रेम देखिये कि आप जटायुका अग्नि-संस्कार करके स्वयं अपने मुखसे वह मन्त्रजाप करते हैं जिससे प्रेतको दिव्यलोककी प्राप्ति हुआ करती है। महर्षिने कहा है—

'यत्तत्प्रेतस्य मर्त्यस्य कथयन्ति द्विजातयः।
तत्स्वर्गगमनं क्षिप्रं तस्य रामो जजाप ह॥'

'मृत मनुष्यके स्वर्गगमनके लिये जो मन्त्र ब्राह्मण बोला करते हैं, उन्हें बड़ी जल्दीसे श्रीरामने जपा।'

श्रीरामकी रक्षकताकी क्या पूछते हैं? श्रीरामचन्द्र जानकीके वियोगमें जिस करुण दशाका अभिनय करते आ रहे हैं वह क्या किसीसे छिपा है? भवभूति कहते हैं—उस करुण दृश्यको देखकर—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' (पत्थर भी रोने लगते हैं, वज्रका भी हृदय फट जाता है) परन्तु दयालु श्रीरामने जिस समय जटायुकी वह दशा देखी, आप उस अपने दुःखको भी भूल गये। आप कहते हैं—

'सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथागतम्।
यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परंतप॥'

'स्वसूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां,
कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवगुणः ॥'

और नायकोंके रहनेपर भी नाटकोंमें प्रायः अधिकांश श्रीरामचन्द्रको ही प्रधान नायक बनाया जाता है। श्रव्य काव्योंमें भी जहाँ देखिये, श्रीरामचन्द्रके ही गुणगान हो रहे हैं। इसमें कवियोंका दोष नहीं है, यह तो भगवान् श्रीरामचन्द्रमें रहनेवाले गुणगणोंका दोष है, जिनके कारण कवि उनका ही वर्णन करते हैं।

रक्षा करनेका काम पड़ता है संकट पड़नेपर। अतएव आवश्यक हुआ कि भक्तके संकटको देखकर रक्षकके हृदयमें दया होनी चाहिये। दीन, हीन, अधम, कैसा भी हो, उसे संकटसे बचा ले; यही रक्षकका काम होना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्र-के दयाके उदाहरण जगत्प्रसिद्ध हैं। 'शबरी' जिस जातिकी थी उस जातिको स्पर्श करनेतकमें भी लोग घृणा करते हैं। परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्र ऋषियोंसे बढ़कर, अपने सुहृद्——भाई-वन्धुओंसे बढ़कर उसे ऊँचा दर्जा दे चुके हैं। हार्दिक प्रेमसे निवेदन किये हुए उच्छिष्ट कदर्य वेरतक भगवान्‌ने आस्वादन किये, यहाँतकके अनुग्रहकी कथा लोग कहते हैं। खैर, शबरी मनुष्य तो थी परन्तु जटायु गीध, जो पक्षियोंमें भी अमंगल गिना जाता है उसे भगवान्‌ने पितृतुल्य आदर दिया है। आप आज्ञा करते हैं——

'राजा दशरथः श्रीमान् पिता मम महायशाः।
पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः॥'

हो, सो भी निश्चित नहीं। जरा-सी भी आपसे भूल हो गयी तो फल मिलना कैसा, पड़े-पड़े नरकोंमें सड़ते रहिये। अग्निकार्य करते समय पद्धति कहती है कि 'दर्भान् स्पृष्ट्वा' 'हाथसे कुशोंको छूकर' आगे कार्य करे। यदि इतना-सा भी कार्य भूलसे रह गया तो बस, कर्ममें वैगुण्य हो गया। सब करा-कराया मिट्टी। प्रत्युत राजा नृगकी तरह गिरगिट बनकर कुएँमें पड़ना पड़ेगा!

आपने श्रीभैरवका अनुष्ठान किया और विधिमें यदि जरा-सी भी कुछ कमी रह गयी तो बस, लेनेके देने पड़ गये। सिद्धि करने चले थे, रही-सही सुधबुध भी खो बैठे। पागल हो गये। 'तन्त्र' कहते हैं, अन्य देवता फल देते हैं परन्तु परिमित। पर दयासमुद्र श्रीरामचन्द्रके यहाँ रक्षाका, अभयदानका दरवाजा खुला है। दरवाजेपर आपने डुग्गी पिटवा रक्खी है कि—

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥'

'जो एक बार भी मेरी तरफ आ जाता है, मैं तुम्हारा हूँ यह कह देता है, उसे सब प्राणिमात्रसे अभय दे देता हूँ; यह मेरा व्रत है।'

कहिये, फिर ऐसे दयावतारको रक्षा करनेके स्थानपर वरण कर लिया जाय तब अधिक लोगोंकी रक्षा हो सकती है या फलके लिये बाँट-तराजू बगलमें दबाये देवताओंको रक्षक बनानेसे? श्री-रामने अपने यहाँ रक्षा करनेके विषयमें कोई शर्त ही नहीं रक्खी। कोई कार्य करें या न करें, प्रत्युत अकार्य करें परन्तु यदि भगवान्-

हे सौमित्रे ! यह पूर्वानुभूत सीताहरणका दुःख मुझे उतना नहीं व्यापता है जितना इस गृध्रके मरनेका, सो भी 'मत्कृते' 'मेरे लिये !'

कहिये, फिर ऐसा करुणामूर्ति रक्षा करने लायक माना जा सकता है या और कोई ?

दानके कामपर यदि कोई ऐसे बद्धमुष्टि महापुरुष विराज जायँ तो फिर देखिये कितने आदमियोंको दान मिलता है ? सब अपनी विद्या, बुद्धि, चतुराई उस गरीब ब्राह्मणकी परीक्षामें ही खर्च कर देते हैं जिसे केवल ब्राह्मणजातिमात्र न सही पुण्याहवाचनके मन्त्र बोलनेपर तो कुछ दे देना चाहिये था । पर वह उससे उन मन्त्रों-का अर्थ पूछते हैं, विनियोग पूछते हैं, वेद पौरुषेय हैं या अपौरुषेय, इसकी मीमांसा कराते हैं । उनका यदि शास्त्रोंका प्रचार, धर्मरक्षा यही उद्देश्य होता तब भी यह किसी तरह क्षम्य हो जाता । परन्तु उनकी इच्छा है कि किसी तरह यह ब्राह्मण फेल हो जाय तो पैसे बच जायँ । यह पैसा किसी महामहोपाध्यायको ही देंगे जो इससे कहीं बढ़कर योग्य है । देने हैं आपको चार आने पैसे और पातालतक पहुँचकर विद्याकी परीक्षा कर रहे हैं ! ऐसेको दानाध्यक्ष बनाकर पैसोंको चाहे बचा लीजिये परन्तु आपको आशीर्वाद कितनोंसे मिलेगा ? इसी प्रकार रक्षकके स्थानपर और भी देवता विराजते हैं परन्तु वह हिसाब कर-करके लोगोंको फल देते हैं । जिसका जितना पुण्य, जितना सत्कार्य होता है उसे काँटेमें तौलकर उसी मूल्यका उन्हें स्वर्गादि विनाशी फल देते हैं । फिर वह फल भी मिल ही जाता

हो, उसपर भी रक्षा करनेकी दीक्षा आपको जबरदस्ती खींच ले जाती है। श्रीरामने विभीषणको स्वीकार करनेके विषयमें सुग्रीव, हनूमान् आदि सभीके मत सुने। उन मतोंका बड़े धैर्यसे, अभिमानसे नहीं, बड़े आदरके साथ एक-एककी प्रशंसापूर्वक—

'अनधीत्य च शास्त्राणि वृद्धाननुपसेव्य च।
न शक्यमीदृशं वक्तुं यदुवाच हरीश्वरः॥'

'शास्त्रोंको बिना पढ़े, वृद्धोंकी सेवा बिना किये कोई इस तरहकी बात कह ही नहीं सकता जो उत्तम बात सुग्रीवने कही है।' यों उत्साह दे-देकर उनका आपने समाधान किया। यों कहिये उनका खण्डन किया। इस खण्डन-मण्डनमें कुछ समय तो लगना ही था। श्रीरामको यह विलम्ब बहुत अखर रहा था। आपका यह स्वभाव ही न था कि किसीकी उक्ति काटकर अथवा रोककर उसे असन्तुष्ट करते। परन्तु इस उत्तर-प्रत्युत्तरमें जो विलम्ब हो रहा था उसे भगवान् शरणागतके विषयमें अत्यन्त अनुचित समझते थे। अतएव जब बहुत-कुछ वाद-विवाद हो चुका तो कुछ हृदयमें खीझकर अन्तमें भगवान् बोले—अब अधिक दलीलकी क्या जरूरत है—

'आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥'

'हे हरिश्रेष्ठ! वह कोई भी क्यों न हो 'एनम्' 'उसको लाओ।' उसको मैंने अभय दे दिया। वह चाहे विभीषण हो अथवा स्वयं रावण ही क्यों न हो।

की तरफ 'सकृदेव प्रपन्नाय' एक दफा भी मुड़ गये तो बस बेड़ा पार है। फिर आपको कोई भय नहीं। श्रीशुक कहते हैं 'मृत्युरस्मादपैति' भय कैसा ? भयमूर्ति मृत्यु भी डरकर उससे भागती है!

इन्हीं गुणोंके कारण महर्षि वाल्मीकि गद्गद होकर कहते हैं 'शरण्यः' 'शरणं भवितुमर्हः कश्चिदस्ति चेत् स श्रीराम एव' 'रक्षक बनने लायक' कोई है तो वह हैं 'श्रीरामचन्द्र।' यही महर्षिका गूढ़ अभिप्राय था। इसीलिये 'शरण्य' न कहकर आप कहते हैं 'शरण्याय'।

शब्दके अर्थके विषयमें मैं समझता हूँ शब्दशास्त्रको ही आप प्रमाण मानेंगे। आप देख ही चुके हैं कि शब्दशास्त्रने 'शरण्य' शब्दका 'शरणे रक्षणे साधुः' यह अर्थ किया है। अर्थात् रक्षक सभी देवता हैं परन्तु रक्षणमें 'साधुः' अच्छे उत्कृष्ट श्रीराम हैं। 'शरणं भवितुमर्हः' 'रक्षक होने लायक' इस अर्थमें और देवताओंकी रक्षकतापर 'लायकी नहीं है' कहकर शायद आक्षेप भी समझा जाता हो परन्तु 'रक्षणे साधुः' इस व्युत्पत्तिमें तो किसीको भी विप्रतिपत्ति (दलील) न होनी चाहिये। 'रक्षा करनेमें उत्कृष्ट' ऐसा कहनेसे किसी देवताकी रक्षकतापर आघात नहीं पहुँचा। सभी देवता रक्षण करते हैं परन्तु श्रीराम 'रक्षणे साधुः' 'रक्षा करनेमें उत्कृष्ट हैं'। इससे रक्षाका 'तारतम्य' दिखाया। और देवता रक्षा करते अवश्य हैं परन्तु श्रीरामकी रक्षकता उत्कृष्ट है। वह उत्कर्ष यही है कि श्रीराम रक्षा करनेके आसनपर बैठकर भी अपनी अतुल दयाको नहीं भूलते। विरोधीसे भी विरोधी क्यों न

विश्व-प्रपञ्चमें जो कुछ विभूति है वह साक्षात् भगवान्की है ही। परन्तु दिव्यलोकोंमें वह विभूति प्रकट रहती है। मर्त्यलोककी वस्तुओंमें वह विभूति दिव्यलोकादिकी अपेक्षा कुछ विचारदृष्टिसे गम्य होनेके कारण उतनी प्रकट नहीं रहती। दिव्यलोकवासियोंकी शक्ति, गति (पहुँच) हमलोगोंकी अपेक्षा बहुत अधिक है। वह दिव्यज्ञानसम्पन्न हैं। वह यदि चाहें तो दिव्यविभूति भगवान्को हमारी अपेक्षा आसानीसे प्राप्त कर सकते हैं और करते हैं। सनकादि महर्षि इच्छा होते ही वैकुण्ठादि लोकोंमें जाकर भगवान्का दर्शन कर आते हैं। हमलोगोंके लिये पहले दिव्यलोकमें ही पहुँचना कठिन है। वहाँ पहुँच होनेके लिये पुण्य-तपश्चर्यादि अनेक कठिन-कठिन साधनोंकी वज्र-परीक्षाएँ पास करनी पड़ती हैं, तब कहीं दिव्यलोकके रास्तेसे भगवद्दर्शनकी चर्चा भी चला सकते हैं। किन्तु दिव्यलोकवासियोंके लिये यह बात नहीं। कालिदास क्या अच्छा कहते हैं—

'प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यद्वाञ्छन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी॥'

'जहाँ अच्छे-अच्छे कल्पवृक्ष (जो चाही हुई वस्तुको तत्काल देते हैं) हैं उस वनमें वह (दिव्यमुनि) पवनमात्र भोजनकर जीते हैं। स्वर्णकमलोंके परागसे विच्छुरित दिव्य नदियोंके जलमें स्नान करते हैं। रत्नशिलाओंसे बने गृहोंमें रहकर भगवद्ध्यान करते हैं।

कहना चाहिये था 'अभयं दास्यामि' 'अभय दूँगा' परन्तु आप आज्ञा करते हैं 'अभयं दत्तम्' । तुम्हारे अत्र दलील करनेसे क्या होता है ? मैं तो उसे पहले ही अभय दे चुका । तुम वहाँ जाकर तलाश करो और तुम्हें विदित हो कि वह दगा करनेकी नीयतसे स्वयं रावण ही विभीषणका रूप बनाकर आया है तो भी मैं तुम्हें कहता हूँ कि चाहे वह स्वयं रावण ही क्यों न हो, फिर मुझसे पूछने न आना कि यह तो रावण है लाऊँ कि न लाऊँ? जाओ, 'आनयैनं हरिश्रेष्ठ' 'हे हरिश्रेष्ठ ! उसको लाओ।' जिस दयासागरके हृदयमें इतनी गुंजाइश है कि वैरीके लिये भी खुल्लमखुल्ला कहते हैं 'दत्तमस्याभयं मया' । मेरा व्रत है कि जो एक वार भी मेरी ओर आ जाता है उसे मैं अभय दे देता हूँ । अब यह साक्षात् रावण मेरा वैरी ही क्यों न हो, अपनी प्रतिज्ञानुसार इसे 'अभयं दत्तम्' । विचार करनेके लिये अब अवसर ही कहाँ रह गया है जो मैं कहूँ कि 'दास्यामि' 'दूँगा' । आप तो कहते हैं 'दत्तम्' 'दे दिया' । इसी रक्षकताके उत्कर्षको सूचित करते हुए महर्षि 'शरण्य' न कहकर 'शरण्याय' कहते हैं ।

'शरण्याय' के आदिमें 'सर्वलोक' शब्द और लग रहा है । 'लोकस्तु भुवने जने' के अनुसार लोक शब्दके दो अर्थ हैं, स्वर्ग-मर्त्य-पातालादि भुवन और मनुष्य । पहला अर्थ 'भुवन' यह लिया जाय तो इसका अर्थ हुआ 'ऊपरके दिव्यलोक, मध्यम मर्त्यलोक, अधोभुवन अतलादि, इन सबके 'शरण्य' रक्षक होने लायक ।

भगवान् दिव्यस्वरूप, दिव्यगुण, दिव्यविभूति हैं । यों तो 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा' के अनुसार इस सम्पूर्ण

विश्व-प्रपञ्चमें जो कुछ विभूति है वह साक्षात् भगवान्‌की है ही। परन्तु दिव्यलोकोंमें वह विभूति प्रकट रहती है। मर्त्यलोककी वस्तुओंमें वह विभूति दिव्यलोकादिकी अपेक्षा कुछ विचारदृष्टिसे गम्य होनेके कारण उतनी प्रकट नहीं रहती। दिव्यलोकवासियोंकी शक्ति, गति (पहुँच) हमलोगोंकी अपेक्षा बहुत अधिक है। वह दिव्यज्ञानसम्पन्न हैं। वह यदि चाहें तो दिव्यविभूति भगवान्‌को हमारी अपेक्षा आसानीसे प्राप्त कर सकते हैं और करते हैं। सनकादि महर्षि इच्छा होते ही वैकुण्ठादि लोकोंमें जाकर भगवान्‌का दर्शन कर आते हैं। हमलोगोंके लिये पहले दिव्यलोकमें ही पहुँचना कठिन है। वहाँ पहुँच होनेके लिये पुण्य-तपश्चर्यादि अनेक कठिन-कठिन साधनोंकी वज्र-परीक्षाएँ पास करनी पड़ती हैं, तब कहीं दिव्यलोकके रास्तेसे भगवद्दर्शनकी चर्चा भी चला सकते हैं। किन्तु दिव्यलोकवासियोंके लिये यह बात नहीं। कालिदास क्या अच्छा कहते हैं—

'प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यद्वाञ्छन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी॥'

'जहाँ अच्छे-अच्छे कल्पवृक्ष (जो चाही हुई वस्तुको तत्काल देते हैं) हैं उस वनमें वह (दिव्यमुनि) पवनमात्र भोजनकर जीते हैं। स्वर्णकमलोंके परागसे विच्छुरित दिव्य नदियोंके जलमें स्नान करते हैं। रत्नशिलाओंसे बने गृहोंमें रहकर भगवद्ध्यान करते हैं।

देवाङ्गनाओंके पास रहकर संयम (इन्द्रियविजय) रखते हैं।' अतः कविका कहना है कि जिस स्थानको भूमिष्ठ महर्षि तपस्याओं-के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं उस स्थानमें रहते हुए यह महर्षि और भी आगे बढ़नेके लिये तपस्या कर रहे हैं।

कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌को उपनिषद् 'दिव्योप-सृप्य' दिव्य लोकोंसे प्राप्तव्य कहती हैं। अतएव भगवत्साक्षात्कार, भगवान्‌के द्वारा की हुई रक्षासे लाभ, दिव्य लोकनिवासी ही उठा सकते हैं।

और दूसरे वहाँ ब्रह्मादि देवता भी तो रहते हैं। थोड़ा-सा भी संकट पड़नेपर वहाँकी प्रजा उनके पास जा पुकारती है। तारकासुरकी मारका बाजार जरा ही गर्म होने लगा था कि देवता लोग—'तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः' 'इन्द्रको आगे करके ब्रह्माजीके स्थानपर जा पहुँचे'! जो काम ब्रह्माजीके साध्य हुआ वह उन्होंने निबटा दिया और जो उनसे भी नहीं बन पड़ता उसके लिये ब्रह्माजीको साथ लेकर त्रैलोक्यनाथ नारायणके पास जा पहुँचते हैं। यों दिव्य लोकोंमें तो रक्षाके द्वार कई खुले हैं परन्तु इस मर्त्यलोकमें क्या उपाय है जो हम अपनी रक्षाकी पुकार भगवान् नारायणतक पहुँचा सकें? परन्तु आप दयाके सागर हैं। वास्तवमें आप 'सर्वतश्चक्षुः' (सब तरफ नेत्रवाले) हैं। अतएव हमारी भी दीन दशा आपसे छिपी नहीं रहती। हम-सरीखे निरुपाय जीवोंके उद्धारके लिये भी आप कृपा करते हैं। अवतार लेकर इस मर्त्यलोकमें पधारते हैं। चाहे ऊपरसे और-और कारण

दिखायी देते हों परन्तु आपका यहाँ अवतार लेनेका प्रधान प्रयोजन यही है कि भक्तोंको लीला-गुणानुवादसे विनोद हो और निरुपाय जीवोंका उद्धार हो। जब यह आपका अनुग्रह है तब हमको निश्चय हो गया कि आप केवल दिव्यलोकनिवासियोंको ही आश्रय देनेवाले नहीं, मर्त्यादि लोकोंपर भी वही आपकी दीनसञ्जीवनी करुणादृष्टि है। इसी आशयको लेकर विभीषण सुग्रीवादिके द्वारा सूचित कराते हैं—'सर्वलोकशरण्याय' 'चतुर्दश भुवनोंकी रक्षा करने लायक' श्रीरामचन्द्रको मेरी खबर कर दीजिये।

दूसरा अर्थ होता है—'सर्वलोकशरण्याय' 'सब मनुष्योंके लिये शरण्य, शरण जाने योग्य'। किसी भी देवताके पास जाना हो तो पासमें पहले पुण्यकी पूँजी होनी चाहिये। अन्यथा वहाँ पहुँच ही नहीं हो सकती। सत्कार्यानुष्ठानके लिये अधिकारकी भी जरूरत है। पहले यों ही देखिये न—वेद पढ़नेके लिये बालकको गुरुके पास ले गये। गुरुजीने पूछा—'क्यों, इसका उपनयन तो हो गया है न?' कहा—'नहीं'। गुरुजीने लौटा दिया कि 'यज्ञोपवीतसंस्कारके बिना वेदाध्ययनका अधिकार नहीं है।' महर्षि विश्वामित्रके तपःप्रभावकी क्या पूछते हैं? ब्रह्माजीको अलग करके उन्होंने दूसरी सृष्टि-रचना ही करना शुरू कर दिया था। ब्रह्मा भी अपने अधिकार छिननेके भयसे काँपने लगे थे। उन्हीं विश्वामित्रने अपनी तपस्याके बलसे त्रिशङ्कुको सदेह स्वर्ग भेजना चाहा किन्तु दरवाजेपर ही रुकावट हो गयी कि तुमको स्वर्गमें जानेका अधिकार नहीं! महर्षिने तो बहुत ही चाहा था

परन्तु बेचारा त्रिशङ्कु न स्वर्गका रहा, न मर्त्यका। सदाके लिये बीचमें लटकता हुआ दुनियाके लिये दृष्टान्त बन गया कि—

'त्रिशङ्कोरुपभोगाय न द्यौरपि न गौरपि।'

'त्रिशङ्कु न भूमिका उपभोग कर सका, न स्वर्गका।'

अधिकारके बिना हर एक देवताका आराधन भी तो नहीं होता। और बिना आराधनाके, बिना साधनाके देवता प्रसन्न नहीं होते। सार बात यह है कि तुम अच्छे होगे तो तुम्हारी वहाँ पहुँच होगी, अन्यथा नहीं। तुमने पुण्य किये हैं तो देवता तुमको उसके अनुसार फल दे देंगे, अन्यथा 'अपनी करनी पार उतरनी'। बुरा माने चाहे भला, देवता तो एक तरहके व्यापारी हैं व्यापारी, वह भी फलोंके! (यानी माली) जो पुण्यका सिक्का परखकर पीछेसे फल देते हैं। उनकी तो यहाँतक लीला बढ़ी हुई है कि योग्यता देखे बिना, अधिकारके बिना, अपने मन्दिरतकमें नहीं चढ़ने देते। वह तो क्या, उनके पैरोकारतक ऐसे हैं जो दरवाजेकी सीढ़ीपरसे ही अनधिकारी लोगोंको ढकेल देते हैं। देवताओंमें यह जाति-पाँतिका झगड़ा आजका थोड़े ही है! सदासे देवताओंकी पञ्चायतमें जाति और कर्मोंका टंटा चलता आया है। यहाँतक कि देवताओंमें दलबंदीतक हो जाती थी। 'अश्विनीकुमार' देवताओंके वैद्य हैं। वैद्य होनेके कारण सब देवताओंकी पञ्चायतमें इनकी यज्ञाहुति बंद थी। जब इन्होंने महर्षि च्यवनका इलाज किया और वह प्रसन्न हो गये तब उनके तपोबलसे यज्ञभाग पानेका उपक्रम किया गया था।

यही क्यों, सब देवताओंके स्वामी इन्द्रतक स्वयं इस कर्म-बन्धनमें पड़े हुए हैं। उनके हाथसे विश्वरूप मारा गया, तब देवताओंने उन्हें अपने समाजसे अलग कर दिया, यहाँतक कि वह स्वर्गसे हटा दिये गये। जब देवता जाति-पाँति-कर्मोंकी कैदमें स्वयं इस तरह घुटे हुए हैं तब उनसे क्या आशा की जाय कि जो सब भाँतिसे हीन, दीन, असहाय हैं उनका वह उद्धार करेंगे। किन्तु विभीषण कहते हैं मुझे दृढ़ विश्वास है कि भगवान् श्रीरामचन्द्र कुल, विद्या, आचरण 'आदि किसीकी भी ओर न देखकर अपने व्रतकी तरफ देखेंगे, जो आपने लिया है। आपका प्रतिज्ञावाक्य है—

'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥'

निषाद गुह कौन-सी उन्नत जातिके थे, जो उनपर यहाँतक कृपा की कि उनसे आप छाती-से-छाती लगाकर मिले। गृध्रादिमें ऐसा कौन-सा विद्या-वैभव था जिसके कारण जो सम्मान महाराज दशरथको भी नहीं मिला, वह दिया और जिनके कष्टको विचार-कर आपके घंटों आँसू नहीं रुके। मैं श्रीरामके स्वभावको जानता हूँ। आप जाति, गुण, आचरणादि किसीका विचार न कर, जो आपकी तरफ एक वार भी अभिमुख हो जाते हैं उन सब मनुष्योंको आश्रय देनेवाले हैं। इसी दृढ़ विश्वाससे विभीषण कह रहे हैं 'सर्वलोकशरण्याय' 'सब मनुष्योंके लिये शरण देनेवाले'।

आगे पद है 'राघवाय' (रघुवंशमें उत्पन्न हुए श्रीरामके लिये)। भगवान्का साक्षान्नामनिर्देश न कर वंशका नाम लेना

भी प्रयोजनसे है। विभीषण व्यञ्जनासे सूचित कर रहे हैं कि आप उस कुलमें उत्पन्न हुए हैं जिस कुलके एक-एक बच्चेको भी यह अभिमान है कि—

'किं त्वर्थिनामर्थितदानदीक्षा-
कृतव्रतश्लाघ्यमिदं कुलं नः।'

'हमारा कुल वह है जो अर्थी चाहे कैसा भी प्रयोजन लेकर आवे उसके मनोरथकी पूर्ति कर देना, इस दानदीक्षाके व्रतको लिये हुए है और इसीसे अपनी प्रशंसा भी समझे हुए है।'

महाराज रघुके पास जिस समय कौत्स ऋषि कुछ माँगने आये थे उसके पहले ही वह यज्ञमें अपने सम्पूर्ण राज्यका धन दान कर चुके थे। यह दशा थी कि जहाँ सोनेके पात्रोंमें अर्घ्य दिया जाता था वहाँ किसी धातुपात्रकी भी क्या कथा, मिट्टीके पात्रमें ऋषिके लिये अर्घ्य आया। अर्घ्यपात्र देखकर ही ऋषि समझ गये कि यहाँ मनोरथपूर्तिकी आशा नहीं। मामला उनका थोड़ा-बहुत न था। वह चौदह करोड़ अशर्फी चाहते थे! ऋषि जिस समय दूसरे स्थानपर जानेके लिये तैयार हुए उस समय रघु बोले—'रघुके पाससे निराश होकर याचक दूसरेके पास माँगने जाय, मेरे लिये इससे बढ़कर कलङ्क नहीं। आप ठहरिये, आपका मनोरथ चाहे जितना बड़ा हो, उसे मैं ही पूर्ण कर दूँगा*।'

---

* गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः॥

विभीषण कहते हैं उसी प्रसिद्ध कुलमें आप उत्पन्न हुए हैं। अतएव आपके दरबारसे अर्थी विमुख लौट जाय, यह आशङ्का ही नहीं। इसीको सूचित करते हुए महर्षिने कहा 'राघवाय'।

शरणागतिमें 'शरण्य' (शरण देनेवाले) के दो गुण देखे जाते हैं—सुलभत्व और परत्व। शरण देनेकी प्रतिज्ञा तो कर रक्खी है परन्तु वह सुलभ ही न हुए, उनतक किसीकी पहुँच ही न हो सकी तो रक्षा करनेके अवसर ही कितने मिलेंगे? सुमेरु सोनेका है परन्तु उसतक कौन-कौन पहुँच सके हैं? अतएव आवश्यक है कि वह सुलभ हो। और सुलभ तो हुए परन्तु पूर्ण सामर्थ्य न हुआ तो हम उनकी शरण लेकर ही क्या करेंगे? मिट्टीके ढेले जहाँ चाहे मिल जायँगे परन्तु वे सोनेका काम कहाँसे देंगे? इसलिये शरण्यमें दूसरा गुण होना चाहिये 'परत्व' (उत्कर्ष, सामर्थ्य)। वाल्मीकि भगवान् श्रीरामचन्द्रमें दोनों गुण दो पदोंसे बताते हैं। वे पद हैं 'राघवाय', 'महात्मने'। भगवान् श्रीरामचन्द्र 'महात्मा' हैं, महान् (परम) आत्मा हैं। निखिल हेय प्रत्यनीक हैं, 'हेय' 'त्याग करने लायक' जो सब दोष हैं उनसे दूर हैं। और ज्ञान-भक्ति आदि जो अनन्त कल्याणगुण हैं उनके एकमात्र स्थान हैं। वेदान्त जिसे 'यत्तदनिर्देश्यम्' किसी तरह भी निर्देश नहीं कर सकने लायक कहते हैं—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'

जहाँ वाणी और मनतककी पहुँच नहीं, वही साक्षात्परमात्म-स्वरूप हैं।

किन्तु ऐसे परमात्माकी शरणमें जानेका अवसर ही नहीं मिलता था, इसलिये सबको शरण देनेके लिये आप अवतार लेकर रघुकुलमें उत्पन्न हुए हैं। इस तरह शरण्यके दोनों गुण स्पष्ट सूचन करनेके लिये कहा—'राघवाय', 'महात्मने'।

'महात्मा' का लोकमें प्रसिद्ध अर्थ है 'जिसके अन्तःकरणमें बड़ी गुंजाइश हो।' जो सबको निर्वैरदृष्टिसे देखता हो, और तो क्या जिसके निवासस्थानके आस-पास भी हिंसा-भावकी पहुँच न हो, जहाँ सिंह और गौ प्रेमभावसे रहते हों। श्रीरामकी भी हृदयकी उदारता देखिये। आप कहते हैं—'जो मेरी तरफ चला आयेगा, चाहे कोई क्यों न हो, यहाँतक कि 'यदि वा रावणः स्वयम्' स्वयं जगत्पीडक सीतापहारी रावण भी आ जाय तो उसके लिये भी अभयका द्वार खुला है। महर्षि सूचित करते हैं कि दयालु श्रीरामचन्द्रके दरबारमें प्राणिमात्रके लिये अभयदानका दरवाजा खुला है। चाहे कैसा भी अपराधी क्यों न हो, वह भी उनके आश्रयमें शान्ति पानेका अधिकारी है। प्राणिमात्रके नातेसे रावणको भी उस आश्रयको पानेका अधिकार था परन्तु उसको उसे प्राप्त करनेकी रुचि न थी। सूर्य सबको समानरूपसे अपना प्रकाश पहुँचाता है परन्तु यदि कोई उल्लू उसे पसन्द न कर अन्धकारमें ही पड़ा रहना चाहे तो क्या इसमें सूर्यकी कृपणता समझी जायगी? श्रीराम तो किञ्चिन्मात्र अभिमुख होनेकी प्रतीक्षा करते हैं अतएव उनकी उदारताको सूचन करनेके लिये विशेषण दिया—'महात्मने'।

आगे है 'माम्' मुझ विभीषणको। 'विभीषण उपस्थित हुआ है', केवल इतना कहनेसे कदाचित् यह समझा जाय कि 'पहले किसी दूसरेको भेजा है, आप मनोभाव जानकर पीछेसे आयेगा।' सो नहीं। 'माम्' मैं स्वयं हाजिर हूँ।

'विभीषण' कहनेका तात्पर्य यह था कि मैं रावणकी तरह प्रतिकूल नहीं। 'विभीषणस्तु धर्मात्मा' इत्यादि मेरे सम्बन्धकी बातें आपलोगोंसे क्या छिपी हैं। कम-से-कम श्रीमारुतिने तो अवश्य ही मेरा कुछ परिचय दिया होगा।

'उपस्थितम्' से यह सूचन किया कि श्रीरामके दरबारमें तो उपस्थित होनामात्र अङ्गीकारके लिये पर्याप्त है, गुण-दोषकी परीक्षा आवश्यक नहीं। क्योंकि आप कहते हैं 'सकृदेव प्रपन्नाय' जो एक बार भी 'आ जाता है' उसे। अतएव मेरी तरफका जो कर्तव्य 'उपस्थान' था, वह मैं कर चुका। अब आगे अपने कर्तव्यकी आप जानें। इसी अभिप्रायसे विशेषण दिया 'उपस्थितम्'।

आगे कहते हैं—'निवेदयत' 'मुझ विभीषणका आना सूचित कर दीजिये'। वाह! सुग्रीवादि क्या आँख मूँदे बैठे थे जो उन्होंने आगमन न देखा हो। उन्होंने प्रत्यक्ष देख लिया था कि कोई आया है। फिर ऐसे स्थलपर तो विभीषणके नाममात्र सूचनकी आवश्यकता थी, आना तो प्रत्यक्ष ही था। परन्तु इस आगमन-निवेदनसे ध्वनिद्वारा प्रयोजन सूचित किया जाता है कि 'मैं आ गया हूँ' मेरे अपराधोंको न देखकर, अपने प्रतिज्ञानुसार मुझको अपनी शरणमें लें, अपनी किंकरताका अधिकार दें।' थोड़ी

दरवाजेपरसे कहलाता है कि 'अन्दर खबर कर दीजिये मैं आ गया हूँ ।' इसका क्या आप यह अर्थ नहीं समझ लेते हैं कि 'वह कहता है धोनेके लिये कपड़े दे दीजिये ।' इसी अपने गूढ़ स्वार्थ-को सूचित करते हुए कहते हैं—'निवेदयत' ।

'सूचयत' 'ज्ञापयत' इत्यादि न कहकर 'निवेदयत' कहनेसे और भी ध्वनित होता है कि—'मैंने जिस दिनसे भगवान् श्री-रामचन्द्रके अलौकिक गुण श्रवण किये उसी दिनसे मेरा मन उनकी तरफ झुक गया था । मैं अवसर देख रहा था कि किसी दिन श्रीरामके दर्शन करूँ । जैसे ही लंकाधिपतिने मेरा तिरस्कार किया, मैंने भी हितकी भावनासे ही सही, उनको अकथ्य बातें कहीं, उसी समय मैंने सोचा अब लंकेशके क्रोधसे बचनेका यही उपाय है कि श्रीरामकी शरण चला जाऊँ । बस, वहीं मैंने तो श्रीरामको 'आत्मनिवेदन' कर दिया । इस हिसाबसे मैं तो रामका हो ही चुका । और श्रीरामने तो आश्रय देनेका व्रत ही ले रक्खा है । अब आपलोग आगे होकर यदि मेरे इस 'आत्मनिवेदन' को निवेदन कर देंगे तो आपका भी अहसान रह जायगा । इस बहती गङ्गामें आप भी हाथ पखार लीजिये । इसी 'आत्मनिवेदन' को सूचित करते हुए महर्षि कहते हैं 'निवेदयत मां क्षिप्रम् ।' भक्ति-की गणनामें साफ ही गिनाया है 'सख्यमात्मनिवेदनम् ।'

'निवेदयत' के साथ है 'क्षिप्रम्' (बहुत जल्दी)—घोर ग्रीष्मके मध्याह्नमें दूरसे चलकर जिस समय हम आते हैं और रास्तेकी भयंकर प्यासको किसी तरह रोककर जब सामने शीतल,

सुगन्ध, स्वच्छ, मिष्ट जल देखते हैं तब उसके लिये हमको कितनी तड़फड़ाहट होती है। ज्यों-ज्यों देर होती है हमारी व्याकुलता कितनी बढ़ जाती है! बस, इसी तरहके विभीषणके हार्दिक सन्ताप और उत्कण्ठाको सूचित करते हुए महर्षि कहते हैं— 'क्षिप्रम्' 'जल्दीसे निवेदन कीजिये।'

अथवा—मैं तो आत्मनिवेदन पहले ही कर चुका हूँ। और भगवान्का यह व्रत ही है कि जो कोई मेरी तरफ आता है उसे मैं आश्रय देता हूँ। अतएव शरणागतवत्सल भगवान्ने जहाँ मेरे इस आर्तस्वरको सुन पाया कि फिर मेरे बुलानेमें क्षणका भी विलम्ब न होगा। परन्तु उस दशामें आपलोगोंका कोई अहसान नहीं रहेगा। अतएव जहाँतक श्रीरामचन्द्र न बुलावें, उससे पहले ही जल्दीसे जाकर निवेदन कर दीजिये जिसमें कि मैं आपके इस मित्रकर्तव्यको जन्मभर न भूलूँ। इसी अभिप्रायसे विभीषण कहते हैं 'क्षिप्रम्'।

सुग्रीवका श्रीरामके पास पहुँचना

विभीषणके इस वचनको सुनकर शिविररक्षाके नायक, शीघ्रगामी सुग्रीव भगवान् श्रीरामचन्द्रके समीप पहुँचे। उनकी भगवान् श्रीरामचन्द्रमें अत्यन्त प्रीति थी। अत्यन्त स्नेहीके हृदयमें अनिष्टकी शङ्का पद-पदमें हुआ ही करती है। इसलिये स्नेहातिशयसे रामकी अमोघ शक्तिको भूलकर 'पता नहीं, शत्रुपक्षसे आया हुआ यह क्रूरहृदय क्या अनिष्ट कर डाले' इस भय-व्याकुलताके कारण बड़ी हड़बड़ाहटसे वह निवेदन करने लगे।

महर्षिने यहाँ कहा है 'लक्ष्मणस्याग्रतः' 'श्रीलक्ष्मणके सम्मुख।' तात्पर्य यह है कि श्रीराममें सुग्रीवकी जितनी प्रीति थी उससे कई गुनी अधिक श्रीलक्ष्मणकी थी। इसलिये रामहिताकांक्षी श्रीलक्ष्मण अवश्य मेरी इस समय सहायता करेंगे, शत्रुपक्षसे आये हुए विभीषणको कभी नहीं आने देंगे, इसीलिये कहते हैं 'लक्ष्मणस्याग्रतः'।

१९ से लेकर २९ तकके ११ श्लोकोंमें सुग्रीवका वक्तव्य है। इसमें राजनैतिक दृष्टिसे उन्होंने जो कुछ कहा है, उसका सारांश यह है कि—'आपको राजनीतिके अनुसार मौकेकी सलाह करना, दूतोंका प्रेषण, सेनाका समुचित सन्निवेश इत्यादि कार्योंमें सावधान रहनेकी आवश्यकता है। इसीमें आपका और आपके सहायक वानरोंका हित है। राक्षसलोग बड़े मायावी होते हैं। नाना रूप बना सकते हैं। इनका विश्वास करना उचित नहीं। जहाँतक सम्भव है यह रावणका भेजा हुआ होगा, जो यहाँ भेद लेने आ रहा है। और यह भी कोई आश्चर्य नहीं कि यह स्वयं रावण ही हो, जो विश्वास पैदा करनेके बाद मौका देखकर घात करे। इसने जो कुछ अपने मुखसे कहा है उससे यह मालूम हुआ है कि यह विभीषण नामका रावणका छोटा भाई है, जिसके साथ चार राक्षस भी आये हैं। मेरी समझसे जरूर यह रावणका भेजा हुआ है, छलसे यहाँ आया है। अवसरपर दगा देगा। विभीषणके द्वारा शत्रुपक्षका कुछ भेद मालूम होनेसे आगे सहायता मिले, ऐसी आशा करनी भी उचित नहीं। क्योंकि नीतिका सिद्धान्त है कि अपने मित्र, भृत्य आदिके पक्षसे जो सहायता मिले वही ले। शत्रुपक्षवालोंसे किसी प्रकारका सम्पर्क न रक्खे। अतएव मेरी

रायमें इसको ऐसा तीव्र दण्ड देना चाहिये कि जिसे यह भी याद रक्खे।'

श्रीरामकी वानरोंके साथ सलाह

भगवान् श्रीरामचन्द्रने संरम्भमें भरे हुए सुग्रीवका यह भाषण बड़े धैर्यसे सुना। समीपमें बैठे हुए श्रीमारुति प्रभृतिकी ओर दीनसञ्जीवनी स्निग्ध-दृष्टि डालते हुए आपने कहा—'कपिराजने रावणानुजके विषयमें जो कुछ कहा है वह 'भवद्भिरपि च श्रुतम्' 'आपलोगोंने भी सुना ही है।' उनका वाक्य हेतुयुक्त है। उन्होंने अपने वक्तव्यमें नीतिके उपयुक्त ही सब उपपत्तियाँ दी हैं। कर्तव्य और अकर्तव्यके संकट उपस्थित होनेपर मित्रोंको केवल समुचित सलाह ही नहीं 'उपसन्देष्टुं युक्तम्' 'उचित उपदेश भी देना आवश्यक है।' किन्तु इस विषयमें आप सब लोगोंका क्या-क्या अभिमत है, यह मैं जानना चाहता हूँ।' यों बड़े आदर और स्नेहके साथ जब आपने प्रश्न किया तो सभी समीपस्थितोंने सविनय यह निवेदन किया कि—'आपसे छिपा हुआ क्या है ? त्रिलोकीकी सब बात आप जानते हैं किन्तु 'आत्मानं सूचयन् राम पृच्छस्य-स्मान् सुहृत्तया' 'हमलोगोंके साथ अपना मित्रभाव सूचित करके हमारा सम्मान बढ़ाते हुए आप ऐसा पूछ रहे हैं।' कहीं 'आत्मानं पूजयन्' ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ है 'आत्मानं आत्मस्वभावं पूजयन् पालयन्' आपका स्वभाव है कि सभी आत्मीयोंको अन्तरङ्ग बनाते हुए आप उन्हें सम्मान दिया करते हैं। अतएव अपने दक्षिण स्वभावके अनुसार आपने ऐसा प्रश्न किया है। अथवा—

'सुहृत्तया शोभनहृदयतया आत्मानं पूजयन् ख्यापयन् पृच्छसि' कार्याकार्यविचारमें हम सब लोगोंकी अपेक्षा आप ही शोभनहृदय हैं अर्थात् आपके हृदयका ही लक्ष्य ठीक स्थानपर पहुँचता है, यह अपना प्रभाव प्रकट करनेके लिये आप ऐसा प्रश्न कर रहे हैं।

वानरोंके इस कथनमें भी बड़ा गूढ अर्थ भरा हुआ है। भगवान् श्रीरामचन्द्र राजनीति-चतुर, दक्षिण नायक हैं तो उनके पारिपार्श्विक भी उन्हींकी सेवाके समुचित मार्मिक सचिव हैं। वे इस कथनसे ध्वनित करते हैं कि आप हमलोगोंसे हमारे मत पूछ-कर उन्हें पूर्वपक्ष बनाते हुए अपने हृदयके अभिमतको सिद्धान्त करना चाहते हैं। अर्थात् इस समय जो कुछ कर्तव्य है वह तो आपने अपने हृदयमें पहलेसे ही स्थिर कर रक्खा है किन्तु हम-लोगोंसे मत पूछकर उनके द्वारा उस कर्तव्यको सिद्धान्तित करना चाहते हैं। 'सब लोगोंके यह मत यद्यपि यहाँ उपस्थित हैं किन्तु यहाँ सिद्धान्त होना यही उचित है' यह दिखाना चाहते हैं, सो ठीक है। हमारे सब मत पूर्वपक्षकोटिमें रहकर दुर्बल सिद्ध होंगे और सिद्धान्त रहता हुआ आपका ही विचार यहाँ ठीक है, यों आपका गौरव सबपर प्रकट हो जायगा। अतएव यहाँ महर्षिके अक्षर हैं 'आत्मानं पूजयन्' 'बाहर चाहे आप हमारी प्रतिष्ठा सूचित करते हों किन्तु वास्तवमें आप अपना ही प्रभाव प्रकट करते हुए ऐसा पूछ रहे हैं।' आप सत्यव्रत हैं, 'सुहृत्सु निसृष्टात्मा' हैं, मित्रोंपर सब कुछ भरोसा रखते हैं, परीक्ष्यकारी हैं अर्थात् सब कुछ सोच-विचारकर करनेवाले । यहाँ ध्वनिसे सूचित करते हैं कि 'हमको दृढ़ [illegible]गतको आश्रय देनेके इस अपने व्रतको आप

कभी शिथिल नहीं करेंगे, किन्तु अपने आत्मीयोंका भरोसा करते हुए अपने सिद्धान्तकी परीक्षा करके ही आप आगे कुछ करना चाहते हैं ।'

अनन्तर प्रत्येक सचिव अपना-अपना मत कहने लगे । पहले युवराज अङ्गदने कहा—'शत्रुके पक्षसे यह आ रहा है इसलिये यह शङ्कनीय अवश्य है । नीतिके अनुसार इस समय सूक्ष्म विचार करना आवश्यक हो पड़ा है । मेरी रायमें आगत व्यक्तिके संग्रहमें गुण-दोषोंका विचार कर लेना चाहिये । यदि इसके लेनेमें गुण अधिक है तब यह चाहे शत्रुपक्षका ही क्यों न हो, लाभकी दृष्टि-से ले लेना चाहिये । और यदि दोष हैं तो फिर निःशङ्क त्याग कर देना चाहिये ।'

शरभका मत हुआ कि—'पहले इसके पास गुप्तदूत भेजना चाहिये, परीक्षा करके फिर स्वीकार करना उचित है ।'

जाम्बवान्ने तो साफ कह दिया कि—'जिससे हमारा दृढ़ वैर बँध चुका और जो सर्वत्र पापकारी नामसे प्रसिद्ध है उस रावणके पाससे यह आ रहा है और ऐसे समयमें जब कि उसपर सङ्कट है, तब अनवसरपर आये हुए इसपर हमें पूर्ण शङ्का ही होनी चाहिये ।'

नीति-तत्त्वज्ञ मैन्दने कहा कि—'यह रावणका भाई बतलाया जाता है अतएव मेरी रायमें इससे शान्तिपूर्वक पहले बातचीत करनी चाहिये । बातचीतमें इसके मनका भाव विदित हो जायगा ।

यदि यह दुष्ट है तो त्याग देना चाहिये और यदि इसमें दोष साबित न हों तो इसका संग्रह होना उचित है।'

श्रीमान् मारुति सब बातें चुपचाप सुनते रहे। जब उनका अवसर आया तब बड़े धैर्यसे विचारपूर्वक कहने लगे। महर्षि उनके लिये कहते हैं—'संस्कारसम्पन्नः'। अन्यान्य सचिवोंने तो नीतिशास्त्रके अनुसार जो कुछ बात ध्यानमें आयी वही कह दी थी, किन्तु इन्होंने उस नीतिका भी अपने विवेकके अनुसार संस्कार (परिष्कार) कर लिया था अर्थात् नीतिमें जो कुछ परिष्कृत उदार नीति थी उसके यह पक्षपाती थे, इसीलिये इनको विशेषण देते हैं 'संस्कारसम्पन्नः'। श्रीहनूमान् बहुत अर्थवान् होनेपर भी स्वल्पाक्षर वचन कहने लगे—'मुझे निश्चय है कि इस विषयमें अनुकूल सम्मति देते हुए बृहस्पति भी आपसे आगे नहीं बढ़ सकेंगे। मुझे न किसीके मतकी स्पर्द्धा है और न मुझे विवाद ही अभीष्ट है। मेरी समझमें जो कुछ इस समय आया है वह निवेदन करना ही पड़ेगा, क्योंकि 'तव गौरवात्'। आपने मुझे भी अपने सलाहकारोंमें सम्मिलित करके सम्मान दे रक्खा है। उस आपके दिये हुए गौरवके कारण जो कुछ इस समय सूझ पड़ा है वही निवेदन करता हूँ।' सचिवोत्तम हनूमान्ने यद्यपि प्रत्येकके मतकी आलोचना कर डाली थी किन्तु किसीका भी नाम निर्देश न कर वह अपने विचारानुसार उन-उन मतोंके गुण-दोष निवेदन करने लगे। कहा कि—'इस आगत व्यक्तिके स्वीकारमें इसके गुण-दोषोंकी परीक्षा करनेका इस समय अवकाश नहीं। क्योंकि जब-तक किसी काममें किसीको नियुक्त नहीं किया जाता तबतक उसके

सामर्थ्यकी, उसमें रहनेवाले गुण-दोषोंकी परीक्षा कैसे हो सकती है ? और इसको किसी काममें सहसा विनियुक्त कर देना भी उचित नहीं प्रतीत होता। अतएव गुण-दोषकी परीक्षापूर्वक संग्रह करना यहाँ ठीक नहीं बनता।

[अङ्गदका मत था कि गुण-दोष जाँचकर इसको स्वीकार करना चाहिये। मारुति उस मतका चातुर्यसे खण्डन करते हुए कहते हैं कि इस मतमें अन्योन्याश्रय दोष है। जबतक गुण-दोष न जाँच लिये जायँ तबतक न तो इसको स्वीकार किया जा सकता है और न किसी कामपर मुकर्रर ही किया जा सकता है और जबतक किसी कामपर विनियुक्त न किया जाय तबतक इसके गुण-दोषकी वास्तविक परीक्षा ही कैसे हो सकती है]।

अनवसरमें यह आया है इसलिये इसका विश्वास ही न किया जाय, यह बात भी नहीं जँचती। क्योंकि रावणमें इसने बहुत कालसे दोष-ही-दोष देखे हैं और आपके पराक्रम आदि गुण वाली-सदृश वीरोंके दमनसे सब जगह प्रसिद्ध हो चुके हैं। अतएव दोषीका त्याग करके आप जगद्विख्यात, पराक्रमीके पास इस समय इसका आ जाना क्या अनवसर कहा जा सकता है ?

दूत भेजकर 'तुम कौन हो, कैसे आये हो' इत्यादि पूछा जाय यह भी ठीक नहीं मालूम होता। क्योंकि आते ही 'तुम कैसे आये हो ?' इत्यादि प्रश्नोंसे बुद्धिमान् पुरुषको शङ्का हो जाती है। फिर शंकितचित्त पुरुष अपने हृदयका भाव सच्चा-सच्चा कहेगा ही कैसे ? तब दूतद्वारा प्रश्नसे क्या फल हुआ ? इस प्रश्नके पक्षमें और

भी एक दोष है। यदि अपना मित्र हुआ तो उससे आते ही 'तुम कैसे आये हो' यह प्रश्न करना उचित नहीं, क्योंकि मिलनेसे पहले 'तुम कैसे आये हो ?' इस प्रश्नसे मित्रको दुःख होता है। दूसरे यह भी तो कठिन है कि दूत जाते ही जान जाय कि यह मित्र है या शत्रु। किसीके मनके भावको जान लेना क्या इतना सहज है ? इसलिये हनूमान् कहते हैं कि मुझे तो इस आगत व्यक्तिपर बुरा सन्देह है ही नहीं। क्योंकि इसके कथनमें कोई दुष्टभाव नहीं पाया गया। स्वरमें भी कोई कपटका चिह्न नहीं प्रतीत हुआ और इसके मुखपर प्रसन्नभाव स्पष्ट दिखायी दे रहा है जो दगा करनेवालेके मुखपर कभी नहीं देखा जाता। दुष्ट भाववाला आदमी अपने मनके भावको चाहे जितना छिपावे, उसके आकार-प्रकारसे उसका वह भाव प्रतीत हुए बिना नहीं रहता। मैं तो समझता हूँ कि इसके यहाँ आनेका यह अवसर भी है। जब इसने यह सुना कि बाली-सदृश पराक्रमीको श्रीरामने सहज ही मारकर उसके स्थानपर सुग्रीवको बैठा दिया है और सुग्रीवसे पूर्ण मित्रता भी कर ली है, तब निरन्तर दोषी और जगत्‌मात्रको पीड़ित करनेवाले रावणको छोड़कर यह किसी आन्तरिक आशासे यहाँ आया हो तो कोई नवीन बात नहीं। अतएव मेरी सम्मति तो इसके स्वीकारके पक्षमें है, आगे आप स्वामी हैं। आपसे बढ़कर नीति-तत्त्वज्ञ और कौन होगा ?' [श्लो० ६८, यु० का० १७ वाँ सर्ग]

भगवान् श्रीरामचन्द्र प्रसन्न होकर सबका मत सुन रहे थे। जब वायुतनय यह कह चुके तब आप बड़े विनयसे अपना अभिमत कहने लगे। महर्षिने यहाँ कहा है—'आत्मनि स्थितं

प्रत्यभाषत' अर्थात् इस सलाहको लेनेके पहले ही आपने अपना कर्तव्य अपने मनमें स्थिर कर लिया था। शरणागत विभीषणको आश्रय देना आपने उसी समय स्थिर कर लिया था जिस समय इसका प्रसङ्ग चला ही नहीं था। किन्तु सबसे सलाह लेना उनपर आपका अनुग्रह करना था। अतएव आप जब सबकी सलाह सुन चुके तब जो कुछ आपके अन्तःकरणमें पहलेसे निश्चित किया हुआ 'स्थित' था, उसे कहने लगे। आपके कहनेके प्रकारपर भी भली-भाँति ध्यान देना होगा। आप सब सेनाके स्वामी हैं। सब आपके सेवक हैं, और तो क्या किष्किन्धाधिपति सुग्रीवपर भी आपका वह अहसान था जिसका प्रतीकार हो नहीं सकता। किष्किन्धाके राज्यकी तो क्या चलायी, वह बालीके डरसे पहले स्वच्छन्द घूम-फिर भी नहीं सकते थे। ऋष्यमूककी गुफामें मूक हुए पड़े रहते थे। आज यह श्रीरामचन्द्रका ही अनुग्रह है कि इतनी बड़ी वानर और ऋक्ष-सेनाके वह सर्वप्रधान नायक हैं, किन्तु फिर भी भगवान् श्रीरामचन्द्र किस विनय और दाक्षिण्यसे अपना अभिमत कहते हैं, इसपर लक्ष्य देना चाहिये। आप कहते हैं—'ममापि च विवक्षास्ति काचित्प्रति विभीषणम्' 'विभीषणके प्रति अर्थात् विभीषणके विषय-में मुझे भी कुछ कहनेकी इच्छा है।' तात्पर्य यह है कि 'आपलोग तो सब कुछ कह ही चुके हैं परन्तु आपके पक्षोंके साथ गणना हो जाने योग्य मेरी भी कुछ कहनेकी इच्छा है।' किन्तु 'तत्सर्वं भवद्भिः श्रोतुमिच्छामि' 'आपलोगोंको सुनाकर उस सब वक्तव्यकी परीक्षा करा लेना चाहता हूँ।' कहना चाहिये था 'भवतः श्रावयितु-मिच्छामि' 'आपलोगोंको सुना देना चाहता हूँ' किन्तु कहा है—

'भवद्भिः श्रोतुमिच्छामि' इसमें गूढ ध्वनि यह है कि मैंने अपने विचारके अनुसार तो सब कुछ निश्चित कर रक्खा है किन्तु मुझसे आपलोगोंका अनुरोध टाला नहीं जा सकता। अतएव जबतक आपलोग उसपर सम्मति न कर दें, तबतक मैं उस वक्तव्यको कार्यरूपमें परिणत करने योग्य नहीं समझता। इसलिये वह मेरा कथन आप सबकी सम्मति होकर स्थिरीकृत हुआ कि नहीं, यह आपलोगोंसे ही सुनना चाहता हूँ। अकेले मेरे कहनेभरसे क्या होता है।' इसी आशयके कारण इतने चक्करसे महर्षि बोलते हैं कि 'तत्सर्वं भवद्भिः श्रोतुमिच्छामि'।

भगवान् श्रीरामका भाषण

इसके आगे भगवान् श्रीरामचन्द्रका जो कुछ कथन है वह इस शरणागति-वर्णनमें सर्वप्रधान गिना जाने योग्य है। जिनके पास शरण ग्रहण करनेकी आशा लिये विभीषण बड़ी दूरसे आये थे और जिनकी सेवामें अपनी आर्त प्रार्थना बड़े आशाभरे अन्तः-करणसे सदैन्य पहुँचाकर उत्तरकी प्रतीक्षा कर रहे थे वह श्रीराम-चन्द्र पक्ष-प्रतिपक्षका कथन सुनकर अब क्या आज्ञा देते हैं, यह प्रसङ्ग यहींसे आरम्भ होता है। दयावतार भगवान् श्रीरामचन्द्रने एक श्लोकमात्रमें अपना सब कुछ वक्तव्य कह दिया। यद्यपि आगे फिर इसपर सुग्रीवादिके उत्तर-प्रत्युत्तर होंगे किन्तु भगवान्ने अपना स्वभाव, कर्तव्य, नीति, सिद्धान्त, सब कुछ केवल इन बत्तीस अक्षरोंमें इस दृढ़तासे कह दिया है जो आगेकी बड़ी-बड़ी लम्बी दलीलोंसे भी जरा नहीं हिल सका है। खण्डन-[illegible] हुआ परन्तु आखीरमें वही स्थिर रहा जो इन [illegible] है। अथवा यों समझिये—महर्षि वाल्मीकिके यह

थे मानो बत्तीस दाँत थे । इस बत्तीसीसे यहाँ जो कुछ निकल गया वही सदाके लिये सच्चा सिद्ध हो गया । सावधानीसे सुनिये, वे बत्तीस अक्षर ये हैं—

'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन ।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम् ॥'

इसका अक्षरार्थ है कि—'मित्रभावसे प्राप्त हुए पुरुषका मैं किसी तरह भी त्याग नहीं करता । यद्यपि उसका कुछ दोष भी हो तो भी मैं उसे नहीं छोड़ता । क्योंकि मित्रभावसे प्राप्त हुए दोषीका भी संग्रह करना सज्जनोंके मतसे गर्हित नहीं ।'

यहाँ प्रसङ्ग तो शरणागतिका चल रहा है, इसलिये कहना तो यों चाहिये कि 'शरणागतभावेन प्राप्तं न त्यजेयम्' 'शरणागतिके भावको लेकर जो कोई आता है उसे मैं नहीं छोड़ सकता' परन्तु यहाँ कहते हैं 'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्' 'मित्रभावसे प्राप्त हुएको ।' भगवान्‌का आगे प्रतिज्ञा-वाक्य है कि 'सकृदेव प्रपन्नाय अभयं ददामि' 'एक बार भी जो 'प्रपन्न' अथवा 'शरणागत' हो जाता है उसे मैं अभय दे देता हूँ' । इस प्रतिज्ञा-वाक्यमें भी 'प्रपन्न' (शरणागत) शब्द आया है । उस हिसाबसे यहाँ भी 'शरणागतभावेन' कहना चाहिये था । ठीक है, यह शङ्का हो सकती है । इसका कुछ लोगोंने तो यह उत्तर दिया है कि 'मित्रभावेन' यह उपलक्षणमात्र है । महर्षिका तात्पर्य है कि मित्रत्व, दासत्वादिकी भावनाको लेकर जो कोई आता है उसे मैं नहीं छोड़ता ।

दूसरे भक्त यह समाधान करते हैं कि यहाँ प्रसङ्ग चल रहा है शरणागतिका । विभीषण उस शरणागतिका आरम्भ करते हुए कहते

हैं—'राघवं शरणं गतः' 'मैं श्रीराघवकी शरण आया हूँ ।' अन्तमें भी वह कहेंगे—'शरण्यं शरणं गतः' 'जो शरण जानेके योग्य हैं उनके शरणमें आया हूँ ।' यों आरम्भावसानमें जब शरणागति-भावका ही उपादान किया गया है तब मित्रभावका भी यहाँ तात्पर्य शरणागतिमें ही है । और जगह भी जहाँ-जहाँ रावणको समझाया गया है वहाँ आरम्भके अक्षर हैं—'विदितः स हि धर्मज्ञः शरणागतवत्सलः' 'वह श्रीरामचन्द्र धर्मज्ञ और शरणागतवत्सल प्रसिद्ध हैं ।' यों आरम्भ तो शरणागतिभावसे किया गया है किन्तु उपसंहारमें कहा है—'तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि ।' 'यदि तुम जीना चाहते हो तो उनके साथ मैत्री हो जानी चाहिये ।' आरम्भमें शरणागतिभावसे जिस तरह तात्पर्य है, वैसे ही अन्तमें 'मैत्री' पद कहते हुए भी उनका तात्पर्य शरणागतभावसे ही है । उसी प्रकारसे यहाँ भी आरम्भ और अवसानमें जब विभीषणका तात्पर्य शरणागतभावसे ही है तब बीचमें आये हुए 'मित्रभावेन' इस पदका भी तात्पर्य यही होना चाहिये कि 'जो शरणागतिभावनाको लेकर मेरे पास आता है उसे मैं नहीं छोड़ सकता ।'

किन्तु मेरे विचारसे शरणागतिके प्रसङ्गमें 'मित्रभावेन' कहनेका प्रयोजन कुछ दूसरा ही प्रतीत होता है । 'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्' यह उक्ति भगवान् श्रीरामचन्द्रकी है । दैन्यभावके कारण शरणागत तो अपनेको दयापात्र शरणागतमात्र ही जानता है किन्तु अपने भक्तोंको गौरव देनेवाले भगवान् उसको बड़ी ऊँची दृष्टिसे देखते हैं । आप कहते हैं कि 'जब मैंने प्राणिमात्रको अभय दे

देनेका व्रत ले लिया है तब मेरा ही यह कर्तव्य है कि सङ्कटमें पड़े हुएके पास मैं ही जाऊँ और उसे सङ्कटसे छुड़ाऊँ। किन्तु यहाँ जब शरणागत मेरे पास स्वयं कष्ट सहकर आ रहा है तब अवश्य वह मेरा हितैषी है। वहाँतक जानेके कष्टसे मुझे बचाना चाहता है। अतएव वह दयाका भिखारी नहीं, वह मेरा मित्र है। मैं उससे छाती-से-छाती लगाकर मिलता हूँ।' इसी आन्तरिक विचारसे महर्षि भगवान् श्रीरामचन्द्रकी उक्तिमें कहते हैं—

'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।'

भगवान् श्रीरामचन्द्रकी यह उक्ति उस समयकी है जब सुग्रीव, शरभ आदि सलाहकार अपना-अपना वक्तव्य कह चुके थे। सुग्रीवादिने जो कुछ कहा है इस समय आप उसका उत्तर दे रहे हैं। सुग्रीवादिने विभीषणको स्वीकार करनेमें जो कुछ विरोध उपस्थित किया था वह सामयिक था, नीतिके अनुसार था, स्नेहके अनुकूल था, भगवान् श्रीरामचन्द्रमें जो उनकी भक्ति थी उसके योग्य था। प्रत्येकने युक्ति देकर अपने-अपने कथनको समञ्जस बनानेमें कोई कसर न रख छोड़ी। अब भगवान् भी जब उनका उत्तर देने बैठे हैं तब समञ्जस हेतु दिये बिना उन उक्तियोंका निराकरण नहीं हो सकता। हेतुवादमें—हेतु देकर जब कोई पक्ष सिद्ध किया जाता है तब प्रतिपक्षी भी वादीके दिये हुए हेतुको ही दुष्ट सिद्ध करके अपने पक्षका स्थापन करता है। इसी दृष्टिकोणसे सुग्रीवादिकी उक्तिको देखते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र भी अपना पक्ष स्थापन कर रहे हैं। आपका पक्ष है शरणागत विभीषणको

स्वीकार करना। सुग्रीवादि इसके विरोधमें हैं। श्रीहनूमान्‌ने विभीषणके स्वीकार करनेमें अवश्य सम्मति दी है परन्तु उस स्वीकारमें जो कारण दिया है उसको आप ठीक नहीं बताते।

सुग्रीवादिका कथन है कि विभीषण शत्रुपक्षीय होनेसे दोषी है, अतएव स्वीकार्य नहीं। यहाँ 'ग्रहण करने योग्य नहीं है' यह साध्य, और 'सदोषत्व' यह हेतु दोनों ही आपके मतसे दुष्ट हैं। श्रीमान् मारुतिके पक्षमें 'यह स्वीकार करने योग्य है' यह साध्य तो ठीक है, किन्तु 'न त्वस्य ब्रुवतो जातु लक्ष्यते दुष्टभावता' 'बोलते समय इसका कोई दुष्टभाव नहीं मालूम होता' यों स्वीकार करनेमें निर्दोषत्वरूप जो हेतु दिया है वह ठीक नहीं। आप कहते हैं कि शरणागतके स्वीकारमें 'शरणागतोऽहम्' 'मैं शरणागत हूँ' यह वाक्यप्रयोगमात्र ही प्रधान हेतु है। निर्दोषत्वादि हेतुओंकी ओर तो मेरी दृष्टि ही नहीं पड़ती। इसी अभिप्रायको लेते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र अपने पक्ष-समर्थनमें हेतु देते हैं—'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्।' 'अभय देनेके लिये जाना तो मुझको चाहिये था परन्तु 'मैं शरण आया हूँ' यों कहता हुआ मुझे परिश्रमसे बचानेकी कृपा करके जो मेरे पास आ जाता है, उसका मैं त्याग नहीं करता।' यहाँ 'मित्रभावेन' यही प्रधान हेतु दिया है। मित्र-भावका अर्थ यहाँ शरणागत-भाव है यह पहले कह आया हूँ।

'मित्रत्वेन' न कहकर यहाँ कहा गया है 'मित्रभावेन'। वास्तवमें मित्रत्व न होनेपर भी जो कोई मित्रका-सा भाव ऊपरसे दिखाता हुआ भी आ जाता है उसका भी मैं त्याग नहीं करता। भगवान् तो अपनी तरफ एक बार आ जानेमात्रकी प्रतीक्षा किया करते हैं।

उसमें भी जब वह मित्रका-सा भाव दिखला रहा है, चाहे ऊपरसे ही सही, तब उसे स्वीकार करनेमें सन्देह कैसा ? पूतना जिस समय भगवान्‌को स्तनपान कराने आयी, उस समय उसके हृदयमें कौन-सा स्नेहभाव था ? वह तो चाहती थी कि भगवान्‌का अनिष्ट हो जाय। परन्तु प्राणिमात्रका उद्धार करनेवाले दयालु भगवान्‌ने देखा कि इसके हृदयमें चाहे कुछ भी हो, ऊपरसे तो यह स्तन पिलाकर माताका कार्य कर रही है। बस, आपने उसको वह गति, वह गौरव दिया जो साक्षात् माताको भी दुर्लभ था। भगवान्‌की इस दयालुतापर परमहंसचूडामणि श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥' 'जो दीनोद्धारक भगवान् विष पिलानेवालेको भी यह उच्च पदवी देते हैं, उनसे बढ़कर और कौन-सा दयालु होगा जिनकी शरणमें हुआ जाय।'

अथवा—'मित्र अर्थात् स्नेही, उसके भावसे अर्थात् मुझमें द्वेषभावको हटाकर (स्नेहसे) जो कोई मेरे पास आता है उसे मैं नहीं छोड़ता।' इससे भगवान्‌ने यह सूचित किया कि 'मेरे स्वीकार करनेमें यह आवश्यक नहीं कि उस पुरुषकी मुझमें पूर्ण भक्ति हो। केवल मेरे अभिमुख होना ही मेरे स्वीकार करनेमें पर्याप्त है।' आहा हेतु क्या अच्छा कहा है—

त्वामामनन्ति कवयः करुणामृताब्धे
ज्ञानक्रियाभजनलभ्यमलभ्यमन्यैः ।
एतेषु केन वरदोत्तरकोसलस्थाः
पूर्वं सदूर्वमभजन्त हि जन्तवस्त्वाम् ॥

'पण्डितलोग आपको ज्ञान, यज्ञ-यागादि क्रिया और भक्ति, इनके द्वारा प्राप्त होने योग्य बताते हैं; परन्तु हे करुणासागर ! उत्तरकोसलके प्राणियोंने इन तीनोंमेंसे किसके द्वारा आपका भजन किया था जिससे उन सबका आपने उद्धार कर दिया ?' अयोध्या-प्रान्तके रहनेवाले हीनातिहीन कीड़ेतकको भगवान्ने मुक्ति दे दी थी । अब कहिये, उनके पास ज्ञानादिमेंसे कौन-सा उद्धारका साधन था ? वह केवल भगवान्के अभिमुख हुए थे, इतनेमात्रसे दयासागर भगवान्ने उन्हें अपना लिया था । इसी आशयसे महर्षि कहते हैं 'मित्रभावेन' ।

अथवा—यहाँ 'मित्रभाव' पदसे भगवान्का मित्रभाव ही लिया गया है । अर्थात् जो मुझको 'सुहृदं सर्वभूतानाम्'—प्राणिमात्र-का मित्र समझकर अपनी रक्षाकी आशासे मेरी शरणमें आता है उसको मैं नहीं छोड़ता । श्रीप्रह्लाद दैत्यबालकोंको उपदेश करते हुए कहते हैं—

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-
रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः ।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां
सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥

'हे असुरबालको ! भगवान्की उपासनामें कौन-सा बड़ा भारी परिश्रम है । भगवान् तो आकाशकी तरह सर्वदा प्राणिमात्रके हृदयमें ही रहते हैं । भगवान् केवल मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्रकी आत्माके स्वभावसे ही मित्र हैं ।' इसी भव्यभावनाको हृदयमें रखते हुए भक्तशिरोमणि प्रह्लाद भगवान्में एकतान थे । केवल प्रह्लादादि भक्तोंको ही यह विश्वास था सो नहीं, स्वयं भगवान्ने भी इस विचारकी लिखावटपर हस्ताक्षर करके इसे दृढ़ कर दिया

है । जिस समय दैत्यराज हिरण्यकशिपु भरी सभामें खड्ग लेकर प्रह्लादको मारनेके लिये तैयार हुआ और उसने कहा कि बता, तेरा यहाँ कौन सहायक है ?—उस समय स्वयं भगवान्‌को सहायताके लिये स्तम्भसे प्रकट होना पड़ा । यहाँ श्रीशुकदेवजीके अक्षर हैं—'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितम्'—अपने सेवकके वचनको सत्य करनेके लिये (अद्भुतरूप धारणकर आप स्तम्भमें दिखलायी दिये)। इसके अनुसार प्राणिमात्रपर मेरे सहज सौहार्दका भरोसा करके जो मेरे पास आता है उसे मैं नहीं छोड़ सकता । इसी अभिप्रायसे महर्षिने कहा है—'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्'—मुझको प्राणिमात्रका मित्र समझकर भरोसेसे जो कोई आता है उसे मैं नहीं छोड़ सकता ।

किंवा—'मित्रभावेनानुकूल्यसंकल्पादिपूर्वकम् ।' अर्थात् अनुकूल रहनेकी प्रतिज्ञा, प्रतिकूलताका त्याग इत्यादि शरणागतिके नियमानुसार जो कोई मेरे पास आता है उसका मैं त्याग नहीं करता । अर्जुनने 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'—मैं आपकी शरण आया हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये, यों जब 'प्रपत्ति' स्वीकार की और शंकासमाधानपूर्वक भगवान्‌से पूर्ण उपदेश प्राप्त करके जब 'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव'—अब मुझे कोई सन्देह नहीं रहा, आपकी आज्ञापालन करूँगा, यों आनुकूल्यादि-का संकल्प अपने हृदयमें दृढ़ कर लिया तब भगवान्‌ने भी अर्जुनका वह दृढ संकल्प स्वीकार किया है, जो आजतक जगत्‌में प्रसिद्ध है। भगवान्‌ने लोकदृष्टिसे स्वयं अनन्त संकट सहे, परन्तु अपने अनुगत अर्जुनपर जरा भी आपत्ति न आने दी। साधारण-से-साधारण

पुरुषको भी अपने वचनका बड़ा अभिमान रहता है कि 'मैं पहले अमुक बात कह चुका हूँ, इसका उल्लङ्घन करनेपर लोग मुझे क्या कहेंगे।' फिर बड़े आदमियोंका तो कहना ही क्या है, वे तो अपनी बातके लिये मर मिटते हैं। किन्तु भगवान्‌को अपने भक्तकी बात रखनेके लिये अपनी प्रतिज्ञातक छोड़नी पड़ी है। महाभारतके भयंकर समरमें भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञा थी कि 'मैं भगवान् श्रीकृष्णको शस्त्र ग्रहण कराके छोड़ूँगा। जबतक वे अपने हाथमें शस्त्र न ले लेंगे मैं युद्धसे न हटूँगा।' इसके विरुद्ध भगवान्‌का वचन था कि 'मैं इस युद्धमें स्वयं शस्त्र कभी हाथमें न लूँगा।' किन्तु भीष्मपितामहने अपने बाणोंसे वह भयंकर प्रलयकाण्ड उपस्थित कर दिया जिससे उस समय पाण्डवोंके छक्के छूट गये। बाणोंकी उस बौछारके आगे ठहरनेकी किसकी ताक़त थी। अर्जुन घबरा उठे। भगवान्‌से कहने लगे—'बस, अब इस महाभारतकी समाप्ति समझिये। अब ठहरा नहीं जाता। देवातिशायी इस वृद्ध वीरके बाणोंको सहनेकी अब शक्ति नहीं।' यह तो कैसे कहते कि 'आप अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दीजिये, शस्त्र हाथमें ले लीजिये।' किन्तु भगवान्‌ने जब देखा कि दरअसल अब भारतयुद्ध समाप्त होना चाहता है, अब यह वृद्ध या तो सबको रण-भूमिमें सुलाये देता है या युद्धसे विमुख किये बिना न छोड़ेगा, तब भगवान्‌से न रहा गया। रथके पहियेको लेकर युद्धमें उतर ही तो पड़े। बस, भीष्मपितामहने विजयसूचक सिंहनाद किया और हँसकर युद्ध छोड़ दिया। भक्तकी बात रही, भगवान्‌ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी।

जयद्रथवधके प्रसंगमें अर्जुनने प्रतिज्ञा की थी कि मैं सूर्यास्त होनेके पहले-पहले जयद्रथको मारूँगा। किन्तु जिस समय कौरवोंकी तरफसे व्यूहरचना की गयी और उसके भीतर द्रोणाचार्य-भीष्मपितामह-सदृश महाग्राह सामने ही आ डटे, उस समय अर्जुन घबरा उठे। आधा दिन समाप्त हुए बहुत समय बीत चुका था, किन्तु व्यूहकी पहली बाड़ ही अभी नहीं लाँघ पाये थे। भगवान्‌ने कहा—'तुमने क्रोधके आवेशमें बहुत जल्दी प्रतिज्ञा कर डाली। इन महाग्राहोंके सामने भीतर घुसकर जयद्रथको मार लेना क्या सहज है?' अर्जुनने कहा—'अब तो जो कुछ हुआ सो हुआ। मेरी रक्षा अब आपके ही हाथ है। अन्यथा प्रतिज्ञानुसार सायंकालके अनन्तर मुझे अपना शरीर छोड़ना पड़ेगा।' उस समय भी भगवान्‌को माया रचनी पड़ी। कृत्रिम बादल पैदा करके सूर्यास्तका दृश्य दिखा देना पड़ा। कौरव हर्षसे उछल पड़े। युद्ध छोड़ दिया। अब क्या है, बाज़ी मार ली। किन्तु जैसे ही बादल हटा और सूर्यके दर्शन हुए, उसके पहले ही अवसर पाकर अर्जुन जयद्रथका मस्तक बाणसे काट चुके थे। अर्जुन भी इस लीलाको देखते ही रह गये। इसी शरणागतवत्सलताकी दृढताको सुझाते हुए भगवान् कहते हैं—'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्'—मेरे आनुकूल्यादिका संकल्प करके जो आता है उसे मैं नहीं छोड़ता।

अथवा—'मित्र अर्थात् जो विश्वासपात्र हो, उसके भावसे आये हुएको।' क्योंकि कहा है—'तन्मित्रं यत्र विश्वासः'। मित्र वही है जिसपर विश्वास किया जाय। तो इस पक्षमें अर्थ हुआ कि—'मेरे ऊपर पूरा विश्वास करके जो आता है उसको मैं

पुरुषको भी अपने वचनका बड़ा अभिमान रहता है कि 'मैं पहले अमुक बात कह चुका हूँ, इसका उल्लङ्घन करनेपर लोग मुझे क्या कहेंगे।' फिर बड़े आदमियोंका तो कहना ही क्या है, वे तो अपनी बातके लिये मर मिटते हैं। किन्तु भगवान्‌को अपने भक्तकी बात रखनेके लिये अपनी प्रतिज्ञातक छोड़नी पड़ी है। महाभारतके भयंकर समरमें भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञा थी कि 'मैं भगवान् श्रीकृष्णको शस्त्र ग्रहण कराके छोड़ूँगा। जबतक वे अपने हाथमें शस्त्र न ले लेंगे मैं युद्धसे न हटूँगा।' इसके विरुद्ध भगवान्‌का वचन था कि 'मैं इस युद्धमें स्वयं शस्त्र कभी हाथमें न लूँगा।' किन्तु भीष्मपितामहने अपने बाणोंसे वह भयंकर प्रलयकाण्ड उपस्थित कर दिया जिससे उस समय पाण्डवोंके छक्के छूट गये। बाणोंकी उस बौछारके आगे ठहरनेकी किसकी ताक़त थी। अर्जुन घबरा उठे। भगवान्‌से कहने लगे—'बस, अब इस महाभारतकी समाप्ति समझिये। अब ठहरा नहीं जाता। देवातिशायी इस वृद्ध वीरके बाणोंको सहनेकी अब शक्ति नहीं।' यह तो कैसे कहते कि 'आप अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दीजिये, शस्त्र हाथमें ले लीजिये।' किन्तु भगवान्‌ने जब देखा कि दरअसल अब भारतयुद्ध समाप्त होना चाहता है, अब यह वृद्ध या तो सबको रण-भूमिमें सुलाये देता है या युद्धसे विमुख किये बिना न छोड़ेगा, तब भगवान्‌से न रहा गया। रथके पहियेको लेकर युद्धमें उतर ही तो पड़े। बस, भीष्मपितामहने विजयसूचक सिंहनाद किया और हँसकर युद्ध छोड़ दिया। भक्तकी बात रही, भगवान्‌ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी।

करूँगा और आप मन्द मुसकान करते हुए दीनसञ्जीवनी उस दयार्द्र दृष्टिसे मुझे देखेंगे, अहा ! उस समय मेरे आनन्दका कोई पार न रहेगा । भगवान् प्रणाम करते हुए मुझसे छाती-से-छाती लगाकर जिस समय मिलेंगे, 'अक्रूर' यों मेरा नाम लेकर जिस समय प्रेमसम्भाषण करेंगे, उस समय यह मेरा मनुष्यजन्म सफल होगा । अहा ! यह वही तो देवदुर्लभ वृन्दावनका मार्ग है जिसमें भगवान् गोचारणके लिये गोपबालकोंके साथ पधारते हैं ।' इस तरह आनन्दमें मग्न अक्रूरको मार्गमें ही सूर्यास्त हो गया । अक्रूरकी दृष्टि मार्गकी धूलिपर लगी हुई थी । अहा ! यह धूलि शततीर्थाधिक है, जिसपर भगवान्के चरणपङ्कज पड़ते हैं । चलते-चलते अक्रूरने कुछ चरणचिह्न देखे, जिनमें कमल, यव, अंकुश आदिके चिह्न उभड़े हुए थे । अक्रूर पहचान गये, अवश्य ये भगवान्के चरणचिह्न हैं । अब उनसे न रहा गया । रथके जूड़ेसे कूद पड़े । उन चरणचिह्नोंपर लोटने लगे । रोमाञ्च हो रहा था । आँखोंसे आँसू बह रहे थे । अहा ! यह प्रभुके चरणोंका रज है !

फिर ध्यान हुआ—'मैं तो भगवत्-विद्रोही कंसका भेजा हुआ जा रहा हूँ । मेरे ऊपर भगवान्की कृपादृष्टि किस तरह हो सकेगी ?' अपने-आप ही समाधान भी करते हैं—'भगवान् किसीसे अप्रसन्न नहीं होते । उनका कोई भी द्वेष्य नहीं । मुझे दृढ विश्वास है कि भगवान्की मुझपर वैरबुद्धि कभी नहीं होगी । यद्यपि मैं कंसका भेजा हुआ दूत बनकर जा रहा हूँ, किन्तु आप विश्वदृक् हैं । भीतर-बाहर सब जगहकी जानते हैं । आप

नहीं छोड़ सकता।' कंसके भेजे हुए अक्रूर श्रीकृष्ण और बलरामको लानेके लिये जिस समय मथुरासे चले थे उस समय उनके भी हृदयकी विचित्र दशा थी। वे भगवान् श्रीकृष्णमें नैसर्गिक प्रीति रखते थे। उनके चरणारविन्दोंके दर्शनकी इन्हें अहर्निश उत्कण्ठा रहती थी, परन्तु लाचार थे। कंसके आश्रित थे। भगवान्‌के पास आना-जाना तो कैसा, उनकी चर्चा करना भी राजविद्रोहके अपराधमें उनको फँसानेके लिये काफ़ी था। अतएव वे जैसे-तैसे मुख मूँदे हुए क्लेशके दिन किसी तरह काट रहे थे। जब राजसज्जासे सजा हुआ राजसी रथ देकर कंसने आज्ञा दी कि वृन्दावन जाकर राम और कृष्णको लिवा लाइये, तब आपके मनमें बड़ा हर्ष हुआ। 'आज मेरा बड़ा सुदिन है, चिरकालसे परिचिन्तित भगवान् श्रीकृष्णके आज दर्शन मिलेंगे; इससे बढ़कर मेरा और क्या सौभाग्य होगा? मैंने ऐसे कौन-से पुण्य किये हैं, कैसी तपस्याएँ की हैं, जो मुझे योगिदुर्लभ भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन मिलेंगे।' फिर अपने-आप ही समाधान करते हैं—'मालूम होता है मेरे पूर्वपुण्योंका अभ्युदय आरम्भ हो गया है, मेरे सब पूर्वकृत अमङ्गल नष्ट हो चुके हैं; तभी तो भगवान्‌के उन चरणपङ्कजोंको प्रणाम करनेका सौभाग्य मिल रहा है जिन्हें योगी भी बड़े परिश्रमके अनन्तर प्राप्त कर पाते हैं।' मन-ही-मन भगवान्‌का ध्यान करते जा रहे हैं। भगवान्‌की मनोहर मूर्तिका ध्यान करते-करते आपको रोमाञ्च हो रहा है। अक्रूर मनमें विचारते हैं—'जिस समय उत्कण्ठासे चरणकमलोंमें टकटकी बाँधे हुए मैं भगवान्‌को प्रणाम

भक्तवत्सल भगवान् अपने सभी भक्तोंका पूर्ण आदर करते हैं, चाहे वे कितने ही तुच्छातितुच्छ हों। भावुक भक्त भगवान्‌को इष्टदेव, स्वामी, वन्दनीयचरण, शरण्य, प्राणश्रेष्ठ मानते हैं; किन्तु भगवान् उन्हें बराबरका दरजा देते हैं, उन्हें मित्रभावसे ही देखते हैं। भगवद्भक्त सुदामा भगवान्‌के साथ एक गुरुके यहाँ पढ़े थे, बरसों साथ खेले-कूदे थे; परन्तु वे सदा भगवान्‌में भगवद्‌बुद्धि ही रखते थे। उन्हें त्रैलोक्यनाथ और अपनेको सदा तुच्छ समझते थे। वे गृहस्थ होनेपर भी दरिद्र थे, किन्तु उन्हें इसकी कुछ भी परवा न थी। वे इन्द्रियार्थोंमें विरक्त और प्रशान्तात्मा थे। उनकी पतिव्रता पत्नीने उनसे जब कई बार अनुरोध किया कि 'यादवनरेन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण आपके सहाध्यायी मित्र हैं। वे आजकल द्वारकापुरीमें ही आये हुए हैं। आप उनके पास क्यों नहीं जाते ? वे अपने इस सब दारिद्र्य-सङ्कटको दूर कर देंगे।' यों उनकी पत्नी ही भगवान्‌को अपने पतिके मित्र कहकर व्यवहार करती है; किन्तु विवेकी सुदामाका विचार दूसरा ही था, पत्नीके आग्रह करनेपर वे सोच रहे थे—'तुच्छ धन-दौलतकी क्या बिसात है।' 'अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम्'—यही सबसे बड़ा लाभ होगा कि उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन होंगे।

भगवान् श्रीकृष्णने मित्रकी ही तरह क्या, पूजनीयतम इष्टदेवकी तरह उनकी पूजादि करके, उनका चरणोदक मस्तकपर चढ़ाकर, बड़े प्रेमभावसे गुरुगृह-निवासके समयकी पुरानी बातें उन्हें याद दिलायीं। उस समयके सङ्कटोंमें,

प्राणिमात्रके हृदयमें रहनेवाले हैं, इसलिये किसीका भी भाव आपसे छिपा नहीं। भगवान् श्रीशुकदेवजीके अक्षर हैं—

न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः
कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक्।
योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं
क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा॥

'यद्यपि मैं कंसका दूत बनकर जा रहा हूँ, तथापि भगवान्‌को मुझपर वैरबुद्धि नहीं होगी, जो विश्वदृक् भगवान् अपने निर्मल नेत्रोंसे चित्तके भीतर-बाहरके सब वृत्तान्तोंको देखते हैं।'

अक्रूरजीका भगवान्‌पर जब यह दृढ़ विश्वास है तब भगवान् भी उसी विश्वाससे उनका ग्रहण कर रहे हैं। आप प्रेमगद्गद होकर बड़ी उतावलीसे उन्हें खींचकर छाती-से-छाती लगाकर मिलते हैं। अक्रूरको यह पूरा भरोसा था कि भगवान्‌के यहाँ कभी मेरा तिरस्कार न होगा। मैं चाहे जैसा हूँ, आप मेरा अवश्य स्वीकार करेंगे। उसीका यह फल है कि ब्रह्मादि देवताओंसे सेवनीयचरणपङ्कज साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण उनका यहाँतक आदर करते हैं कि आप स्वयं उनके पैर दबाते हैं और कहते हैं कि 'काकाजी! दूरसे आनेके कारण आप थक गये होंगे।' श्रीवेदव्यासजी कहते हैं—'संवाह्य श्रान्तमादृतः'—'आदर करनेवाले श्रीकृष्ण थके हुए अक्रूरका पदसंवाहन करके।' इसी विश्वासके आशयको लेकर यहाँ भी कहा है कि—'मित्रभावेन' (दृढ़ विश्वासीके भावको लेकर जो कोई आता है, मैं उसे नहीं छोड़ सकता)।

अथवा—'सम्प्राप्तम्'—'सम्यक्' 'प्राप्तम्' अच्छी तरह आये हुए। अर्थात् अन्य विषयोंसे चित्त हटाकर मुझमें अनुरागपूर्वक आये हुएको। जबतक और-और स्थानोंसे चित्त हटा नहीं लिया जाता तबतक भगवान्में एकाग्रता नहीं हुआ करती। भगवद्ध्यानादिके समय मन एकतान होकर जबतक भगवान्में नहीं लगता तबतक जैसी चित्तशुद्धि होनी चाहिये नहीं होती। हम जिस समय दुनियावी कामोंमें फँसे होते हैं, किसीसे बातचीत करते होते हैं, उस समय हमारा मन प्रायः अन्यत्र नहीं जाता। किन्तु जिस समय हम चुपचाप आसनपर बैठकर जप अथवा ध्यान करने लगते हैं तब हमारा मन आगे किये जानेवाले कामोंकी ओर ज़बरदस्ती दौड़ पड़ता है। हम ध्यान करते हैं गायत्रीका, किन्तु कचहरीमें जो आजकी तारीख़ मुकदमेकी दी हुई है उसका चित्रपट अपने आप सामने आ जाता है। सोचते हैं 'वकीलने आशा तो बहुत दी है, देखें आज कैसी बहस करता है।' कई बार विनियोगोंमें लोम-विलोम हो जाते देखा है। मन्त्र बोल रहे हैं उपस्थानका, जैसे ही ध्यान और तरफ गया कि आगे-पीछेका मन्त्र बोलने लगे। फिर आगे चलकर जैसे ही ध्यान आया, वापस फिर दुबारा उपस्थान करना पड़ा। लिखती बार तो अधिक मनुष्योंको यह दोष होता है। लिख कुछ रहे थे, परन्तु दूसरे लोग जो कुछ पासमें बातचीत कर रहे थे उसकी तरफ़ जैसे ही ध्यान गया कि उन शब्दोंके आदिके दो-चार अक्षर लिख गये। फिर लिखावटपर जब ध्यान पहुँचा और वाक्यको अद्भुत बना पाया तो उन अक्षरोंपर काली फेरनी पड़ी। यों या तो अक्षरमालाको

शरणागतिमें प्राप्ति अर्थात् अपने समीप आगमनमात्रकी अपेक्षा भगवान् ऊपर बता चुके हैं। इस हिसाबसे 'प्राप्तम्' (आया हुआ) ही कहना पर्याप्त था, किन्तु यहाँ 'सम्' उपसर्ग और जोड़कर 'सम्प्राप्तम्' कहा है। इससे भगवान्‌का तात्पर्य यह है कि मैंने तो व्रत ले रक्खा है कि जो कोई मेरी 'प्रपत्ति' मात्र ही स्वीकार करेगा अर्थात् मेरे पास केवल आ जायगा, उसे ही मैं स्वीकार कर लूँगा। परन्तु विभीषणकी 'प्रपत्ति' सामान्य नहीं। मानस, वाचिक, कायिक तीनों प्रकारकी प्रपत्ति हो चुकी है। जिस समय रावणको समझानेमें विभीषणके मुखसे उसके अपकर्षकी बातें निकल गयी थीं और रावण क्रुद्ध हो चुका था उस समय 'इस सङ्कटसे बचानेमें अब यदि कोई समर्थ है तो श्रीभगवान् रामचन्द्र ही हैं' यों उसी समय 'मानस' प्रपत्ति आरम्भ हुई थी। 'वाचिक' प्रपत्ति तो डिण्डिमघोषके साथ हो चुकी है। विभीषण आकाशमें खड़ा रहकर कह चुका है कि 'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः'—स्त्री-पुत्रादिको छोड़कर श्रीरामचन्द्रकी शरणमें आया हूँ। इस वाचिक प्रपत्तिके तो प्रायः शिविरके सभी वीर साक्षी होंगे, क्योंकि सबको सुनाकर गर्जनाके साथ उसने कहा था कि 'राघवं शरणं गतः'। और 'कायिक' प्रपत्ति तो प्रत्यक्ष ही है कि वह लङ्काको छोड़कर यहाँ स्वयं आया है। ऐसी दशामें उसने 'प्रपत्ति' पूर्णरूपसे स्वीकार कर ली है, यह स्पष्ट है। अतएव अब मैं उसे कैसे छोड़ सकता हूँ। इसी अभिप्रायसे 'सम्' उपसर्गको जोड़कर महर्षिने कहा है—'सम्प्राप्तम्'।

'गङ्गा जिस तरह अपने प्रवाहको समुद्रमें पहुँचाकर ही विश्राम लेती है, इसी तरह हे भगवन्! मेरी मति अनन्यविषय (एकतान) होकर आपमें प्रीति करे।' यहाँ गङ्गाका दृष्टान्त देनेका तात्पर्य यह है कि हिमालयके उच्च शिखरसे प्रवाहित हुई भगवती गङ्गाका स्रोत प्रखररूपसे आगेकी ओर बढ़ता है। उसे स्वाभाविकरूपसे रोकनेकी किसीमें शक्ति नहीं। उसके बीचमें जो कोई वृक्ष, पाषाणादि आ जाते हैं उन्हें भी वह बहाकर ले जाता है और समुद्रमें मिलकर ही ठहर पाता है। इसी तरह हे भगवन्! मेरी प्रीतिका प्रवाह भी एकाग्र होकर आपकी ओर इस प्रबलतासे अभिमुख हो जाय कि उसको रोकनेवाले बाह्य विषय उसको तो क्या रोकें, प्रत्युत उस बहावमें पड़कर स्वयं भी अपनी सत्ता खो बैठें।'

ठीक है, जबतक विरोधी भावोंकी निवृत्ति नहीं हो जाती, तबतक चित्त स्थिर नहीं हो पाता और चित्त स्थिर हुए बिना कार्यका फल नहीं। किन्तु यहाँ विभीषणने विरोधी भावोंकी आरम्भसे ही निवृत्ति कर दी है। वे कहते हैं—'परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च'—मैंने लङ्का, धन-दौलत, मित्र आदि सबका त्याग कर दिया है। जब चित्त बँट जानेका सामान ही नहीं रक्खा तो अब चित्त डुलेगा किसपर? जब बैठनेकी छतरी ही नहीं रही, तब कबूतर बैठेगा किसपर? अतएव विभीषण सब कुछ ठुकराकर एकान्तचित्तसे भगवान्‌की तरफ़ आये हैं। इसी आशयसे महर्षि कहते हैं—'सम्—सम्यक्—प्राप्तम्।'

विरूप करना पड़ा या दूसरे कागजपर फिरसे लिखना पड़ा। कहनेका प्रयोजन यह है कि जबतक चित्त एकतान नहीं किया जाता तबतक साधनीय कार्यका निष्कण्टक फल हमें नहीं मिल पाता।

मन्दिरके दरवाजेपर चरणदासियोंको खोलकर जिस समय हम देवदर्शनको जाते हैं उस समय नेत्र तो हमारे देवदर्शन करते हैं, किन्तु मनीराम जूतोंपर मँडराया करते हैं—'ऐसा न हो उन्हें कोई ले जाय, अभी नये-नये ही पहने हैं।' कई होशियार पुरुष तो देवमन्दिरके बीचके दालानमें खड़े-खड़े ही दर्शन कर लेते हैं, जिससे दोनों तरफ़ नज़र बराबर बनी रहे। देवमूर्तिके आगे स्तुतिपाठ करते समय 'त्वमेव माता च' कहते हुए एक बार देवमूर्तिपर दृष्टि डालते हैं तो पीछे फिरकर 'पिता त्वमेव' कहते हुए जूतेपर दृष्टि डालते हैं। भगवान् दयालु हैं। उनकी तरफ़ उपसर्पणमात्रसे भी फल होता ही है, परन्तु जो चित्तशुद्धि एकान्तभावसे देवदर्शन करनेमें होती है वह इस खींचातानीमें कहाँ? मन और बुद्धिका स्वभाव ही यह है कि हम जब कर्मेन्द्रियोंके कामसे खाली रहते हैं उस समय ये दोनों भीतर-ही-भीतर अपनी दौड़ लगाने लगते हैं। भक्त भगवान्से यही प्रार्थना किया करते हैं कि हे भगवन्! आपमें हमारा मन एकतान होकर लग जाय। क्योंकि यदि मन भगवान्में एकाग्रतासे लग गया तो फिर क्या है? फिर कुछ साधनीय नहीं रहता। कुन्ती भगवान्से याचना करती है—

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्।
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति॥

'रामं दशरथं विद्धि मां चैव जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥'

'श्रीरामको पिता समझना और माताके स्थानापन्न जानकीको जानना । वनको ही अयोध्या समझना, हे पुत्र ! तुम प्रसन्नचित्त होकर वनको जाओ ।' इसी भाँति विभीषण भी मुझमें सब प्रकारसे बन्धुभाव स्थापन करके शरण आया है । इसी आशयको लेकर महर्षिने कहा है—'सम्प्राप्तम् ।'

अथवा—'सम्प्राप्तम्', उत्तम प्रकारसे आये हुए, शरणमें आनेके जो कुछ नियम हैं उनके अनुसार आये हुए । हम किसी बड़े आदमीसे मिलने जाते हैं तो वहाँ हमें कैसी-कैसी कवायद करनी पड़ती है । कहीं तो बरामदेमें बैठे-बैठे प्रतीक्षा किया करते हैं कि अब कोई आदमी आवे तो खबर भेजें । कहीं नामका कार्ड भेजकर कमरेपर टकटकी लगाये रहते हैं कि अब उधरसे बुलाहट हो । किसी जगह यही प्रतीक्षा करनी पड़ती है कि किसी कामसे वही बाहर निकल आवें तो स्वयं हम ही जा मिलें । साधारण आदमीसे मिलनेमें भी जब कुछ उसका छन्दानुवर्तन करना ही पड़ता है फिर बड़े आदमियोंकी तो कथा ही क्या है ? यदि वहाँ अभिमानादिसे कुछ भी गलती हो गयी तो फिर किया-कराया सब परिश्रम व्यर्थ हो जाता है । भगवान् श्रीकृष्णको महाभारतके युद्धका निमन्त्रण देने कौरव-पक्षसे दुर्योधन और पाण्डवोंकी तरफसे अर्जुन, ये दोनों ही गये थे । सेवकोंके द्वारा मालूम हुआ कि भगवान् इस समय सुखशयन कर रहे हैं ।

अथवा—'सम्प्राप्तम्',—अच्छी तरह प्राप्त हुए। 'मेरे अब माता, पिता, भ्राता, निवास, सुहृद्, गति, जो कुछ हैं सब भगवान् हैं।' इस प्रकार मुझमें ही सब प्रकारके बन्धुभावका स्थापन करके अनन्यतासे मुझे प्राप्त हुए। श्रीलक्ष्मण जिस समय अयोध्यासे भगवान् श्रीरामचन्द्रके साथ वनके लिये चलनेको तैयार हुए, उस समय आपने लक्ष्मणको बहुत समझाया। कहा—'अभी तुमने देखा क्या है ? तुम्हारा चित्त उस घोर वनमें कैसे लगेगा ? वहाँ तुम्हें पिताजीकी याद आयेगी। जिस समय माताके लिये तुम्हारा चित्त व्यग्र होगा उस समय वे कहाँसे आयेंगी ?' श्रीलक्ष्मणजीने निवेदन किया कि 'मैंने सब कुछ आपको ही समझ लिया है। माता, पिता, भ्राता जो कुछ कामनायोग्य वस्तु हैं, मेरे सर्वस्व आप हैं। मुझे अब यहाँ किसके लिये ठहरना है।' अहा ! अकेले श्रीलक्ष्मणके ही ये विचार हों सो नहीं। उनकी भाग्यवती जननी सुमित्रा भी लक्ष्मणके योग्य ही माता थीं। जिस समय लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रके साथ वन जानेके लिये मातासे अनुमति लेने गये उस समय सुमित्राने उन्हें छातीसे लगा लिया। कहा—'बेटा ! तुमसे बढ़कर और कौन भाग्यवान् होगा, जो श्रीरामचन्द्रसदृश बड़े भ्राताकी सेवाका तुम्हें अवसर मिल रहा है।' दूसरी माता होती तो कहती कि 'वनवास रामको हुआ है। तुम मेरी गोदीको सूनी करके क्यों जा रहे हो ?' किन्तु सुमित्रा कहती है कि—'देखो बेटा ! श्रीराम और सीताकी सेवामें कभी त्रुटि मत करना। सदा सावधानीसे उपचरण करना। पिता-माताकी भी याद करके कभी अन्यमनस्क न होना।' आप कहती हैं—

मैं चला जाऊँगा तो भी श्रीरामके यहाँ मेरी रुकावट नहीं होगी। परन्तु अन्तरङ्गोंके द्वारा पहुँचनेमें किसी प्रकारका खटका ही नहीं। इसीलिये पहले शिविर-सेनाधिपति, भगवदन्तरङ्ग सुग्रीवके द्वारा ही उन्होंने खबर पहुँचायी कि 'शरणार्थी कोई खड़ा है।' सुग्रीवको अपना द्वार बनाकर उचित प्रकारसे वे श्रीरामकी शरणमें आ रहे हैं। इसी आशयसे यहाँ कहा गया है कि 'सम्प्राप्तम्'। अन्तरङ्गोंको आगे करनेसे स्वामीको यह भी तो विचार होता है कि इसके सिफ़ारिश करनेवाले मेरे ही अन्तरङ्ग पुरुष हैं। अब यदि इस प्रार्थनाको स्वीकार न करूँगा तो इन अगुआओंका भी तो एक प्रकारसे अपमान होता है, अतएव अन्तरङ्गोंद्वारा पहुँचनेमें सिद्धि अवश्यम्भाविनी होती है। इसी आशयसे आप आज्ञा करते हैं—'सम्प्राप्तम्' (अन्तरङ्गानुचरोंको आगे करके, उचित रीतिके अनुसार आये हुएको)।

अथवा—'सम्प्राप्तम्' (सम् साधु यथा स्यात्तथा प्राप्तम्)। अर्थात् भगवान् चित्तमें हर्षित होकर विभीषणके आनेका अभिनन्दन करते हैं कि 'भले पधारे!' अहा! भगवान्की भक्तवत्सलताका तो विचार कीजिये। आप आज्ञा कर रहे हैं कि यदि विपक्ष-त्राससे संत्रासित कष्टमें पड़ा हुआ विभीषण लङ्कामें बैठा-बैठा ही यदि मेरा स्मरण करके मुखसे कहता कि 'राघवं शरणं गतः'—मैं अब भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शरण हूँ—तो क्या मुझसे यहाँ स्वस्थ बैठा रहा जाता? कष्टमें पड़ा हुआ शरणार्थी तो मेरे आश्रयके लिये पुकार रहा है और मैं यह सोचूँ कि इसे जरूरत होगी तो यह अपने आप यहाँ आ जायगा, भला यह उचित है?

भृत्योंकी क्या शक्ति थी कि इन्हें रोकते। फिर भगवान्‌के दरबारमें? दोनों ही भगवान्‌के अन्तरङ्गोंमें थे। दोनों ही शयनागारमें जा पहुँचे। आप रत्नजटित शय्यापर निर्भर शयन कर रहे थे, लाचार दोनोंको ठहरना पड़ा। दुर्योधनको पहले तो प्रतीक्षा करना ही बुरा मालूम हुआ। फिर जबतक आप जगें तबतक बैठे कहाँ? अभिमानोन्मत्त वह भगवान्‌के सिरहानेकी तरफ बैठा, किन्तु भगवान्‌के अनुगत अर्जुन भगवान्‌के चरणोंके पास जा बैठे। जैसे ही आपकी नींद खुली और आप शय्यापर उठकर बैठे, वैसे ही सामने अर्जुनपर दृष्टि पड़ी। अर्जुनने भगवान्‌की दृष्टि पड़ते ही झट पहले निमन्त्रण कर दिया। सिरहाने बैठे दुर्योधनपर पीछे दृष्टि पड़ी। उनका भी निमन्त्रण तो स्वीकार करना ही पड़ा, परन्तु पहले निमन्त्रणमें भगवान् स्वयं पधारे और दूसरे नंबरके निमन्त्रणमें अपने यहाँकी सेना भेजी। परन्तु 'यत्र कृष्णस्ततो जयः' जिस तरफ श्रीनिकेतन भगवान् हों भला वहाँ पराजय हो सकता है? देखिये, मिलनेके विषयकी थोड़ी-सी गलतीमें सब कुछ नाश हो गया।

हम किसी कार्यके लिये मिलने तो गये, परन्तु वहाँके जो अन्तरङ्ग हैं उनके द्वारा न मिले तो पद-पदमें संकट हैं। अन्तरङ्ग-के तटस्थ होनेपर प्रथम तो मिलनेका अवसर ही कहाँ? यदि मिले भी, तो हम तो विस्तारसे सब कुछ समझा गये परन्तु वह (अन्तरङ्ग) किसी एक ही बातसे कार्यको ऐसा ढहा देंगे कि आपका वहाँ आनातक व्यर्थ हो जायगा। किन्तु यहाँ विभीषण श्रीरामचन्द्रके दरबारमें रीतिके अनुसार पहुँचे हैं। वे जानते थे यदि स्वयं भी

शरणार्थी आपको पुकार रहा हो। आजतकके दृष्टान्त देख लीजिये---प्रह्लाद जिस समय कष्टमें पड़े और उन्होंने आपको हृदयमें याद किया, पाषाणका हृदय चीरकर आपको तुरन्त वहाँ प्रकट होना पड़ा। गजेन्द्रने याद किया तब वैकुण्ठसे दौड़ना पड़ा। यहाँतक कि शीघ्रताके मारे गरुड़तकको पीछे छोड़ना पड़ा। राजमदसे सतायी हुई अबला द्रौपदीने जिस समय आँसूभरे दीन नेत्र ऊपर किये गद्गद कण्ठसे आपको पुकारा उस समय उस जुआरियोंके अड्डेमें आपको हाज़िर होना पड़ा। चीरकी खींचातानीमें आपको उलझना पड़ा। एक क्या, अनन्त ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जहाँ कष्टमें पड़े हुए शरणार्थीके लिये स्वयं भगवान्‌को दौड़ना पड़ा है। फिर विभीषण लङ्कामें बैठकर जिस समय भगवान्‌को पुकारते तो क्या भगवान्‌को वहाँ नहीं जाना पड़ता? नहीं-नहीं उसी पापपुरीमें, राक्षसविक्षोभित उसी लङ्कापुरीमें, सब शङ्काओंको छोड़कर जाना पड़ता। इस समय तो समुद्रोल्लङ्घनके लिये कई बाँधन बाँधे जाते हैं, परन्तु उस समय आनन-फाननमें वहाँ पहुँचना पड़ता। राक्षस-संतरियोंके चाहे जैसे कड़े पहरे होते उन्हें लाँघकर तत्काल ही आपको वहाँ हाज़िर होना पड़ता। किन्तु भगवान् यहाँ देखते हैं कि शरणार्थी स्वयं सामने आ खड़ा हुआ है, इससे बढ़कर भला और कौन-सा (प्रहर्षण) अलंकार ढूँढ़ने जायँ। पर्वके दिन सब लोग गङ्गाजीमें स्नान करनेके लिये दौड़े जाते हैं। श्रद्धालुओंकी भीड़ चली जा रही है। सब अपने-अपने उद्धारके लिये व्यस्त हैं। किन्तु बेचारा पङ्गु पैरोंसे लाचार है। स्नानके लिये कैसे जाय। अश्रुगद्गद

पुत्र स्वेच्छाचारी है, माता-पिताकी आज्ञा बिल्कुल नहीं मानता । कुपूत है, माता-पिता भी उससे तरह दिये रहते हैं। किन्तु वही पुत्र जिस समय रोगशय्यापर पड़ा-पड़ा छटपटाता है, एक बूँटभर पानीके लिये पुकारता है, उस समय क्या जननी-से यह कष्ट देखा जाता है ? हजार स्वच्छन्द हो, हजार कुपूत हो; किन्तु जिस समय माता पुत्रको कष्टमें पड़े हुए देखती है, उसके गुण-अवगुण उसे कुछ याद नहीं रहते । वह विह्वलचित्तसे उसके पास दौड़ी जाती है । सम्मुख देखनेकी तो बात ही दूसरी है, देश-देशान्तरोंसे खबर मिलनेपर भी माता-पिता वहीं दौड़े जाते हैं । फिर, भला, करुणावतार भगवान् कष्टमें पड़े हुए शरणार्थीकी उपेक्षा कर सकते हैं ? साधारण रास्ते चलता हुआ आदमी भी अपरिचित एक दीन बालकको दुःखमें पड़े हुए देख-कर अपना काम छोड़ देता है, उसकी सहायता पहले करता है; फिर भला भगवान् कष्टपतितको यों ही देखा करेंगे ? क्या अच्छा कहा है—

अयि गर्तमुखे गतः शिशुः पथिकेनापि जवान्निवार्यते ।
जनकेन पतन् भवार्णवे न निवार्यै भवता कथं विभो ॥

'किसी गड़हेमें पड़ते हुए बालकको राह-चलता बटोही भी बड़ी हड़बड़ाहटसे बचा लेता है । फिर हे भगवन् ! पिता होकर आप इस भवसागरमें पड़ते हुए मुझे क्यों नहीं निवारण करते हैं ?'

भगवान् चाहे जहाँ हों, चाहे जैसे कार्यमें व्यग्र हों, परन्तु सब काम छोड़कर आप पहले वहाँ दौड़ते हैं जहाँ आपका

—अदृष्टपूर्व इस रूपको देखकर यद्यपि हृष्ट हूँ, परन्तु 'भयेन च प्रव्यथितं मनो मे'—भयके मारे मेरा मन घबरा उठा है। अतः 'तदेव मे दर्शय देव रूपम्'—हे भगवन् ! मुझे तो पहलेवाला वही अपना प्यारा रूप दिखाइये। अर्जुन भगवान्के सौम्यरूपदर्शनसे जिस समय स्वस्थ हुआ उस समय उसका सन्देहतिमिर हृदयके कोने-कोनेसे हट चुका था। वह भगवान्की महिमाको जानकर गद्गद हो उठा। कहने लगा—'अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'—आपका सामर्थ्य और पराक्रम अनन्त है, आप सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त किये हैं, आप तो सर्वात्मक हैं। वही अनन्तवीर्य, अमितपराक्रम भगवान् आज्ञा कर रहे हैं कि 'जिस समय मैं शरणागतके मुखसे 'शरण' शब्द सुन लेता हूँ फिर उसे त्याग करनेकी मुझमें शक्ति नहीं रहती। मैं सर्वशक्ति हूँ, परन्तु उस समय मेरी सब शक्तियाँ जवाब दे देती हैं।' इसी तात्पर्यसे, शक्त्यर्थको द्योतन करनेवाले (शकि लिङ् च) इस 'लिङ्' लकारको प्रयोग करते हुए आप कहते हैं, 'न त्यजेयम्', त्याग करनेमें मेरी शक्ति नहीं है।

भगवान् दयामय हैं। जिस समय पृथिवीपर पापका प्राबल्य हो उठता है, धर्मकी मर्यादाओंका एकान्ततः संहार होने लगता है, धार्मिकोंपर—भगवद्भक्तोंपर अत्याचारकी पराकाष्ठा हो उठती है, उस समय भगवान्से नहीं रहा जाता। अत्याचारपीड़ित धार्मिक हृदयोंकी आह, भगवद्भक्तोंकी वह करुण पुकार भगवान्को वैकुण्ठसे बुला लेती है। आप पृथिवीपर अवतार लेते हैं। आप अवतार लेकर धर्मकी मर्यादाओंका फिरसे स्थापन करते हैं।

हुआ वहीं बैठा भगवती गङ्गाका स्मरण कर रहा है। उस समय यदि गङ्गा स्वयं उसके सम्मुख ही आ पहुँचें तो क्या उसके हर्षकी सीमा रहेगी ? भगवान् श्रीरामचन्द्र भी कह रहे हैं कि पङ्गुके ऊपर गङ्गा-निपतनसे जो आनन्द होता है वही आनन्द, वही भाग्यका सौभाग्य मेरा भी है जो विभीषण स्वयं सामने उपस्थित है। अतएव उसका अभिनन्दन करते हुए आप कह रहे हैं—'सम्प्राप्तम्'—सौभाग्यसे भले ही आये हुएको।

आगे है 'न त्यजेयं'—त्यक्तुं न शक्नोमि—अर्थात् शरणागत-भावसे आये हुए आश्रयार्थीको त्याग करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। इस अचेतन ब्रह्माण्डमें चिच्छक्तिको डालनेवाले, यावन्मात्र शक्तियोंके एकमात्र आश्रय भगवान् आज्ञा कर रहे हैं कि यदि इस विश्वमें कोई सर्वशक्ति है तो वह मैं हूँ। मेरी विभूति और शक्तियोंका अन्त नहीं। गीतामें आप कहते हैं—'नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप'—हे अर्जुन ! मेरी अलौकिक विभूतियोंका अन्त नहीं है। भगवान्ने उपदेशद्वारा अर्जुनके हृदयमें अपना माहात्म्य पूर्णतया स्थिर कर दिया था, परन्तु सन्देहकी कुछ हलकी-सी रेखा अर्जुनके अन्तःकरणमें बराबर चली आ रही थी। इसको अन्तर्यामी भगवान् जान गये। अर्जुनके ऊपर अनुग्रह करके आपने अपना वह विश्वरूप दर्शन कराया। जिस समय भगवदनुग्रहसे दिव्य नेत्र पाकर अर्जुनने भगवान्का वह दिव्य दर्शन किया उस समय अर्जुनके होश ठिकाने आ गये; नहीं, नहीं, अर्जुनके होश जाते रहे। वह भगवान्के उस रूपसे घबरा उठा। कहने लगा—'अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा'

क्षीरैकपायिना दत्तजानुपतनेन पङ्कमलिनेन ।
पुत्रेणेव हि शालिक्षेत्रेणानन्द्यते हलिकः ॥

'घुटनोंसे चलते हुए, धूलिमलिन, दुग्धपोष्य अपने पुत्रको देखकर जिस तरह पिता प्रसन्न होता है, उसी तरह बालें (रहँगी) निकलना जिसमें आरम्भ हुआ है, धान तैयार होनेका जल जिसमें दिया जा रहा है, कीचड़से मलिन ऐसे अपने खेतको देखकर किसान सुखी होता है।'

भगवान् भी जिस समय अपने भक्तोंको देखते हैं, अपने पास आनेवाले शरणार्थियोंको सामने पाते हैं, वे परिश्रमशाली उसी खेतिहरकी भाँति प्रसन्न हो उठते हैं। 'शरणागतसस्यमालिनीय वृषशैलेशकृषीवलं धिनोति'—शरणागतरूपी सस्योंसे भरी हुई यह धर्मक्षेत्रभूमि श्रीवेंकटेशरूपी कृषीवलको प्रसन्न कर देती है। धर्मसंस्थापन करनेवाले भगवान् धर्मकी छत्रछायामें प्राणिमात्रको अभयदान देनेका दरवाजा खोले बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा करते रहते हैं कि कोई भी मेरे अभिमुख हो जाय, मैं उसकी रक्षा करनेको तैयार हूँ। जब भगवान्‌को शरणागतोंपर इतना ममत्व है तब, कहिये, जो बड़ी लालसासे, बड़े दीनभावसे भगवान्‌की रक्षकतापर दृढ़ विश्वास करके बड़ी दूरसे दौड़ा चला आ रहा है, उसका त्याग वे कैसे कर सकते हैं? इसी अपनी शरणागत-वत्सलताको ध्वनित करते हुए आप कहते हैं—'सम्प्राप्तं न त्यजेयम्।'

भगवान्‌को अपने भक्तोंपर, अपने शरणागतोंपर यहाँतक पक्षपात है कि उनके सम्बन्धके कारण उनके सम्बन्धियोंतकको

भक्तोंको आश्रय देते हैं। आपकी स्वाभाविक इच्छा रहती है कि लोग पापोंसे मुँह मोड़कर मेरी ओर अभिमुख हों। जिस समय देशमें किसी विशेष शिक्षाका प्रचार करना होता है उस समय उस शिक्षाके प्रचारक लोग स्थान-स्थानपर उस शिक्षाके लिये विद्यालय स्थापन करते हैं। पढ़नेवाले बालकोंको खूब उत्साह देते हैं। घर-घरमें जाकर वे लोग उस शिक्षाका महत्त्व समझाते हैं। बालकोंको इनाम आदिका प्रलोभन देकर स्कूलोंमें लाते हैं, धनव्यय करके ऐसे नौकर रखते हैं जो घर जाकर बालकोंको शिक्षालयमें ले आते हैं तथा स्कूलका समय समाप्त होनेपर घर पहुँचा जाते हैं। ऐसे-ऐसे उद्योगोंसे उन शिक्षाप्रचारकोंका काम जब चल निकलता है, लोग पढ़नेके लिये जब स्कूलोंमें आने लगते हैं, तब उनके हर्षकी सीमा नहीं रहती। वे अपनी सफलतापर प्रसन्न होते हैं।

किसान काँटोंसे भरे झाड़-झंखाड़ोंको काटकर जमीन साफ करता है। कंकर-पत्थरोंको हटाकर, मिट्टीके बड़े-बड़े ढेलोंको काठकी सहायतासे फोड़कर खेतकी जमीनको खेतीके लायक बनाता है। मिट्टीको गीली करके बीज बोता है। बड़े परिश्रमसे उसे सींचता है। रात-रातभर जगकर उसकी रखवाली करता है। जिस समय उसमें धानकी बालें आने लगती हैं, कहिये उसको कितना आनन्द होता होगा? वह अपने परिश्रमको सफल समझकर भाविनी आशाओंकी लहरमें मस्त होकर झूमने लगता है। कविने क्या अच्छा कहा है—

क्षीरैकपायिना दत्तजानुपतनेन पङ्कमलिनेन ।
पुत्रेणेव हि शालिक्षेत्रेणानन्द्यते हलिकः ॥

'घुटनोंसे चलते हुए, धूलिमलिन, दुग्धपोष्य अपने पुत्रको देखकर जिस तरह पिता प्रसन्न होता है, उसी तरह बालें (रहँगी) निकलना जिसमें आरम्भ हुआ है, धान तैयार होनेका जल जिसमें दिया जा रहा है, कीचड़से मलिन ऐसे अपने खेतको देखकर किसान सुखी होता है ।'

भगवान् भी जिस समय अपने भक्तोंको देखते हैं, अपने पास आनेवाले शरणार्थियोंको सामने पाते हैं, वे परिश्रमशाली उसी खेतिहरकी भाँति प्रसन्न हो उठते हैं । 'शरणागतसस्यमालिनीय वृषशैलेशकृषीवलं धिनोति'—शरणागतरूपी सस्योंसे भरी हुई यह धर्मक्षेत्रभूमि श्रीवेंकटेशरूपी कृषीवलको प्रसन्न कर देती है । धर्मसंस्थापन करनेवाले भगवान् धर्मकी छत्रछायामें प्राणिमात्रको अभयदान देनेका दरवाजा खोले बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा करते रहते हैं कि कोई भी मेरे अभिमुख हो जाय, मैं उसकी रक्षा करनेको तैयार हूँ । जब भगवान्को शरणागतोंपर इतना ममत्व है तब, कहिये, जो बड़ी लालसासे, बड़े दीनभावसे भगवान्की रक्षकतापर दृढ़ विश्वास करके बड़ी दूरसे दौड़ा चला आ रहा है, उसका त्याग वे कैसे कर सकते हैं ? इसी अपनी शरणागत-वत्सलताको ध्वनित करते हुए आप कहते हैं—'सम्प्राप्तं न त्यजेयम् ।'

भगवान्को अपने भक्तोंपर, अपने शरणागतोंपर यहाँतक पक्षपात है कि उनके सम्बन्धके कारण उनके सम्बन्धियोंतकको

आप प्रिय समझते हैं। अपने भक्तके सम्बन्धी चाहे जैसे दोषी हों, चाहे जैसे अपराधी हों, और तो क्या स्वयं भगवान्के साथ ही परम वैर रखते हों, परन्तु भगवान् जिस समय उन्हें देखते हैं उनपर भी आपको पक्षपात हो जाता है। उनको भी आप ममताकी दृष्टिसे देखने लगते हैं। आप सोचते हैं, यह मेरे भक्तका सम्बन्धी है। उन सम्बन्धियोंको देखकर आपको अपना वह भक्त याद आता है। आप उस समय स्नेहसे गद्गद हो उठते हैं। उन सम्बन्धियोंके अपराधोंपर आपकी दृष्टि नहीं जाती। आपकी दृष्टि जाती है अपने भक्तकी तरफ। 'यह मेरे भक्तका है'—बस इतने-से सम्बन्धमात्रसे वह भगवान्का अनुग्रहपात्र हो जाता है। प्रेम रखनेवाले प्रेमियोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे अपने प्रेमीके सम्बन्धमात्रसे असार वस्तुपर भी लट्टू हो पड़ते हैं। दूती नायकको उपालम्भ देती है—

बालक भवता दत्तां कर्णे कृत्वा तु बदरसङ्घाटीम्।
लज्जालुरपि वधूः सा प्रतियाता ग्रामरथ्यया भवनम्॥

'जो बेरका गुच्छा (एक डाँडमें दो बेर) तुमने अपने हाथसे दिया था उसे कानमें पहनकर वह लजीली बहू गाँवके प्रधान रास्तेसे होकर घर गयी।'

बदरफल कोई रत्न नहीं; परन्तु वह 'तुम्हारा दिया हुआ है', बस, इस बहुमानके कारण आभूषणकी तरह कानमें पहनकर उसे इतना हर्ष हुआ, अपनेमें इतना बहुमान हुआ कि गर्वके कारण वह उस रास्तेसे चली जिससे गाँवके सब लोग आते-जाते हैं।

उसको इतना हर्ष था कि 'आज मैं सबसे बड़ी भाग्यवती और सुन्दरी हूँ। सब लोग मेरे सौभाग्यको देखें', इस कारण सब लोगोंको दिखानेकी नीयतसे चक्कर खाकर भी गाँवके बीच रास्तेसे जा रही है। वह भी कौन? 'लज्जालुः'। और समय वह इतनी लजीली है कि उससे किसीके सामने निकलातक नहीं जाता। परन्तु आज हर्षके कारण इतनी विह्वल हो रही है कि गाँवभरमें अपने सौभाग्यकी डौंडी पीटनेके लिये बीच गाँवसे मस्त हुई चली जा रही है। किसलिये कि 'भवता दत्ताम्'—वह बेरका गुच्छा तुम्हारा दिया हुआ है।

महाकवि कालिदासका चित्रित किया हुआ यक्ष उत्तर दिशासे आये हुए पवनोंको बड़े आदर और प्यारसे आलिङ्गन करता है कि 'एभिः स्पृष्टमङ्गं तवेति'—इन वायुओंने प्रेमपात्रके अङ्गका स्पर्श किया है।

कुत्ता समय-वैभवसे आज कदाचित् गद्दे और पलंगोंपर सभ्योंके साथ सोनेका सौभाग्य पा गया हो, परन्तु सदासे तिरस्कार्य कहा गया है। हम किसीको क्रोधमें फटकारते हैं तो कहते हैं, 'न त्वां शुने मन्ये'—मैं तुम्हारी कुत्ते-बराबर भी दर नहीं मानता। परन्तु वही कुत्ता लैलाका है यह मालूम होते ही मजनू उसे किस दृष्टिसे देखता है, यह वही जानता है। छातीसे लगाकर अपने सन्तप्त हृदयका प्रेम और आदर प्रकाश करता है। इसी भाँति भगवान् भी अपने भक्तके कारण उसके सम्बन्धियोंतकका मुलाहिजा करते हैं। हिरण्यकशिपुका भगवान्‌के साथ वह विद्वेष था जिसकी सीमा नहीं।

भगवान्‌का स्मरणमात्र करनेके अपराधमें अपने एकमात्र औरस पुत्रपर यहाँतक अप्रसन्न था कि उसको स्वयं अपने हाथसे मारनेको तैयार हो गया, इससे ज्यादा और क्या होगा ? भगवान् प्रह्लादकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर कहते हैं—'वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम्'—हे प्रह्लाद ! अपना अभिमत वर माँगो, मैं मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला हूँ। किन्तु निष्काम भक्त प्रह्लाद कहते हैं, 'मा मां प्रलोभयोत्पत्त्या सक्तं कामेषु तैर्वरैः' 'हे भगवन् ! मैं तो उत्पत्तिसे ही कामोंमें स्वयं आसक्त हूँ, मुझे फिर वरोंके द्वारा क्यों प्रलोभन देते हैं।' इससे यह न समझा जाय कि प्रह्लाद दरअसल कामनाओंमें आसक्त थे। नहीं, नहीं, उनके बराबर कोई 'एकान्ती' नहीं। वे भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं कि 'हे भगवन् ! मैं माँगूँ तो क्या माँगूँ ? मनुष्यके आशास्य (प्रार्थनीय) आयु, धन, वैभव आदि क्या स्थिर हैं, जो इनके लिये त्रिलोकपति आपके आगे मुँह खोलूँ ? हे अखिलेश ! मैंने मनुष्य तो क्या, देवताओंतककी दशा देख ली है। देवता भी कैसे, जो लोकपाल कहलाते हैं। कोई पुरानी बात थोड़े ही है, अभीकी बात कह रहा हूँ। मेरे पिताके दरबारमें खड़े देवता थर-थर काँपा करते थे। रात्रिदिन उसीकी उपासना होनी आरम्भ हो गयी थी। प्रातःकाल पूर्व दिशाकी तरफ मुख करके सन्ध्या, प्रणाम आदि किये जाते हैं और सायं पश्चिमकी तरफ; किन्तु जिस समय मेरे पिताका सौभाग्यसूर्य चमक रहा था उस समय तीनों सन्ध्याओंके समय उसी दिशाको देवतातक भी प्रणाम करते थे जिसमें वह चला जाता था—

स सञ्चरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां
यदृच्छयाशिश्रियदाश्रयः श्रियाम् ।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्-
करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः ॥

जिस समय कोपसे उसकी भ्रुकुटि जरा बाँकी हो जाती, इतनेमात्रमें वे अपनी आयुकी समाप्ति समझ लेते थे और प्रसन्नतासे जरा भी उसकी भ्रुकुटि नाच उठती तो वे अपना सुदिन समझते थे। देवताओंके आयु, धन, वैभव आदि भ्रुकुटिके काँटेपर चढ़े हुए थे जो जरा-से फर्कसे इधर-के-उधर हो जाते थे। प्रह्लाद कहते हैं—

दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपाना-
मायुः श्रियो विभव इच्छति याञ्जनोऽयम् ।
येऽस्मत्पितुः कुपितहासविजृम्भितभ्रू-
विस्फूर्जितेन लुलिताः स तु ते निरस्तः ॥

'हे प्रभो ! मैंने दिव्यलोकोंमें सम्पूर्ण लोकपालोंके आयु, धन तथा अन्यान्य वैभव आदि देख लिये हैं, जिन आयु आदिको मनुष्य चाहा करता है। ये देवताओंके आयु आदि, कोप और हास्यसे विजृम्भित मेरे पिताके भ्रुकुटिविलाससे इधर-के-उधर हो जाते थे। वह अद्भुत प्रतापी पिता भी आपके आगे निरस्त हो गया।'

यदि आप मुझे मेरा अभीष्ट वर देते ही हैं तो, 'कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्'—मेरे हृदयमें कामनाओंकी उत्पत्ति ही न हो, यही आपसे मैं वर माँगता हूँ। भगवान् प्रसन्न होकर

कहते हैं—'मैं जानता हूँ, तुम्हारे सदृश एकान्तभक्त कामनाओंको कभी हृदयमें स्थान नहीं देते ।' तो भी, प्रह्लादके नहीं चाहनेपर भी भगवान् उन्हें एक मन्वन्तरपर्यन्त दैत्येश्वरोंका साम्राज्य देते हैं। प्रह्लाद कहते हैं 'भगवन् ! आपके प्रभावको नहीं जाननेवाले मेरे पिताने बड़ा अपराध किया है, जो आपकी निन्दा की। मैं याचना करता हूँ कि उसकी इस पातकसे निवृत्ति हो जाय।' भगवान् आज्ञा करते हैं—'तुम्हारे कारण केवल तुम्हारे पिता ही नहीं, इक्कीस पुरखा पवित्र हो गये।'

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ ।
यत्साधोऽस्य गृहे जातो भवान् वै कुलपावनः ॥

'तुम्हारा पिता इक्कीस पीढ़ियोंके साथ पवित्र हो गया, जो तुम-सरीखा कुलको पवित्र करनेवाला साधु पुत्र उसके घरमें उत्पन्न हुआ।' अपने भक्तके सम्बन्धके कारण भगवान्‌का अनुग्रह देखिये, जो उस विद्वेषीपर ही नहीं, इक्कीस पीढ़ीतकपर आपकी कृपा हो गयी।

कदाचित् इस दृष्टान्तपर लोगोंको यह कहनेका अवकाश मिल जाय कि इसमें कृपाका इतना अहसान नहीं। भक्त प्रह्लादके पुण्यसे अपने आप उनका उद्धार हो गया। परन्तु घण्टाकर्ण तो भगवान्‌का स्पष्ट विद्वेषी था। उनका नामतक सुनना नहीं चाहता था। कहीं नाम कानमें न पड़ जाय, इसलिये कानमें घण्टे लटकाये रखता था कि उनकी आवाजसे नाम सुनायी ही न दे। परन्तु विद्वेषके कारण ही यह अहर्निश भगवान्‌का हृदयमें ध्यान रखता

था। भगवान् इस एकान्ततासे प्रसन्न हो गये। उसपर प्रसन्न हुए सो तो हुए, उसके पक्षपातसे उसके छोटे भाईतकका उद्धार कर दिया।

कंसको मारनेके लिये भगवान् जिस समय मथुरापुरी पधारे उस समय सुदामा मालीने पुष्पके हारोंसे भगवान्की सेवा की, अपनी योग्यतानुसार आपका अर्चन किया। आप उसपर प्रसन्न हो गये। उसके सम्बन्धके कारण उसके वंशभरको आयु, लक्ष्मी आदिका वर दे दिया। यह एक ही क्या, अनेक ऐसे दृष्टान्त हैं जिनमें अपने भक्तके पक्षपातसे भगवान्ने उसके सम्बन्धियों-तकपर कृपा की है। भगवान् कहते हैं कि जब मुझे भक्तके साथ यहाँतक प्रीति है कि उसके सम्बन्धीतकका त्याग नहीं करता, तब क्या शरण आये हुए साक्षात् विभीषणको ही मैं छोड़ दूँगा? मैं तो विभीषणके सम्बन्धके कारण रावणतकको क्षमा करनेके लिये तैयार हूँ। वह भी यदि मेरे आश्रयमें आये तो मैं उसके कोई अपराध न देखूँ। उसको प्रिय बना लूँ। आगे चलकर आपने स्पष्ट ही श्रीमुखसे कहा है—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

'हे सुग्रीव! इसे मेरे पास ले आओ। मैंने इसको अभय दे दिया, चाहे यह विभीषण हो अथवा स्वयं रावण ही क्यों न हो।' जब मैं रावणतकको स्वीकार करनेको तैयार हूँ तो क्या शरणागत साक्षात् विभीषण मुझसे छोड़ा जायगा? नहीं-नहीं, यह मेरी शक्ति-

आदर्शपर आज भी संसारके पुरुष अपने जीवनके आदर्शोंको स्थिर कर रहे हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रके सेतुबन्धनादि अलौकिक चरित्रोंकी बात छोड़ दीजिये, आपके जो-जो व्यावहारिक चरित्र हुए हैं उन्हीं सबको प्रमाण मानकर संसारका जनसमाज आजतक अनुकरण करता चला आ रहा है। केवल भारतके ही श्रद्धालु नहीं, अन्यान्य सभ्य देशोंके भी चरित्रसमालोचक लोग श्रीरामचरित्रका आदर्श बड़ा ऊँचा मान चुके हैं। उनके चरित्रकी एक-एक घटनापर सभ्यसमाजने पेटभर आलोचना कर ली है। प्रबल परीक्षाओंके बाद यह स्थिर हो रहा है कि भगवान् श्रीरामचन्द्र मर्यादापुरुषोत्तम हैं और उनके चरित्रोंका आदर्श बड़ा ऊँचा है। 'भगवान् श्रीरामचन्द्र साक्षात् त्रैलोक्यनाथ थे, रावणादि दुष्टोंके संहारके लिये भूमिमें अवतार लेकर पधारे थे। दुष्टोंका दमन, शिष्टोंका सान्त्वन—यही आपका प्रधान उद्देश्य था और बाकीके मानवचरित्र तो आपने अपने उद्देश्यका सौष्ठवसे निर्वाह करनेके लिये अभिनीत किया था।' इस अभिप्रायको रखनेवाले श्रद्धालुओंकी तो बात ही दूसरी है, परन्तु जो लोग मानवचरित्रके आदर्शोंको खोजनेकी नीयतसे रामकथापर दृष्टि डालते हैं वे भी श्रीरामके असाधारण त्यागको देखकर दंग हो उठते हैं।

श्रीरामचन्द्रके गुणगणोंसे मुग्ध हुए महाराज दशरथ ही क्या, सम्पूर्ण साकेतप्रान्त यह चाह रहा था कि श्रीरामचन्द्र अयोध्याके युवराज बना दिये जायँ। बड़ी उत्कट अभिलाषाओंके बाद जब श्रीरामचन्द्रके यौवराज्याभिषेकका शुभ दिन स्थिर हुआ तब राजा और प्रजाके सुखकी सीमा न रही। अयोध्यामें

आनन्दका सागर उमड़ पड़ा। किन्तु इस आनन्दसागरमेंसे जैसे नित्य नये उत्सवरत्न निकल रहे थे वैसे ही उसमेंसे अचानक हालाहल विषका भी प्रादुर्भाव हुआ। दैवप्रेरित कैकेयीके क्रूरता-पाशमें महाराज दशरथ बाँध लिये गये। कैकेयीने सत्यप्रतिज्ञ राजाको विवश कर लिया कि आज ही रामचन्द्रको वनवासकी आज्ञा दी जाय और इस अभिषेककी मङ्गल-सामग्रीसे भरतको यौवराज्य हो। वृद्धावस्थामें बड़े यत्नोंसे राजाको पुत्रमुखदर्शनका सुख मिला था। श्रीरामसरीखे ज्येष्ठ पुत्र मिले थे। बड़ी साधनाओंके बाद आज यह सुखसमय आया था कि उन्हें युवराज-पदवी दी जाय। अनुनय-विनय करके, पैरों पड़कर राजाने कैकेयीको बहुत मनाया—

अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान्।
रामो लब्धो महातेजाः स कथं त्यज्यते मया॥

'मुझ अपुत्रने बड़े श्रमसे रामसरीखा पुत्र पाया है। उसे मैं कैसे छोड़ सकता हूँ?' किन्तु मूर्तिमान् होनहार बनी हुई कैकेयी भला कैसे मानती? राजा विह्वल होकर शय्यापर गिर पड़े।

इधर मङ्गलमय प्रातःकालमें ही अयोध्याका राजदरबार सजाया जा चुका था। सामन्तगण और दरबारी लोग भेंट लिये राजमहल-में बैठे प्रतीक्षा कर रहे थे कि महाराज दरबारमें पधारें तो अभिषेक हो, महाराज और युवराजकी नज़रें की जायँ। इक्ष्वाकु-वंशके कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ अभिषेकके लिये जैसे ही ड्योढ़ीमें पधारे, सुमन्त दौड़कर अन्तःपुरमें महाराजको खबर करनेके लिये

गये। किन्तु वहाँ दृश्य दूसरा ही देखा। राजा शय्यापर पड़े थे। कैकेयीने कहा कि—'अभिषेककी खुशीके कारण महाराजको रात्रिमें नींद नहीं आयी थी। इस समय कुछ आँख लगी है। महाराजने रामचन्द्रको यहाँ बुलाया है। जल्दीसे भेज दो।'

सुमन्त्रको आश्चर्य तो हुआ; परन्तु यह समझकर कि अभिषेकके सम्बन्धमें ही महाराज श्रीरामको देखना चाहते हैं, वे जल्दीसे श्रीरामको उनके महलसे बुला लाये। श्रीरामचन्द्र वहाँका दृश्य देखकर घबरा उठे। हृदयमें सोचने लगे—

अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति।
तस्य मामद्य संप्रेक्ष्य किमायासः प्रवर्तते॥

'जो पितृचरण और दिन कुपित होते तो भी मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाते थे, उन्हींके मनमें आज मुझे देखकर क्लेश क्यों हो रहा है?' माता कैकेयीको प्रणाम करके श्रीरामचन्द्रने कहा—

कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद्येन मे पिता।
कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वमेवैनं प्रसादय॥

'अज्ञानके कारण आज मुझसे कुछ अपराध तो नहीं हो गया जिससे पिताजी कुपित हो गये हैं? आप ही मेरा अपराध क्षमा कराकर इन्हें प्रसन्न कर दीजिये।' दैवमुखी कैकेयीने कहा

यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते।
ततोऽहमभिधास्यामि न ह्येष त्वयि वक्ष्यति॥

'यदि तुम्हारे विषयमें राजाकी आज्ञा अन्यथा न हो, झूठी न जाय, तो मैं कह दूँगी। महाराज तुमसे कुछ न कह सकेंगे।'

पिताके सम्मुख ही ऐसे वचन सुनकर श्रीरामको बड़ा दुःख हुआ। आप बोले—

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च॥
तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥

'हे देवि! यदि मेरे विषयमें आज्ञोलङ्घनका सन्देह किया जा सकता है तो मुझको धिक्कार है। आप मुझको ऐसे वचन न कहें। मैं महाराजकी आज्ञासे अग्निमें कूद सकता हूँ, हालाहल विष पी सकता हूँ, समुद्रमें गिर सकता हूँ। महाराज गुरु हैं, पिता हैं, राजा हैं, मेरे हितचिन्तक हैं। प्रत्येक कारणसे मैं उनकी आज्ञापालनके लिये बाध्य हूँ। आप निःशङ्क होकर महाराजका अभीष्ट कहिये। मैं उसको करूँगा, प्रतिज्ञा करता हूँ। यह राम कहकर कभी उसे नहीं बदलेगा।'

कैकेयीने विष उगल ही दिया। किन्तु महापुरुष रामके चेहरेपर रेखामात्र अन्तर न पड़ा। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—

सर्वोऽप्यभिजनः श्रीमान् श्रीमतः सत्यवादिनः।
नालक्षयत रामस्य किञ्चिदाकारमानने॥

'जो परिजन रात-दिन पास रहनेवाले थे, क्षण-क्षणके भावोंका जिन्हें परिचय था, उन्होंने भी सत्यवादी श्रीमान् रामचन्द्रके मुखपर कोई विभिन्न आकार न देखा।' आपने कहा—

अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहते मम।
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम्॥
अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः॥

'एक बातका दुःख मेरे हृदयको जलाता है, वह यह कि स्वयं महाराजने मुझे भरतके राज्याभिषेककी आज्ञा नहीं दी। मैं आज्ञा होनेपर अपने भाईको धन-दौलत, राजपाट, प्राणप्रिया जानकी, यहाँतक कि प्राणोंको भी, जो सबको अभीष्ट है, हर्षपूर्वक स्वयं दे सकता हूँ।'

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम्॥

'हे देवि! मैं राज्यलोलुप होकर इस लोकमें नहीं रहना चाहता। मुझे (त्यागके विषयमें) ऋषियोंके समान ही समझें। मुझे निष्कपट धर्मपर हृदयसे आस्था है।'

न ह्यतो धर्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया॥

'इससे बढ़कर कोई धर्माचरण नहीं कि पिताकी शुश्रूषा अथवा उनकी आज्ञाका पालन किया जाय।'

यदि श्रीरामचन्द्र चाहते तो उनके लिये कई रास्ते थे जिनसे वे अयोध्याके युवराज वन जाते और वन नहीं जाते। यह न समझिये कि धृष्ट होकर अयोध्यामें रह जाते। नहीं-नहीं, नीतिके अनुसार। कोई यह नहीं कह सकता था कि श्रीरामने अनुचित किया। जिस

समय लक्ष्मणको श्रीरामके वनवासका वृत्तान्त मालूम हुआ, वे एकदम क्रुद्ध हो उठे। वे महारानी कौशल्यासे बोले—

तदिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः।
पुत्रः को हृदये कुर्याद्राजवृत्तमनुस्मरन्॥

'मालूम होता है, राजाको फिरसे बालकपन आ गया है। ऐसा कौन राजनीतिज्ञ पुत्र होगा जो इस वचनको हृदयमें भी स्थान दे।' राजा बिल्कुल आपेमें नहीं हैं। यह आजतककी राजनीतिसे बिल्कुल विरुद्ध है कि छोटे लड़केको राज्य मिले और बड़ा निर्दोष ही राज्यसे वञ्चित रहे। कोई कुछ न बोले, मैं अकेला इस व्यवस्थाके विरोधमें आगे बढ़ता हूँ। यदि भरतके पक्षसे राजशक्तियाँ उठेंगी तो अकेला मैं सबको सम्हाल लूँगा।

न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे।
नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः॥

'ये मेरी भुजाएँ शोभाके लिये नहीं हैं, यह धनुष मैंने केवल सजावटके लिये नहीं धारण किया है, यह तलवार कमरमें लटकानेके लिये ही नहीं है, और न ये बाण केवल तरकसमें जकड़े पड़े रहनेके लिये हैं।' इस हिसाबसे राजनीतिका पक्ष लेकर लक्ष्मण डट जाते तो कौन ऐसा था जो कुछ कर सकता था और कौन श्रीरामचन्द्रको वन भेज सकता था?

अयोध्याकी प्रजा श्रीरामके यौवराज्यका महोत्सव देखनेके लिये देवी-देवता मना रही थी। एक-एक दिन बड़ी उत्कण्ठासे बीत रहे थे कि किस दिन वह शुभ समय देखेंगे जिसमें

श्रीरामचन्द्रको युवराजके पदपर अभिषिक्त किया जायगा। जिस समय प्रजाको मालूम हुआ कि श्रीरामको अभिषेक कैसा, वनवास दिया गया है, तमाम प्रजा एकदम विकल हो उठी। सबने सोचा कि कैकेयीने राजाको धर्मपथसे गिरा दिया है। यह अनुचित होगा कि श्रीराम अयोध्यासे चले जायँ। दुःख और गुस्सेमें भरे हुए सचिव सुमन्त्रने तो कैकेयीसे स्पष्ट ही कह दिया कि यदि तुम किसी तरह भी समझानेसे नहीं मानती तो—

राजा भवतु ते पुत्रो भरतः शास्तु मेदिनीम्।
वयं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति॥
न च ते विषये कश्चिद् ब्राह्मणो वस्तुमिच्छति।
तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म करिष्यसि॥
नूनं सर्वे गमिष्यामो मार्गं रामनिषेवितम्।

'तुम्हारा पुत्र राजा हो जाय, भरत सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन करे। हम तो वहीं चले जायँगे, जहाँ रामचन्द्र जायँगे। तुम्हारे देशमें कोई ब्राह्मण नहीं रहना चाहेगा, जो आज तुम ऐसा बेमर्याद काम करोगी। और हम सब लोग तो निश्चय ही रामके मार्गपर चले जायँगे।' और तो क्या, अयोध्याकी स्त्रियोंतकने कह दिया—

कैकेय्या न वयं राज्ये भृतका हि वसेमहि।
जीवन्त्या जातु जीवन्त्यः पुत्रैरपि शपामहे॥

'जबतक कैकेयी जीती है और हम भी जीती हैं तबतक चाहे वह कितना ही भरण-पोषण करे, हम कभी उसके राज्यमें नहीं रहेंगी। हम अपने पुत्रोंकी शपथ खाती हैं!' हद हो गयी।

पुत्रवती अत्यहित हुए बिना कभी पुत्रकी शपथ नहीं खाती। जब प्रजाकी तरफसे भी यों घोर विरोध हो रहा था तो फिर ऐसा कौन था जो श्रीरामको जबरदस्ती वन भेजता। प्रजाके विरोधपर तो आजकल राज्य-के-राज्य उलट जाते हैं, तब भला राम चाहते तो अयोध्यामें नहीं रह पाते? प्रजाकी तरफ राजाके बड़े-बड़े उच्च भाव थे। 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'—जबतक प्रजा अनुरक्त न हो, राजा राजा ही नहीं कहला सकता। प्रजाका विरोध पहले सामान्य दृष्टिसे नहीं देखा जाता था। सम्मिलित प्रजा तो क्या, कुछ ही आदमी यदि असन्तुष्ट रहते तो राजा अपना अपराध समझता था, उन्हें सन्तुष्ट करके ही विश्राम लेता था।

श्रीरामके राज्यमें एकमात्र अकालमृत्यु होनेसे एक ही ब्राह्मण-की तरफसे विरुद्ध पुकार आयी थी कि श्रीराम तत्काल अपना ही अपराध समझकर उसके प्रतीकारके लिये उठ खड़े हुए थे। वनवासके समय तो सारी प्रजा एक तरफ थी। यहाँतक कि स्त्रियाँ-तक यों घोर विरोध कर रही थीं, तो भला दशरथ इसपर विचार न करते?—वह भी ऐसी दशामें जब वे स्वयं यह चाहते थे कि राम वनको न जायँ।

जिस समय भगवान् श्रीरामचन्द्र सीता और लक्ष्मणको साथ लेकर वन जानेके लिये महाराज दशरथको प्रणाम करने गये उस समय दशरथकी बड़ी करुण दशा थी। उनका हृदय रो-रोकर कह रहा था कि रामको वन मत जाने दो। वे अच्छी तरह जानते थे कि रामके विरहमें मेरा जीवन नहीं रह सकता। उस समयकी

श्रीरामचन्द्रको युवराजके पदपर अभिषिक्त किया जायगा। जिस समय प्रजाको मालूम हुआ कि श्रीरामको अभिषेक कैसा, वनवास दिया गया है, तमाम प्रजा एकदम विकल हो उठी। सबने सोचा कि कैकेयीने राजाको धर्मपथसे गिरा दिया है। यह अनुचित होगा कि श्रीराम अयोध्यासे चले जायँ। दुःख और गुस्सेमें भरे हुए सचिव सुमन्त्रने तो कैकेयीसे स्पष्ट ही कह दिया कि यदि तुम किसी तरह भी समझानेसे नहीं मानती तो—

राजा भवतु ते पुत्रो भरतः शास्तु मेदिनीम्।
वयं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति॥
न च ते विषये कश्चिद् ब्राह्मणो वस्तुमिच्छति।
तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म करिष्यसि॥
नूनं सर्वे गमिष्यामो मार्गं रामनिषेवितम्।

'तुम्हारा पुत्र राजा हो जाय, भरत सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन करे। हम तो वहीं चले जायँगे, जहाँ रामचन्द्र जायँगे। तुम्हारे देशमें कोई ब्राह्मण नहीं रहना चाहेगा, जो आज तुम ऐसा बेमर्याद काम करोगी। और हम सब लोग तो निश्चय ही रामके मार्गपर चले जायँगे।' और तो क्या, अयोध्याकी स्त्रियोंतकने कह दिया—

कैकेय्या न वयं राज्ये भृतका हि वसेमहि।
जीवन्त्या जातु जीवन्त्यः पुत्रैरपि शपामहे॥

'जबतक कैकेयी जीती है और हम भी जीती हैं तबतक चाहे वह कितना ही भरण-पोषण करे, हम कभी उसके राज्यमें नहीं रहेंगी। हम अपने पुत्रोंकी शपथ खाती हैं!' हद हो गयी।

यावत्तु निर्यतस्तस्य रजोरूपमदृश्यत ।
नैवेक्ष्वाकुवरस्तावत्सञ्जहारात्मचक्षुषी ॥

'जबतक उनके रथकी धूलिका भी रूप दीखता रहा तबतक राजाके नेत्र वापस नहीं लौटे ।' जब रज भी दीखना बन्द हो गया तब राजा महल क्या, अपने शोकागारमें लौटे । राजाके शोकसे महर्षि वाल्मीकिकी कलम भी यहाँतक अभिभूत हो गयी थी कि अमङ्गलका भी विचार न कर वह कहती है—

इत्येवं विलपन् राजा जनौघेनाभिसंवृतः ।
अपस्नात इवारिष्टं प्रविवेश गृहोत्तमम् ॥

'बहुत-से आदमियोंसे घिरे हुए, इस तरह विलाप करते हुए राजा शवदाहोत्तर मृतस्नान करके जैसे घरमें घुसते हैं उस तरह उस अमङ्गल घरमें घुसे ।' महलमें लौटते ही आपने आज्ञा दी कि मुझे कौसल्याके महलमें ले चलो । वह रात्रि, वह कालरात्रि, दशरथने कौसल्याके भवनमें ही बितायी । आधीरात होते-होते तो राजाकी यह दशा हो गयी कि वे कौसल्यासे बोले—

न त्वां पश्यामि कौसल्ये साधु मां पाणिना स्पृश ।
रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते ॥

'हे कौसल्ये ! तुम मुझे दिखायी नहीं देती हो । मुझे हाथसे अच्छी तरह छुओ । मेरी दृष्टि रामके साथ-साथ चली गयी है, जो अभीतक नहीं लौटी ।'

जिन राजा दशरथकी रामके वियोगमें दो पहरमें यह हालत हो गयी, भला वे रामको जानेके लिये अपने मनसे अनुमति

घटना कहता हूँ जिस समय श्रीरामने मना करनेवालोंको बड़े विनयसे प्रार्थना करके मना लिया था कि 'इस समय मेरा वन जाना ही समयप्राप्त है।' अस्तु, जैसे ही राजाने रामचन्द्रको चीरवल्कल पहने मुनिवेषधारी देखा, राजाका हृदय फटने लगा—

नैनं दुःखेन सन्तप्तः प्रत्यवैक्षत राघवम्।
न चैनमभिसम्प्रेक्ष्य प्रत्यभाषत दुर्मनाः॥

'दुखी राजासे रामकी तरफ देखा न गया। उनका मन यहाँतक दुखी था कि श्रीरामको देखकर उनके साथ बोलातक न गया।' रामसदृश प्रिय पुत्र चौदह बरसके लिये वन जा रहा है और पिता दशरथ उनसे बोलेतक नहीं! कुछ दुःखका ठिकाना है! निःसंज्ञ होकर राजा विलाप करने लगे—

मन्ये खलु मया पूर्वं विवत्सा बहवः कृताः।
प्राणिनो हिंसिता वापि तन्मामिदमुपस्थितम्॥

'मालूम होता है, मैं पहले बहुतोंको पुत्रोंसे रहित कर चुका हूँ। अथवा मैंने बहुत-से प्राणियोंका घात किया है। आज वही मेरे सामने आ उपस्थित हुआ है।'

एवमुक्त्वा तु वचनं बाष्पेण विहतेन्द्रियः।
रामेति सकृदेवोक्त्वा व्याहर्तुं न शशाक सः॥

'यह कहते-कहते ही उनसे बोला न गया। आँसुओंसे गला रुक गया। केवल एक बार 'राम' यह कहकर ही फिर वे कुछ न बोल सके।' जिस समय रथमें बैठाकर सुमन्त्र श्रीराम आदिको ले जा रहे थे, राजा पथराई हुई आँखोंसे एकटक रथकी तरफ देखते रहे—

उनसे कौन छुड़ा सकता था ? यदि श्रीराम वन न जाकर अयोध्यामें ही रहते तो इस हालतमें कौन बुरा कहता ? यहाँ तो स्पष्ट ही उपाय था कि 'पिताजी मुझे आज्ञा देते हैं, तू अयोध्यामें रह ।' फिर भला राज्यभोगोंको छोड़कर जङ्गल-जङ्गल घूमनेकी क्या जरूरत थी ? परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्र धर्मका आदर्श कायम करने पधारे हैं । वे हाथ जोड़कर पितासे कहते हैं—

भवान् वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः ।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे राज्यस्य काङ्क्षिता ॥

'हे राजन् ! आप हजार वर्ष पृथिवीका राज्य करें । मैं प्रसन्नतासे वनवासके लिये तैयार हूँ । मुझे राज्यकी अभिलाषा नहीं ।'

नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मेदिनीम् ।
नैव सर्वानिमान् कामान्न स्वर्गं न च जीवितम् ॥
त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ ।
प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे ॥

'मैं राज्य नहीं चाहता, सुख नहीं चाहता, पृथिवी नहीं चाहता, इन दुनियाकी मनोरथोंको नहीं चाहता, स्वर्ग नहीं चाहता; और तो क्या, जीवनतककी मुझे इच्छा नहीं । मैं चाहता हूँ कि आपके सत्यकी रक्षा हो, आपको मिथ्यावादिताका कलङ्क न लगे—मैं आपके सम्मुख सत्य और पुण्योंकी शपथ खाकर कहता हूँ ।' जो रामचन्द्र पिताके सत्यके लिये अपने सर्व सुखोंका बलिदान दे देते हैं, भला उनकी मर्यादापालकताकी सीमा है ? वही मर्यादापुरुषोत्तम अभयदान देनेकी प्रतिज्ञा करके, भला, फिर अपने

देते ? किन्तु प्रतिज्ञापाशमें बँधे हुए थे। रामको खुले शब्दोंमें तो कैसे कहते कि तुम मत जाओ, किन्तु हृदय नहीं मानता था। आप कहते हैं—

नहि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव।
सन्निवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन॥
अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा।
एकाहं दर्शनेनापि साधु तावच्चराम्यहम्॥

'हे तात! तुम सत्यात्मा हो, धर्ममें तुम्हारा मन है, मैं तुम्हारी जानेकी बुद्धिको तो नहीं रोक सकता; किन्तु आज रातको तुम सर्वथा मत जाओ, जिससे एक दिन तो मैं तुम्हें देखकर सुखपूर्वक जी सकूँ।' राजाके प्राण हृदयमें तड़फड़ा रहे थे। राजासे न रहा गया। बोले—

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य राजा भव निगृह्य माम्॥

'हे राम! कैकेयीने मुझे वरदानसे मूढ (बदहवास) कर दिया है। मैं राज्य करनेयोग्य नहीं। मुझे क़ैद करके अयोध्याकी गद्दीपर तुम ही बैठो।' यहाँ साफ ही कह दिया कि मैं जो कार्रवाई कर रहा हूँ, होशहवासमें नहीं कर रहा। मेरी यह कार्रवाई उचित गिनी जानेयोग्य नहीं। 'राघव' सम्बोधनसे ध्वनित कर दिया कि रघुवंशमें आजतक यह अनरीति नहीं हुई कि बड़े पुत्रके रहते छोटा गद्दीका मालिक हो। अतः तुम मेरे विरुद्ध भी अयोध्याके राजा होनेके योग्य हो। अब कहिये, प्रजा विरुद्ध, राजा विरुद्ध, ऐसी दशामें यदि श्रीराम चाहते तो अयोध्याकी युवराजपदवी

उनसे कौन छुड़ा सकता था ? यदि श्रीराम वन न जाकर अयोध्यामें ही रहते तो इस हालतमें कौन बुरा कहता ? यहाँ तो स्पष्ट ही उपाय था कि 'पिताजी मुझे आज्ञा देते हैं, तू अयोध्यामें रह ।' फिर भला राज्यभोगोंको छोड़कर जङ्गल-जङ्गल घूमनेकी क्या जरूरत थी ? परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्र धर्मका आदर्श कायम करने पधारे हैं । वे हाथ जोड़कर पितासे कहते हैं—

भवान् वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः ।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे राज्यस्य काङ्क्षिता ॥

'हे राजन् ! आप हजार वर्ष पृथिवीका राज्य करें । मैं प्रसन्नतासे वनवासके लिये तैयार हूँ । मुझे राज्यकी अभिलाषा नहीं ।'

नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मेदिनीम् ।
नैव सर्वानिमान् कामान्न स्वर्गं न च जीवितम् ॥
त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ ।
प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे ॥

'मैं राज्य नहीं चाहता, सुख नहीं चाहता, पृथिवी नहीं चाहता, इन दुनियावी मनोरथोंको नहीं चाहता, स्वर्ग नहीं चाहता; और तो क्या, जीवनतककी मुझे इच्छा नहीं । मैं चाहता हूँ कि आपके सत्यकी रक्षा हो, आपको मिथ्यावादिताका कलङ्क न लगे—मैं आपके सम्मुख सत्य और पुण्योंकी शपथ खाकर कहता हूँ ।' जो रामचन्द्र पिताके सत्यके लिये अपने सर्व सुखोंका बलिदान दे देते हैं, भला उनकी मर्यादापालकताकी सीमा है ? वही मर्यादापुरुषोत्तम अभयदान देनेकी प्रतिज्ञा करके, भला, फिर अपने

प्रणसे हट जायँगे ? जो दीनताके साथ अपनी शरणमें आया है उस शरणागतको छोड़ देंगे ? इसी आशयसे श्रीरामचन्द्र कह रहे हैं—'कथञ्चन'—'किसी तरह भी' शरणागतको नहीं छोड़ सकता ।

श्रीरामचन्द्रकी मर्यादापालकताका और भी प्रकट प्रमाण है। जिस समय श्रीरामचन्द्रका वनगमन निश्चित हो गया तब महाराज दशरथ और तो क्या कर सकते थे, आपने श्रीरामकी रक्षाके विचारसे सुमन्त्रको हुकुम दिया कि श्रीरामके साथ चतुरङ्गिणी सेना जाय और आरामका सब सामान साथ रहे, जिससे उन्हें अयोध्याकी याद न आवे । इसपर श्रीरामने बड़े विनयसे निवेदन किया—

यो हि दत्त्वा द्विपश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः ।
रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम् ॥
तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्या जगत्पते ।
सर्वाण्येवानुजानामि चीराण्येवानयन्तु मे ॥

'जो मनुष्य हाथीको देकर उसकी कमर बाँधनेकी रस्सीपर मन डुलावे तो उससे क्या लाभ है ? हाथीको छोड़कर रस्सीमें स्नेह करनेसे क्या होता है ? इसी तरह हे जगत्पति ! हे सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! मुझे अब सेनाका क्या करना है । मैं ये सब चीजें भरतको ही देता हूँ। मेरे लिये तो चीर-वल्कल लाये जायँ, जिन्हें पहनकर मैं वन जाऊँ ।'

निर्लज्जा कैकेयी अपने हाथसे चीर लाकर श्रीराम और लक्ष्मणको देती है। श्रीजानकी एक बार तो उन चीरोंको देखकर

'पृषती वागुरामिव' (हरिणी बन्धन-रज्जुको देखकर जिस तरह डरती है) घबराईं। परन्तु श्रीराम और लक्ष्मणको चीर पहने देखकर वे भी अपने हाथमें चीर ले तो लेती हैं, परन्तु यह नहीं जानतीं कि ये पहने कैसे जायँगे ?

कथं नु चीरं बध्नन्ति मुनयो वनवासिनः।
इति ह्यकुशला सीता सा मुमोह मुहुर्मुहुः॥
कण्ठे कृत्वा स्म सा चीरमेकमादाय पाणिना।
तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा॥

'वनवासी मुनि चीर कैसे पहनते हैं—इससे अनभिज्ञ सीता किंकर्त्तव्यविमूढ रह गयीं। एकको गलेमें डालकर दूसरेको हाथमें लेकर लज्जित होकर खड़ी रह गयीं।' जिस जानकीकी दासीतक बहुमूल्य कौशेय वस्त्रोंको ठुकराकर चलती हैं वही साकेतधराधीश महाराज दशरथकी पुत्रवधू, विदेहराजनन्दिनी आज पेड़के बकलोंको पहनना चाहती है, किन्तु अनभ्यासके कारण जानती नहीं कि किस तरह पहने। यह करुण दृश्य देखकर रघुकुलके गुरु महर्षि वशिष्ठसे नहीं रहा गया। क्रोधमें आकर वे कहने लगे—

अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि।
वञ्चयित्वा तु राजानं न प्रमाणेऽवतिष्ठसे॥
न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते।
अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम्॥

'कुलकलङ्किनी कैकेयी ! अब तो तू बहुत आगे बढ़ी जा रही है। राजाको ठगकर एकदम सिर उठा लिया है ? कुछ भी

प्रणसे हट जायँगे ? जो दीनताके साथ अपनी शरणमें आया है उस शरणागतको छोड़ देंगे ? इसी आशयसे श्रीरामचन्द्र कह रहे हैं—'कथञ्चन'—'किसी तरह भी' शरणागतको नहीं छोड़ सकता ।

श्रीरामचन्द्रकी मर्यादापालकताका और भी प्रकट प्रमाण है । जिस समय श्रीरामचन्द्रका वनगमन निश्चित हो गया तब महाराज दशरथ और तो क्या कर सकते थे, आपने श्रीरामकी रक्षाके विचारसे सुमन्त्रको हुकुम दिया कि श्रीरामके साथ चतुरङ्गिणी सेना जाय और आरामका सब सामान साथ रहे, जिससे उन्हें अयोध्याकी याद न आवे । इसपर श्रीरामने बड़े विनयसे निवेदन किया—

यो हि दत्त्वा द्विपश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः ।
रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम् ॥
तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्या जगत्पते ।
सर्वाण्येवानुजानामि चीराण्येवानयन्तु मे ॥

'जो मनुष्य हाथीको देकर उसकी कमर बाँधनेकी रस्सीपर मन डुलावे तो उससे क्या लाभ है ? हाथीको छोड़कर रस्सीमें स्नेह करनेसे क्या होता है ? इसी तरह हे जगत्पति ! हे सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! मुझे अब सेनाका क्या करना है । मैं ये सब चीजें भरतको ही देता हूँ । मेरे लिये तो चीर-वल्कल लाये जायँ, जिन्हें पहनकर मैं वन जाऊँ ।'

निर्लज्जा कैकेयी अपने हाथसे चीर लाकर श्रीराम और लक्ष्मणको देती है । श्रीजानकी एक बार तो उन चीरोंको देखकर

'पृषती वागुरामिव' (हरिणी बन्धन-रज्जुको देखकर जिस तरह डरती है) घबराईं। परन्तु श्रीराम और लक्ष्मणको चीर पहने देखकर वे भी अपने हाथमें चीर ले तो लेती हैं, परन्तु यह नहीं जानतीं कि ये पहने कैसे जायँगे ?

> कथं नु चीरं बध्नन्ति मुनयो वनवासिनः।
> इति ह्यकुशला सीता सा मुमोह मुहुर्मुहुः॥
> कण्ठे कृत्वा स्म सा चीरमेकमादाय पाणिना।
> तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा॥

'वनवासी मुनि चीर कैसे पहनते हैं—इससे अनभिज्ञ सीता किंकर्त्तव्यविमूढ रह गयीं। एकको गलेमें डालकर दूसरेको हाथमें लेकर लज्जित होकर खड़ी रह गयीं।' जिस जानकीकी दासीतक बहुमूल्य कौशेय वस्त्रोंको ठुकराकर चलती हैं वही साकेतधराधीश महाराज दशरथकी पुत्रवधू, विदेहराजनन्दिनी आज पेड़के बकलोंको पहनना चाहती है, किन्तु अनभ्यासके कारण जानती नहीं कि किस तरह पहने। यह करुण दृश्य देखकर रघुकुलके गुरु महर्षि वशिष्ठसे नहीं रहा गया। क्रोधमें आकर वे कहने लगे—

> अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि।
> वञ्चयित्वा तु राजानं न प्रमाणेऽवतिष्ठसे॥
> न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते।
> अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम्॥

'कुलकलङ्किनी कैकेयी! अब तो तू बहुत आगे बढ़ी जा रही है। राजाको ठगकर एकदम सिर उठा लिया है? कुछ भी

मर्यादामें नहीं रहना चाहती? सीता कभी वनको नहीं जायगी। हे दुःशीले! वही रामके आसनको तबतक अलंकृत करेगी।' और—

अथ यास्यति वैदेही वनं रामेण सङ्गता।
वयमत्रानुयास्यामः पुरं चेदं गमिष्यति॥
ततः शून्यां गतजनां वसुधां पादपैः सह।
त्वमेका शाधि दुर्वृत्ता प्रजानामहिते रता॥

'यदि रामके साथ जानकी जायगी ही तो हम भी सब साथ जायँगे। यह सब नगर भी साथ जायगा। फिर प्रजाका अहित करनेवाली तू दुराचारिणी वृक्षोंसहित इस सूनी भूमिपर शासन करना।'

तस्मिंस्तथा जल्पति विप्रमुख्ये
गुरौ नृपस्याप्रतिमप्रभावे।

'जो अप्रतिमप्रभाव थे, प्रतापी महाराज दशरथके भी गुरु थे, तथा ब्राह्मणोंमें मुख्य थे उन वशिष्ठजीके यों कहनेपर रघुकुलमें कौन-सा ऐसा प्राणी था जो उनका विरोध करता? उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि भरतको मैं जानता हूँ; वह जबतक राजा नहीं देंगे, तुम्हारी दी हुई भूमिको कभी नहीं चाहेगा।

न हि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति॥

'जिस जगह राम राजा न होंगे वह राष्ट्र ही नहीं कहला सकता। जिस जंगलमें राम रहेंगे वह वन ही राष्ट्र हो जायगा।' जिन वशिष्ठके आदेशपर तमाम रघुकुल ही क्या, सम्पूर्ण भूमण्डल नाच उठता था, वही जब श्रीरामके पक्षमें थे फिर, भला, किसकी

ताकत थी कि श्रीरामका विरोधी बनता ? परन्तु मर्यादापालक श्रीरामचन्द्र स्वयं धर्म और सत्यके पक्षमें अडिग थे। वे धर्मपथसे तिलभर भी हटना नहीं जानते थे। तब कोई क्या कर सकता था ? वे कहते हैं—

अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छेति राघव।
मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये॥

'कैकेयीने मुझसे कहा था कि 'तू वन जा।' मैंने कह दिया था कि 'व्रजामि'—जाता हूँ, इस सत्यका, इस वाक्यका मैं पालन करता हूँ।' भला वही मर्यादापुरुषोत्तम शरणागतोंको अभयदान देनेकी प्रकाश्य घोषणा करके अब अपनी बातसे पीछे हट जायँगे ? नहीं नहीं, इसीलिये श्रीरामचन्द्र कहते हैं, 'कथञ्चन', 'कथञ्चन न त्यजेयम्'— मैं शरणमें आयेको किसी तरह नहीं छोड़ सकता।

श्रीलक्ष्मणकी श्रीरामचन्द्रके प्रति जो अलौकिक भक्ति थी वह जगत्प्रसिद्ध है। वे उन्हींको माता-पिता, सुहृद्-बन्धु सब कुछ मानते थे। वनके कष्टोंको समझाकर जिस समय श्रीरामने उनको वन जानेसे रोका उस समय लक्ष्मणने बड़ी उत्कण्ठासे श्रीरामचन्द्रके चरणोंको पकड़ लिया। उनकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे। उन्होंने बड़े दैन्यसे प्रार्थना की कि यदि आप मेरे ऊपर कुछ भी अनुग्रह रखते हैं, तो मुझे सेवासे वञ्चित न करिये—

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना॥

'मैं आपके बिना दिव्य लोकोंमें निवास, अजरामरता; और तो क्या, त्रिलोकीके ऐश्वर्यको भी नहीं चाहता।' प्राणिमात्रपर

स्वभावसे ही अनुग्रह रखनेवाले, करुणार्द्रहृदय, भ्रातृवत्सल श्रीरामचन्द्र भी उनपर कितना स्नेह रखते होंगे, यह अपने आप सोचनेकी बात है, समझानेकी नहीं। जिस समय मायावी इन्द्रजित्‌ने नागपाशसे बाँधकर श्रीराम और लक्ष्मणको मूर्च्छित कर दिया उस समय वानरसेनामें चारों तरफ हाहाकार मच गया। श्रीरामचन्द्र तो विभीषणके बताये उपचारसे अलौकिक सत्त्वके कारण उठ खड़े हुए, परन्तु लक्ष्मणकी मूर्च्छा न हटी। सब लोगोंको निश्चय हो गया कि सुमित्रानन्दन इस धराधाममें नहीं हैं। श्रीरामका हृदय बैठ गया। अक्षोभ्य समुद्रका भी धैर्य जाता रहा। श्रीराम अशुभ-अशुभ विलाप करने लगे—हाय ! अब सीता मिली तो क्या और न मिली तो क्या ! मुझे अब जीकर ही क्या करना है—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

'स्त्री और बान्धव देश-देशमें मिल सकते हैं, परन्तु मुझे वह देश नहीं दिखायी देता जहाँ सहोदर भ्राता मिलता हो।' आज मैं कौन मुँह लेकर अयोध्यामें प्रवेश करूँगा? सदासे मेरे ऊपर अनुग्रह रखनेवाली मध्यम माता (सुमित्रा) ने किस भरोसेके साथ लक्ष्मणको मेरे साथ भेजा था—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥

'महाराज दशरथके स्थानापन्न रामको और मेरे स्थानापन्न जानकीको जानना। अब तुम्हारे लिये अरण्य ही अयोध्या है,

इसलिये हे पुत्र ! सुखपूर्वक जाओ ।' हाय ! वही माता सुमित्रा अपने पुत्रके वनसे लौटनेकी नित्य प्रतीक्षा करती होंगी, एक-एक दिन गिन रही होंगी । जिस समय अकेला मैं अयोध्यामें पहुँचूँगा, उस समय उन्हें मैं कैसे मुँह दिखा सकूँगा । जाते ही मैं जिस समय उन्हें प्रणाम करूँगा, उस समय आँसूभरे उनके नेत्र मेरे पीछेकी तरफ और भी किसीको खोजेंगे; किन्तु जिस समय वे निराश होकर लौटेंगे वह दृश्य मुझ वज्रहृदयसे भी कैसे देखा जायगा—

> कनीयस्या मातुः कृतचरणपातः कथमहं
> सहिष्ये मत्पार्श्वे विफलपरिवर्तं नयनयोः ।
> अये शान्तं पापं कठिन इव चेज्जीवितुमना
> विना वत्सं रामः पुनरयमयोध्यां प्रविशति ॥

'मध्यम माताके चरणप्रणामके समय मेरे आसपास उनके नेत्रोंका निष्फल भ्रमण मैं कैसे सहूँगा ? वत्स लक्ष्मणके बिना कठिनहृदय राम यदि अयोध्यामें प्रवेश करे तो, बस, हो चुका ।' विलापोंका क्या अन्त था । शोकका सागर उमड़ रहा था । उस सागरमें लंकाका विजय, युद्धकी बातें, सीताका समागम इत्यादि सब कुछ एकदम बह गया था । जिस जानकीके बिना एक-एक क्षणका जीना आपको कठिन मालूम होता था उसकी भी उस समय याद नहीं थी । याद तो बुद्धि दिलाती है न ? जब वही ठिकाने नहीं है, प्राण देनेकी तैयारी हो रही है, तब याद किसकी ?—

> यथैव मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः ।
> अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम् ॥

'जिस तरह महाद्युति लक्ष्मणने वन जाते हुए मेरा अनुगमन किया है इस तरह मैं भी परलोकमें इसका अनुगमन करूँगा।' ऐसे प्राणसंकटमें भी सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्रके हृदयसे एक बातकी याद न हटी थी। सब बात भूली जा रही थी, परन्तु एक बात याद करके आप कहते हैं—

तत्तु मिथ्याप्रलप्तं मां प्रधक्ष्यति न संशयः।
यन्मया न कृतो राजा राक्षसानां विभीषणः॥

'मैंने प्रतिज्ञा कर ली थी, परन्तु विभीषणको राक्षसोंका राजा न बनाया। यह मिथ्या प्रलाप निःसन्देह मुझे चिताग्निसे भी अधिक जलायेगा।' जिन सत्यसन्ध रामचन्द्रके हृदयमें अपने प्रतिज्ञाके अक्षर यों वज्रलेप हो जाते हैं वही शरणागतवत्सल श्रीराम उन्हीं शरणागत विभीषणके लिये अभयदान देनेकी अपनी प्रतिज्ञाको क्या छोड़ देंगे ? इसी आशयसे आपने कहा है—'कथञ्चन', 'कथञ्चन न त्यजेयम्'—शरणागतको मैं किसी प्रकार भी नहीं छोड़ सकता।

आदर्श पुरुष भगवान् श्रीरामचन्द्रने केवल अपने पिताकी ही आज्ञा पालन की हो अथवा सुग्रीवादि मित्रोंके साथ की हुई प्रतिज्ञाकी ही केवल रक्षा की हो, सो नहीं; उन्होंने प्रजाके साथ भी उस कठिन राजधर्मकी रक्षाका बर्ताव किया जिसकी तुलनाका उदाहरण, मैं तो कहूँगा कि, त्रिलोकीमें नहीं है। जिस समय लङ्काका विजय करके देवताओंके सम्मुख अग्निविशुद्धिसे परीक्षित श्रीजानकीको साथ लेकर आप अयोध्यामें पधारे, चारों तरफ आनन्द

उमड़ उठा। उजड़ी हुई अयोध्या मानो फिरसे बस गयी। कहाँ तो आपका यौवराज्यके लिये अभिषेक होता था, अब पृथिवीभरके साम्राज्यका अभिषेक हो गया। प्रजाके आनन्दकी सीमा न रही। 'रामराज्य' ही कायम हो गया, फिर, भला, बाकी क्या रहा? भगवान् श्रीरामचन्द्रके चरित्रकी लौकिक दृष्टिसे आलोचना करनेवाले लोगोंका कथन है कि श्रीरामचन्द्रके स्थितिकालमें सुखका समय बहुत परिगणित ही मिले तो मिले। जैसे ही आप होशियार होने लगे कि महर्षि विश्वामित्र यज्ञरक्षाके लिये तपोवन ले गये। उधरसे विवाह करके आप अयोध्यामें पधारे। यहाँ यौवराज्यका विचार चल ही रहा था कि चौदह वर्षोंके लिये आपको वनवास हो गया। वहाँ भी चित्रकूट और थोड़ा पञ्चवटीनिवासके समय ही लौकिक दृष्टिसे कुछ सुखका समय मिल पाया था। फिर तो सीता-वियोग आपको हो ही गया। लङ्काविजय करके जैसे ही आप अयोध्यामें पधारे और राज्यशासनका कुछ ही समय मिल पाया था कि आपने फिर वही लोकमर्यादा स्थापन करनेका आदर्श कार्य आरम्भ कर दिया।

देवजनसम्भवा देवी श्रीजानकीके लङ्कानिवासके सम्बन्धमें जैसे ही लोकापवाद सुना, आपको बड़ा दुःख हुआ।

अयोघनेनाय इवाभितप्तं
वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे।

'तपाया हुआ लोहा जिस तरह घनकी चोटसे विदीर्ण हो जाता है इसी तरह श्रीजानकीवल्लभका हृदय विदीर्ण हो

गया ।' 'लोहा तपाया हुआ था,' यह कैसी मर्मवेधिनी उपमा है। भगवान् श्रीरामचन्द्र सीतावियोगमें पहले क्या-क्या दुःख नहीं उठा चुके थे। जिन प्राणवल्लभा सीतामें आपका अलौकिक, अनुपम प्रणय था, उनके साथ सहसा घोर वनमें असहायावस्थामें वियोग हो जाना क्या सामान्य था ? विरहमें आपकी वह करुण दशा थी जिसे देखकर—

अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।

'पत्थर भी रोता था, वज्रका भी हृदय पिघल जाता था।' उन्हीं वज्र-दुःखोंसे तपाया हुआ भगवान् श्रीरामचन्द्रका हृदय था, तपाया हुआ लोहा था। लोहा क्यों न हो, विश्वविजयी भगवान् श्रीरामचन्द्रका सर्वसह हृदय था। उसके सामने लोहा क्या चीज़ है ? भगवान् श्रीरामचन्द्र कहते हैं—'रामोऽस्मि सर्वं सहे'—मैं राम हूँ, सब कुछ सह सकता हूँ। लोकापवादरूपी अयोघनकी चोटसे आपका हृदय टूक-टूक हो गया। आपने कहा—

अवैमि चैनामनघेति किन्तु
लोकापवादो बलवान्मतो मे।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वे-
नारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः॥

'मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि जानकी विशुद्ध है, किन्तु मेरी दृष्टिमें लोकापवाद बलवान् है। चन्द्रमा सर्वदा विशुद्ध है, परन्तु भूमिकी छायाको ही मल कायम करके लोगोंने उसे कलङ्की प्रसिद्ध कर दिया है।' रघुकुल भूमण्डलमें सदासे आदर्श राजवंश

गिना जाता है। हाय, हाय, आज उसे मेरे कारण अपवाद लग रहा है। 'धिङ् मामधन्यम्'—मुझको धिक्कार है। आहा, मेरे पिता महाराज दशरथको देखिये जिन्होंने दिखा दिया कि—

सतां केनापि कार्येण लोकस्याराधनं व्रतम्।
यत्पूरितं हि तातेन मां च प्राणांश्च मुञ्चता॥

'सज्जनोंका यही कर्तव्य है कि किसी प्रकारसे भी लोगोंको प्रसन्न रक्खें। इस लोकाराधनव्रतको मुझे और अपने प्राणोंको छोड़ते हुए पिताजीने पूर्ण कर दिखाया।' आहा! 'मां च प्राणांश्च।' मर्यादारक्षाके लिये पहले मुझे छोड़ना पड़ा, फिर प्राणोंको! भगवान् श्रीरामचन्द्र क्या प्राणोंसे कम थे? वे तो प्राणोंके भी प्राण थे।

अस्तु, भगवान् श्रीरामचन्द्रने मर्यादारक्षाकी वेदीपर अपने सर्वस्वकी बलि देनेका निश्चय कर लिया। आपने श्रीलक्ष्मणको बुलाकर कहा—

प्रजावती दोहदशंसिनी ते
तपोवनेषु स्पृहयालुरेव।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां
प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम्॥

'तुम्हारी भ्रातृजाया (श्रीजानकी) गर्भावस्थाकी इच्छाके कारण तपोवनोंको देखना चाहती ही है, इसलिये इसी बहानेसे तुम रथमें बैठाकर वाल्मीकिके आश्रमके पास जाकर उसे छोड़ आओ।' हा हन्त! जो जानकी श्रीरामचन्द्रके हृदयकी सर्वस्व

थीं, जो बड़े कष्ट और प्रयत्नोंसे प्राप्त हुई थीं, वही एक बातपर यों छोड़ दी जाती हैं। श्रीजानकीजीके लिये श्रीराम कहते हैं—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥

'यह घरकी लक्ष्मी है, नेत्रोंमें अमृतकी सलाईके समान सुख और प्रकाश पहुँचाती है। इसका स्पर्श चन्दनद्रवके समान सर्वाङ्गको सुखकर है। कण्ठमें स्थापित की हुई इसकी भुजा मोतियोंके हारके समान सुखद और शीतल है। इसकी कौन-सी चीज़ मेरे लिये प्रिय नहीं? केवल इसका विरह असह्य है।' उसी जानकीको गर्भिणीअवस्थामें श्रीराम अपने हाथसे छोड़ रहे हैं!

श्रीजानकी प्रसन्नचित्तसे रथमें बैठकर तपोवनको जाती हैं। उन्हें भरोसा है कि वनकी सैर करके फिर अयोध्याको लौट आऊँगी। यह मालूम नहीं कि अयोध्याके राजभवनसे मैं आज सदाके लिये विदा हो रही हूँ! वाल्मीकिके आश्रमके पास छोड़-कर जिस समय श्रीलक्ष्मण जाने लगे, उस समय ज्येष्ठ भ्राताका यह कठोर शासन उन्हें मुखसे कहना आवश्यक हो गया। वज्रकी छाती करके लक्ष्मणने कह डाला—

औत्पातिकं मेघ इवाश्मवर्षं
महीपतेः शासनमुज्जगार।

उत्पातका मेघ जिस तरह वज्र बरसाता है उसी तरह लक्ष्मण-ने वह 'महीपति' (रामका) शासन उगल दिया। 'महीपति' पद

क्या भीतरी 'चोंटिया' ले रहा है। श्रीराम अब नये 'महीपति' हुए हैं। राजधर्मपालनके लिये गर्भिणी बल्कि आसन्नप्रसवा (पूरे दिनवाली) पत्नीका परित्याग इस समय आवश्यक हो पड़ा है, जो किया जा रहा है। क्यों न हो, प्रजापालक राजा ही तो ठहरे ! सीताने जैसे ही यह दारुण वृत्तान्त सुना, उन्हें चेतना न रही। इस दुःख और लज्जासे वे तो पृथिवीमें समा जातीं, परन्तु पृथिवीने उन्हें स्थान नहीं दिया—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां
त्यजेदकस्मात्पतिरार्यवृत्तः ।
इति क्षितिः संशयितेव तस्यै
ददौ प्रवेशं जननी न तावत् ॥

'इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुए आर्यचरित्र तुम्हारे पति (प्रियतम तो न सही, परन्तु तुम्हारा पालन तो उनका सर्वथा कर्तव्य ही था !) तुम्हें अकस्मात् कैसे छोड़ सकते हैं, इस तरह सन्देहमें पड़ी हुई माता पृथिवीने पुत्री जानकीको अपनेमें स्थान नहीं दिया।' जाती बेर जिस समय लक्ष्मण श्रीजानकीके चरणोंमें प्रणाम करने लगे—

सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं
प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव ।

'हे सौम्य ! मैं तुम्हारी भ्रातृभक्तिसे प्रसन्न हूँ, तुम चिरजीवी होओ।' यह सब मेरा भाग्य-वैभव है, इसमें मुझे कुछ कहना नहीं। किन्तु यदि उचित समझो तो यह मेरा कुछ सन्देश है, कह देना—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा
वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः
श्रुतस्य तत्किं सदृशं कुलस्य॥

'जानकीने कहा है', यों कहकर उन 'राजा' से कहना कि 'अपनी आँखोंके सामने अग्निपरीक्षासे विशुद्ध हुई मुझको जो आपने लोगोंकी बातपर छोड़ दिया, वह क्या शास्त्रके अनुसार हुआ अथवा कुलके अनुसार हुआ है ?' 'राजा' पदसे यहाँ जिस मर्मको छुआ है, वह भी मार्मिक पाठकोंसे छिपा न होगा। अस्तु, करुणार्द्रहृदय जो श्रीरामचन्द्र मर्यादापालनके लिये वज्रहृदय बनकर प्राणप्रियतमा गर्भिणी श्रीजानकीको परित्याग करते हुए यह कहते हैं—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

'इस लोकमर्यादाके लिये स्नेह, दया, अपने सब सुख; और तो क्या, जानकीको भी छोड़ते हुए मुझे व्यथा नहीं होगी।'

वही श्रीरामचन्द्र सब संसारके सम्मुख 'शरणागतको अभय देनेकी मैंने दीक्षा ली है' यह प्रकाश्य प्रतिज्ञा करके भी क्या शरणमें आये हुए विभीषणको केवल इस डरसे छोड़ देंगे कि यह वैरीके पक्षका है ? 'असम्भवम्, श्रवणेऽप्यनुचितम्'—असम्भव है, सुननेमें भी अनुचित प्रतीत होता है। इसीलिये श्रीरामचन्द्र आज्ञा करते हैं—'कथञ्चन', 'कथञ्चन न त्यजेयम्'—शरणागतको मैं किसी तरह भी नहीं छोड़ सकता।

अथवा—'कथञ्चन' (सर्वदेशसर्वकालसर्वावस्थास्वपि)। अर्थात् चाहे जैसा दुर्गम स्थान, चाहे जैसा सङ्कटमय समय, चाहे जैसी विषम अवस्था क्यों न हो, भगवान् आज्ञा करते हैं कि मैं अपने शरणागत भक्तका त्याग कभी नहीं कर सकता।

धर्ममार्गपर चलनेवाले पाण्डव सदासे ही भगवान्‌के अनुगत रहे हैं। उनका भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास था। वे अपना रक्षक भगवान् श्रीकृष्णके सिवा और किसीको नहीं समझते थे। अभिमन्युकी वीरपत्नी उत्तराके गर्भको नष्ट करनेके लिये जिस समय कौरवपक्षसे ब्रह्मास्त्र छोड़ा गया, उस समय वह बेचारी विकल हो उठी। जाज्वल्यमान अग्निकी लपटें चारों तरफसे उसे घेरे हुए थीं। इस सङ्कटावस्थामें भगवान् श्रीकृष्णके सिवा उसे और कोई रक्षक दिखायी न दिया। वह करुणाभरे स्वरमें कहने लगी—

पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते।
नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम्॥

'हे जगत्पते! हे सर्व देवताओंके स्वामी!! शीघ्र रक्षा कीजिये। आपको छोड़कर कहीं भी मुझे इस संसारमें अभय दिखायी नहीं देता, जहाँ आपसमें एक-को-एक मारे डालता है।' 'अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो'—यह तातें, जलते हुए लोहेका बाण, हे प्रभो! मेरा पीछा नहीं छोड़ता, मुझे जलाये डालता है।

उस विकट बाणाग्निने चारों ओरसे उस सुकुमारी अबलाके शरीरको प्लुष्ट (दग्ध) कर दिया था। उदरमें स्थित गर्भ वेदनासे

छटपटा रहा था। उस समय भगवान् उस उदर-जैसे घृणित स्थानमें भी प्रवेश करके गर्भकी रक्षा करते हैं। चाहे जैसा परिहार्य स्थान क्यों न हो, भगवान् अपने भक्तकी वहाँ पहुँचकर भी रक्षा करते हैं। विण्मूत्रादिपूरित इस उदरसे अधिक भला और कौन-सा हेय स्थान होगा? ज्ञानीलोग इसकी यातनासे बचनेके लिये संसारमें आना ही नहीं चाहते। गर्भमें स्थित जीव घबराकर भगवान्से करुण प्रार्थना करता है—'विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्तदेहः'—हे भगवन्! विष्ठा और मूत्रके इस कूपमें पड़ा हूँ, ऊष्माके मारे मेरा देह सन्तप्त हो रहा है।

काल भी चाहे जैसा ही सङ्कटमय क्यों न हो, भगवान् उसी विषम समयमें पहुँचकर अपने भक्तकी रक्षा करते हैं। गजेन्द्रको मगर जलमें पूरा-पूरा खींच ले गया था; तिलमात्र सूँड़ जलके बाहर रह गयी थी। 'बार बराबर बारि है' की दशा ठीक-ठीक घट रही थी, किन्तु ऐसे सूक्ष्म समयमें भी गजेन्द्रकी पुकार पहुँचते ही भगवान् वहाँ पहुँचे थे और उस आर्त्त शरणागतकी तत्काल रक्षा की थी।

अवस्था भी चाहे जैसी ही क्यों न हो, भगवान् शरणागतकी रक्षामें विलम्ब नहीं लाते। व्रजवासी गोपबालक अपने गोधनको लिये आनन्दसे उसे वनमें चरा रहे थे। जैसे ही वे लोग मूँजके वनमें पहुँचते हैं अकस्मात् वनाग्नि जल उठती है। चारों तरफसे दावानलकी लपटें आने लगीं। गाय और गोपबालक जलने लगे। चारों तरफ 'त्राहि-त्राहि' मच गयी। बड़ी करुणाजनक

विषम अवस्था थी। भला, उस सूखे जङ्गलमें ऐसा 'वाटर-पंप' कहाँसे लगाया जाता जिससे वह अग्नि बुझती और गाय और गोपबालकोंकी रक्षा होती। उस नाजुक हालतमें सब गोपबालक 'त्राहि-त्राहि' करते भगवान् श्रीकृष्णकी शरण जाते हैं, और कहते हैं—

नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न चार्हन्त्यवसीदितुम्।
वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः॥

'हे कृष्ण! तुम जिनके बान्धव हो, ऐसे हमलोग क्या दुःख पानेके योग्य हैं? हमारे तो तुम्हीं रक्षक हो, तुम्हींपर हमारा सब कुछ निर्भर है।' यहाँ सम्बोधन दिया है 'सर्वधर्मज्ञ'—आप सब धर्मोंके जाननेवाले हैं। अर्थात् तुम जानते ही हो, हमने सब धर्मोंसे बढ़कर यही धर्म समझा है कि तुम्हारा आश्रय लें। अब क्या ऐसी अवस्थामें हम क्लेश पायेंगे?

स्वभावसे ही सङ्कटापहारी भगवान् उस विषम अवस्थामें भी तत्काल उनकी रक्षा करते हैं, दावाग्निका पान करके उन्हें उस सङ्कटसे बचा लेते हैं। इसी आशयसे यहाँ कहा है—'कथञ्चन' —सर्वदेश, सर्वसमय और सर्वअवस्थामें भी मैं शरणागतका त्याग नहीं कर सकता।

अथवा—'कथञ्चन'—कैसा भी अधम, सब देवताओंसे परित्यक्त, सब लोगोंसे तिरस्कृत, नीचातिनीच ही क्यों न हो, ऐसी सर्वानभिमतदशामें भी (सबको नापसन्द होनेकी हालतमें भी) जो एक बार केवल मेरी तरफ मुड़ आता है मैं उसे नहीं छोड़ता। जगन्नाथ कहते हैं—

अपन्ते तीर्थानि त्वरितमिह यस्योद्धृतिविधौ
करं कर्णे कुर्वन्त्यपि किल कपालिप्रभृतयः।

'मैं ऐसा अधम और पापी हूँ कि मेरे उद्धार करनेमें सब तीर्थ लजाते हैं; और तो क्या, श्रीशङ्कर प्रभृति देवता भी मेरे पवित्र करनेकी प्रार्थना सुनकर कानोंपर हाथ रख लेते हैं।' इस तरह चाहे जैसा भी हीन पुरुष क्यों न हो, जो भगवान्‌के अभिमुख हो जाता है, भगवान् उसका फिर त्याग नहीं कर सकते।

अजामिलको लीजिये, उसमें कौन-से अपराधोंकी कमी थी? ब्राह्मण[१] होकर वह मद्य पीता था। शूद्र दासीको उसने घरमें रख लिया था। चोरी वह करता था। जुआ वह खेलता था। जाल, दगाबाजी वह करता था। घोरापराधी क़ैदियोंसे जीविका वह चलाता था। इतना होनेपर भी शान्तिसे चलता हो सो नहीं, 'यातयामास देहिनः'—सब प्राणियोंको दुःख देता था। एक शब्द-मात्रसे ही भगवान् व्यास उसके सब दोष कह देते हैं—'नष्ट-सदाचारः'। जितने कुछ आचरण अच्छे गिने जा सकते हैं वे सब अजामिलके विषयमें नष्ट हो चुके थे। वही अजामिल मरणशय्या-पर पड़ा हुआ मृत्युयन्त्रणासे छटपटाने लगा। भयङ्कर मूर्ति यमदूत जैसे ही उसे घोर पाशमें बाँधने लगे, भयके मारे वह चिल्ला उठा।

१ कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद्दासीपतिरजामिलः।
नाम्ना नष्टसदाचारो दास्याः संसर्गदूषितः॥
बन्द्यक्षकैतवैश्चौर्यैर्गर्हितां वृत्तिमास्थितः।
बिभ्रत्कुटुम्बमशुचिर्यातयामास देहिनः॥

पुत्रके ममतापाशसे बँधा हुआ वह खेलते हुए पुत्रको बुलानेके लिये उसका नाम लेकर पुकारता है—'नारायण'।

बस, उसी समय भगवान्के भेजे हुए पार्षद वहाँ पहुँचकर उसे यमदूतोंसे छुड़ा लेते हैं। स्मरण रहे, यहाँ जो भगवान्का नाममात्र भी लिया है वह भी भगवद्बुद्धिसे नहीं, दूसरे ही आशयसे है; किन्तु भगवान् अपने नाममात्रके उच्चारणसे भी अपने भक्तको अङ्गीकार कर लेते हैं। इसी आशयसे यहाँ कहा है—'कथञ्चन' —कैसा भी सर्वपरित्यक्त क्यों न हो, मैं अपने अनुगतका त्याग कभी नहीं कर सकता।

अथवा—'कथञ्चन'—'तत्स्वीकारस्य दृष्टादृष्टहानिजनकत्वेऽपि' अर्थात् उसके स्वीकार करनेमें मेरी चाहे जैसी दृष्ट अथवा अदृष्ट हानि ही क्यों न होती हो, मैं शरणागतका किसी प्रकार भी त्याग नहीं कर सकता। भगवान् अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये स्वयं चाहे अनेक कष्ट और अपकर्ष सह लें, परन्तु अपने भक्तोंको तनिक भी क्लेश नहीं होने देते। अर्जुनका ही दृष्टान्त ले लीजिये,—उसके लिये भगवान्को कितना प्रयास करना पड़ा। मैं समझता हूँ, प्रथम तो दूसरेकी कोचवानी करना ही कोई पसन्द न करेगा। परन्तु भगवान्को वह भी करना पड़ा। वह भी महाभारतकेसे घोर युद्धमें! जिसमें सारी बाणवर्षा पहले सारथिको ही सहनी पड़ती है। इस कार्यमें भगवान्को क्या-क्या कष्ट उठाने पड़े, यह बात महाभारतका इतिहास जाननेवालोंसे छिपी नहीं। घोर युद्ध हो रहा है। बाणवर्षाके मारे दम लेनेका अवकाश नहीं! सूलीकी

अनीपर जिस तरह खड़े हों उसी तरह सतर्कतासे चारों तरफ दृष्टि रखते हुए युद्ध करनेका अवसर है। रणोन्मत्त वीर संरम्भमें आकर अपना वह कौशल दिखा रहे हैं कि उसके सामने एक पैंड भी आगे रखना हँसी-खेल नहीं। किन्तु अर्जुनको अभी बहुत आगे बढ़ना है। सामने वीरोंसे किसी तरह भी निपटकर आगे जाना आवश्यक है। बड़ी मुश्किलसे आगे जानेका रास्ता निकालकर अर्जुनने भगवान्‌को इशारा किया कि 'हाँ, देर मत करो; जल्दीसे आगे निकल चलो।' किन्तु घोड़े आगे बढ़ते ही नहीं! जो घोड़े चाबुकका स्पर्श करते ही झल्लाकर हवा हो जाते थे, वही चाबुक-पर-चाबुक खा रहे हैं, किन्तु आगे नहीं बढ़ते! अर्जुनने झुँझलाकर कहा—'कृष्ण! यह क्या कर रहे हो? अवसर तो देखा करो।' आपने कहा—'घोड़े प्यासे हैं, जल पिलाये बिना आगे बढ़ना असम्भव है।'

इस भयङ्कर तुमुल युद्धमें जल पिलानेके संकटका जरा अनुमान तो कीजिये। किन्तु भगवान्‌को वह भी करना पड़ा। एक ही क्या, ऐसे अनेक अवसर आये हैं।

ब्रजभक्तोंके लिये भगवान्‌ने क्या-क्या नहीं सहा? यह बात किससे छिपी है? गोपियाँ कहती हैं—'कन्हुआ! जा, वो पीढ़ी उठा ला।' आप आज्ञावाहीकी तरह जाते हैं और उस पीढ़ीको उठाते हैं, किन्तु आपसे वह भारी पीढ़ा नहीं उठता। आप बड़े यत्नसे उसे मस्तकपर उठाकर लाते हैं। और तो क्या, पैरमें पहननेकी पादुकातक आपसे उठवायी जाती है। गोप कहते हैं—

न्हुआ ! मेरी खड़ाऊँ तो ले आ।' आप पांसुलपाद उस गोप-
ी पादुकाओंको दोनों हाथोंसे छातीसे चिपकाये हुए, बालोचित
न्द-मन्द गतिसे चलते हुए लाते हैं और हँसते हुए उसे देते हैं।
जिन त्रिलोकीनाथकी चरणधूलिके लिये अनेक जन्मोंतक घोर
तपस्या करके भी योगी-मुनि तरसते ही रह जाते हैं, वही भगवान्
दूसरोंकी पादुका उठाते हैं ! जिस समय आप वैकुण्ठमें विराजते
हैं उस समय ब्रह्मादि देवता भी आपका अवसर पूछा करते हैं कि
श्रीनिकेतनका दर्शन तो मिल जाय। किन्तु जय-विजयादि
पार्षदोंके पहरेमें सहसा चले जानेका साहस किसे होता है ? वहाँ
सनकादि महर्षितक दरवाजेपर ही रोक दिये जाते हैं। परन्तु वही
चराचरनायक भगवान् 'आत्मनो भृत्यवश्यताम्' अपनी भक्त-
पराधीनताको दिखाते हुए यहाँ अपने मस्तकपर पीढ़ा उठाकर
लाते हैं—'बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम्।' यह तो हुई
लोकदृष्टिसे हानिकी बात। अब अदृष्ट हानिकी बात लीजिये।
यों तो सर्वेश्वर भगवान्के लिये दृष्ट-अदृष्ट कोई भी गुण-दोष
कदापि लागू नहीं, परन्तु हमलोग अपनी दृष्टिसे विचार कर रहे हैं।

जिस समय बुद्धिमान् श्रीहनूमान्ने कार्यसिद्धिके लिये श्री-
रामचन्द्रको सुग्रीवसे लाकर मिलाया और सुग्रीवने प्रार्थना की—

तमद्यैव प्रियार्थं मे वैरिणं भ्रातृरूपिणम्।
वालिनं जहि काकुत्स्थ मया बद्धोऽयमञ्जलिः॥

'हे काकुत्स्थ ! भाईरूपी उस वैरी वालीको मेरे हितके लिये
आप आज ही मारिये। मैं हाथ जोड़कर आपके शरण होता हूँ।'

उस समय भगवान्‌ने उसे अभय दिया और यहाँतक उसका सम्मान किया कि शरणागतिके स्थानपर उसके साथ आपने अग्निसाक्षिक मित्रता कर ली। अपने परिकरमें सुग्रीवका यह अङ्गीकार करना सामान्य न था। जिस क्षण श्रीरामने सुग्रीवपर अनुग्रह किया उसी क्षण श्रीजानकीको शुभ शकुन और बाली एवं रावणको एक साथ अपशकुन हुए। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—

सीताकपीन्द्रक्षणदाचराणां
राजीवहेमज्वलनोपमानि ।
सुग्रीवरामप्रणयप्रसङ्गे
वामानि नेत्राणि समं स्फुरन्ति ॥

'श्रीराम और सुग्रीवका परस्पर स्नेह होते ही सीता, बाली और राक्षसोंके क्रमसे कमल, सुवर्ण और अग्निके समान बायें नेत्र एकदम फरकने लगे।'

भगवान्‌ने सुग्रीवके इस स्वीकारको यहाँतक निभाया कि आपको छिपकर भी बालीको मारना पड़ा। दूसरेके साथ युद्धमें लगे हुए बालीको छिपकर मारनेके विषयमें यद्यपि कई समाधान पुराणान्तरमें हैं, मूलमें भी इसका उत्तर दिया ही है; परन्तु यह कार्य साधारणतया मनुष्यदृष्टिसे तो अदृष्ट हानिजनक-सा ही दीखता है। इसके लिये बालीसे भी आपको उपालम्भ सुनना पड़ा है—

पराङ्मुखवधं कृत्वा को नु प्राप्तस्त्वया गुणः ।
यदहं युद्धसंरब्धः शरेणोरसि ताडितः ॥

'दूसरी तरफ मुख किये हुए मेरे वधसे आपको कौन गुण मिला, जो दूसरेके साथ युद्धमें लगे हुए मुझे छातीमें बाण मारा।' परन्तु भगवान् अपने शरणागतके लिये दृष्ट-अदृष्ट सब तरहका अपना अपकर्ष सह सकते हैं। इसी तात्पर्यसे महर्षिने यहाँ कहा है—'कथञ्चन' 'मैं कैसे भी शरणागतका त्याग नहीं कर सकता।'

अथवा—'कथञ्चन','गुणाभावेऽपि'। अर्थात् शरणागत पुरुषमें कोई गुण न हों तो भी। गुण न हों तो न सही, परन्तु कम-से-कम उसमें दोष तो न हों। 'अपदोषतैव विगुणस्य गुणः'—गुणरहितमें दोष न हों, यही गुण समझना चाहिये। किन्तु गुण न हों, इसके सिवा उसमें दोष भी हों और बहुत हों, तो भी मैं शरणागतका त्याग नहीं कर सकता। 'नष्टसदाचार' अजामिलमें गुण तो होगा ही कहाँसे? यह देखिये कि उसमें कौन-से दोष न थे? चोरी, जुआ, मद्य, छल-कपट, हिंसा आदि दोषोंकी लिस्ट तो पहले ही पेश कर दी गयी है। परन्तु भगवान्‌की दयालुताको देखिये, शरणागतप्रति-पालकतापर दृष्टि दीजिये कि शरणागति तो दूर रही, केवल नाममात्र-संकीर्तनसे भगवान् उसका स्वीकार कर लेते हैं। इस दयालुतापर अलंकारके नामसे नुक्ताचीनी करते हुए साहित्यवाले तो कहते हैं—'कस्ते विवेको नयसि स्वर्गं पातकिनोऽपि यत्'—आपके यहाँके विचारकी बलिहारी है जो पापी भी स्वर्ग पहुँच जाते हैं। सूरदासजी कहते हैं—'मोसे पापीहू तिरैं अंधधुंध सिरकार!' यही सब सोचकर महर्षि कहलाते हैं—'कथञ्चन'—'मैं शरणागतका किसी तरह भी त्याग नहीं कर सकता।'

'जब आप इसका त्याग नहीं कर सकते तो हमको यह भी समझ लेना होगा कि आप हमलोगोंको छोड़नेके लिये तैयार हैं, क्योंकि वैरीकी तरफ़का ही क्या वैरीके साक्षात् भाईको ही ऐसे नाजुक समयमें विश्वास करके अपने पक्षमें मिला लेना हमलोगोंको तो हितकारक नहीं मालूम होता। एक-दो नहीं, प्रायः सभी शिविरके आदमी इसके स्वीकारमें सम्मत नहीं हैं। आपने जब अपनी-अपनी सम्मति निवेदन कर देनेकी आज्ञा दी, तब सभीने इसका अङ्गीकार करना अनुचित बतलाया है। दूसरे, नीतिके अनुसार भी इसका संग्रह करना किसी तरह भी उचित नहीं समझा जायगा। तब हमलोगोंका ही क्या दोष है? आप इसका स्वीकार करते हुए हमलोगोंका तिरस्कार करना चाहते हैं। किन्तु यह आपकी शरणागतवत्सलताके अनुकूल न होगा। आज आये हुए, नवीन, एकमात्र आदमीके लिये सदाके सेवक और आपके चरणानुगत हमलोगोंका इस तरह अनवसरमें परित्याग क्या उचित गिना जायगा? अतएव आप स्वयं चाहते हों तो भी इस नाजुक अवसरपर दृष्टि रखकर तथा चिरकालसे आपके शरणागत हुए हमलोगोंके परित्याग करनेकी कठोरता न करनी पड़े, इस अनुरोध-से भी आशा की जा सकती है कि आप इस आगन्तुकके संग्रह करनेका आग्रह न करेंगे।'

सुग्रीवादिकी इस विप्रतिपत्तिपर भी शरणागतवत्सल श्रीराम-चन्द्र शरणमें आनेकी प्रतीक्षामें बाहर खड़े हुए विभीषणका परित्याग करना नहीं चाहते। इसीलिये आप आज्ञा करते हैं— 'कथञ्चन'—चाहे आपलोगोंका परित्याग भी मुझे करना पड़े, परन्तु

मैं शरणागतका त्याग नहीं कर सकता।' उचितानुचितका विचार कर लेना अवश्य मैं आवश्यक समझता हूँ, परन्तु इसके लिये धैर्यकी आवश्यकता है। मेरे कानमें जिस समय 'शरण' शब्दकी भनकमात्र पड़ती है उसी समय मेरा हृदय उसके पास पहुँचनेके लिये अधीर हो उठता है।

अपने बछड़ेको घर छोड़कर गाय वनमें चरनेके लिये चली जाती है। वहाँ सब समूहके साथ वह अपना समय तृण चरनेमें बिता देती है; किन्तु जैसे ही चार बजे, और ग्वालेने पशुओंका मुँह ज्यों ही गाँवकी तरफ किया कि उसको अपने बछड़ेकी मन्द-मन्द स्मृति आने लगती है। ज्यों ही गाँव आया कि ग्वाला सब पशुओंको अपने-अपने घरकी तरफ हाँक देता है। वे बड़ी उतावलीसे अपने-अपने घरकी तरफ दौड़े चले जाते हैं। वह गौ भी दूधभरी गादी लिये अपने बच्चेको पिलानेकी उत्कण्ठासे बड़ी तेजीके साथ चली आ रही है। इधर खूँटेसे बँधा वह बछड़ा भी पड़ोसके पशुओंको जैसे ही अपने-अपने घर आते देखता है, त्यों ही वह अपनी माताके लिये तड़फड़ाने लगता है। वनमार्गकी तरफ टकटकी बाँधे हुए उस बछड़ेने दूरसे आती हुई माताको जहाँ देखा कि वह कान खड़े करके बड़े प्रेम और करुणाभरे स्वरमें 'माँ-माँ' पुकारने लगता है। उधर गौने भी जैसे ही बछड़ेका शब्द सुना कि स्नेहसे हुंकार करती हुई बाड़ेकी तरफ दौड़ने लगती है। घरका मालिक उस हुंकारको सुनते ही बाड़ेका दरवाजा खोल देता है—ऐसा न हो, गाय उसे उखाड़ डाले। चाहे जैसी सुशील और धैर्यवती गाय क्यों न हो, उस प्रेमवेलामें उससे रहा नहीं जाता!

अपने बच्चेको जबतक आँख भरकर वह देख नहीं लेती, सूँघ नहीं लेती, चाट नहीं लेती, तबतक उन्मादिनीकी तरह दौड़ती है। उसके स्तनोंसे प्रेमका प्रस्रवण बहने लगता है। भक्तवत्सल श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि शरणागतका शब्द सुनकर मेरी भी वही दशा होती है; मुझसे फिर रहा नहीं जाता, न मुझे विचार करने-जितना धैर्य ही रह जाता है।

कदाचित् कहा जाय कि जैसा वात्सल्यपात्र अभी आया हुआ यह विभीषण है वैसे हम भी तो आपके वात्सल्यभाजन ही हैं, फिर हमारा त्याग कैसे किया जायगा ? इसका उत्तर भी आप स्वभावको लेकर ही देते हैं। आप कहते हैं कि गौ अपने बच्चेपर कैसा प्रेम रखती है, यह पूर्व-दृष्टान्तसे जान ही लिया है। किन्तु जैसे ही उसको नया प्रसव होता है और नये छोटे-से उस बछड़े-को जैसे ही वह सामने देखती है पहलेके बछड़ोंको छोड़कर पहले उस नये बच्चेको सँभालती है।

जरायु (जेर) से लिपटा हुआ वह बच्चा चाहे संसारमात्र-की दृष्टिमें घृणाभाजन दीखता हो परन्तु गौ उसे भूमिमें पड़ते ही, अपने पहलेके बच्चोंको छोड़कर उसे ही चाटने लगती है। उस समय चाहे हजार रुकावटें हों; परन्तु प्रेमोन्मत्त हुई वह किसी तरफ भी दृष्टि न देकर उस बछड़ेको चाटती है, उसपर उसका यहाँतक प्रेम हो उठता है कि किसी दूसरे आदमीको अपने बच्चेके पास आता हुआ देखते ही वह सौंसियाकर मारने दौड़ती है। यहाँतक भी सुना है कि वह साधारण जंगली जानवरतकको उस

अपने बच्चेको जबतक आँख भरकर वह देख नहीं लेती, सूँघ नहीं लेती, चाट नहीं लेती, तबतक उन्मादिनीकी तरह दौड़ती है। उसके स्तनोंसे प्रेमका प्रस्रवण बहने लगता है। भक्तवत्सल श्री-रामचन्द्र कहते हैं कि शरणागतका शब्द सुनकर मेरी भी वही दशा होती है; मुझसे फिर रहा नहीं जाता, न मुझे विचार करने-जितना धैर्य ही रह जाता है।

कदाचित् कहा जाय कि जैसा वात्सल्यपात्र अभी आया हुआ यह विभीषण है वैसे हम भी तो आपके वात्सल्यभाजन ही हैं, फिर हमारा त्याग कैसे किया जायगा? इसका उत्तर भी आप स्वभावको लेकर ही देते हैं। आप कहते हैं कि गौ अपने बच्चेपर कैसा प्रेम रखती है, यह पूर्व-दृष्टान्तसे जान ही लिया है। किन्तु जैसे ही उसको नया प्रसव होता है और नये छोटे-से उस बछड़े-को जैसे ही वह सामने देखती है पहलेके बछड़ोंको छोड़कर पहले उस नये बच्चेको सँभालती है।

जरायु (जेर) से लिपटा हुआ वह बच्चा चाहे संसारमात्र-की दृष्टिमें घृणाभाजन दीखता हो परन्तु गौ उसे भूमिमें पड़ते ही, अपने पहलेके बच्चोंको छोड़कर उसे ही चाटने लगती है। उस समय चाहे हज़ार रुकावटें हों; परन्तु प्रेमोन्मत्त हुई वह किसी तरफ़ भी दृष्टि न देकर उस बछड़ेको चाटती है, उसपर उसका यहाँतक प्रेम हो उठता है कि किसी दूसरे आदमीको अपने बच्चेके पास आता हुआ देखते ही वह सींसियाकर मारने दौड़ती है। यहाँतक भी सुना है कि वह साधारण जंगली जानवरतकको उस

समय अपने बच्चेके पास नहीं आने देती। रातभर उसके लिये वह सिंहरूप धारण करके चारों तरफ चक्कर लगाती हुई उसकी रक्षा करती है। जब यह स्वाभाविक नियम है तब नये आये हुए इस शरणागतके लिये आपलोगोंका भी यदि त्याग हो जाय तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं। इसी आशयसे आप आज्ञा करते हैं—'कथञ्चन'—चाहे आपलोगोंको भी छोड़ना पड़े, परन्तु मैं इस समय आये हुए इस शरणागतका परित्याग किसी तरह भी नहीं कर सकता।

ठीक है, आपने जो आज्ञा की कि 'चाहे मेरी कैसी भी हानि होती हो, अथवा आगन्तुक कैसा भी दोषी हो, परन्तु शरणार्थी होकर जो मेरे पास आता है उसका मैं त्याग नहीं कर सकता।' यह आपकी उक्ति शरणागतवत्सलता और अभयदानदीक्षाव्रतके अनुकूल ही है; परन्तु आप जब मर्यादास्थापनके लिये पधारे हैं तब लोकमर्यादाका अनुरोध भी तो कुछ रखना ही पड़ेगा। यह यदि दोषी हो तो इसे आश्रय देना क्या उचित गिना जायगा? अतएव दोषी होनेपर तो इसका परित्याग होना उचित ही है। इस शङ्काके उत्तरमें भक्तवत्सल श्रीरामचन्द्र आज्ञा करते हैं—

'दोषो यद्यपि तस्य स्यात्'—मैं तो अच्छी तरह दृष्टि डालकर देखता हूँ, तो भी मुझे कोई दोष दिखायी नहीं पड़ता; परन्तु अस्थानमें भी भयकी शङ्का करनेवाले आपलोगोंके विचारसे यदि उसमें दोष है तो 'स्यात्'—हुआ करे। मैं ऐसे दोषको उपेक्षणीय समझता हूँ। अथवा 'स्यात्'—यह अङ्गीकारार्थक अव्यय

है। आपलोगोंके अनुरोधसे मैं स्वीकार भी कर लेता हूँ कि उसमें दोष है, परन्तु जब मैं शरण देने बैठा हूँ तब मुझे अपने आश्रितका दोष सहन करना ही पड़ेगा। वात्सल्यका स्वभाव ही यह है कि उसमें दोष भी सहनीय ही क्या, प्रिय लगने लगते हैं। छोटे बच्चेको जैसे ही आप गोदीमें लेते हैं वह कभी नाकको नोचता है, तो कभी आँखमें उँगली चलाता है। देखा जाय तो ये किसी कारणसे भी सहनीय नहीं हो सकते। दूसरे आदमीका नोचना तो कैसा, वह मुँहतक हाथ भी ले जाय तो महाभारत खड़ा हो जाय। परन्तु प्रिय बालक बाबाकी दाढ़ी खींचता है और बाबा प्रेमगद्गद होकर उसे छातीसे लगाते हैं, कपोलचुम्बन करते हैं। कारण यही है कि वात्सल्यभाजनके दोष भी हमें प्रिय लगते हैं। बालकके हाथमें हम कोई चीज़ सौंपते हैं और वह हँसता हुआ हमारे ऊपर फेंक देता है; परन्तु हमें बुरा लगना कैसा, हम बड़े प्रसन्न होते हैं। फिर वही चीज़ उसके हाथमें सौंपते हैं और वह फिर फेंक देता है।

तुतलाती हुई भोली बोलीसे वह जिस समय किसीको 'हत्त' (तिरस्कार) करता है अथवा अकथ्य गाली भी देता है उस समय शिक्षाके विचारसे हम उसे मना जरूर करते हैं और करना भी चाहिये, ताकि आगे उसके संस्कार बिगड़ न जायँ; परन्तु हृदयपर हाथ रखकर देखिये, क्या उस गालीसे आपका हृदय जलता है ? नहा-धोकर स्वच्छ शरीरसे जिस समय हम अपने कमरेमें बैठे होते हैं उस समय मजाल है कि थोड़ी-सी भी गर्द हमारे इर्द-गिर्द भी आ जाय। कमरेकी चीजें साफ़ करनेमें नौकरसे

यदि जरा भी गर्द उड़ती है तो फटकारना पड़ता है कि 'इतने दिन हुए, ज़रा भी आदमियत नहीं आयी ?' किन्तु घुटनोंके बल चलता हुआ हमारा छोटा बच्चा धूलिभरे शरीरसे जैसे ही हमारी गोदीमें आ बैठता है, उस समय ऊपरसे चाहे हम कुछ भी कहते हों; परन्तु हृदयसे पूछिये, क्या उस समय आदमियतकी दुहाई याद आती है ? गरम होना कैसा, हमारा हृदय भीतर-ही-भीतर शीतल हो जाता है। कालिदास कहते हैं—'धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति'—अपने पुत्रकी अङ्गधूलिसे जो मलिन होते हैं वे धन्य हैं। सत्य बात तो यह है कि स्नेहभरी आँखोंसे दोष दिखायी ही नहीं पड़ते, उनका त्याग कैसे किया जाय ? अपने बालकमें कुरूपतादि दोष हों तो भी वह अच्छा लगता है। इसी अभिप्रायसे कालिदासने कहा है—'सर्वः कान्तमात्मीयं पश्यति'—अपनी चीज़ सबको अच्छी दिखायी देती है। स्नेह जब हृदयके सम्पूर्ण अवकाशको रोक लेता है तब बेचारे दोषोंको उसमें समानेका मौका ही कहाँ मिलता है ? 'रागभृते किल हृदये प्रतीहि दोषा न मान्त्येव'—प्रेमसे भरे हृदयमें दोष समाते ही नहीं हैं। इसी अभिप्रायसे श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—'दोषो यद्यपि तस्य'—आपलोगोंके अभिप्रायानुसार यदि उसमें कुछ दोष हो भी, तो 'स्यात्'—रहे।

अथवा—'दोषो यद्यपि स्यात्, तस्य (शरणागतस्य) न दोषः'—सम्भव है, उसमें दोष हो; परन्तु शरण आनेपर उसका कोई दोष न रहा। चाहे कैसा भी दोषी क्यों न हो, जिस समय 'मैं शरण हूँ' यह कहता हुआ मेरे समीप आता है, उस समय

मेरी दृष्टिमें वह सर्व दोषोंसे रहित है। बात यह है कि परमदयालु भगवान् श्रीरामचन्द्रने प्राणिमात्रको अभयदान देनेका व्रत ले रक्खा है। आप अभयदानका सत्र खोले हुए प्रतीक्षा किया करते हैं कि कोई शरणार्थी होकर आवे और मैं उसे अभय दूँ। यदि कोई शरणार्थी आयेगा ही नहीं, तो आपको अभय देनेका अवकाश ही कहाँ मिलेगा ? और यदि अभय देनेका कभी अवसर ही न पड़ा तो फिर प्राणिमात्रको अभयदान देनेका व्रत कहाँ पूर्ण हुआ ? याचकके बिना दान ही कैसा ? यह तो बड़ा अच्छा योग है कि शरणार्थी आपके पास आया है। फिर क्या ऐसे सुअवसरको छोड़ा जा सकता है ? गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

तू दयालु, दीन हौं; तू दानि, हौं भिखारी।

अतएव जिस समय शरणार्थीका उच्चारण किया हुआ 'शरण' शब्दमात्र ही आपके कानोंमें पड़ता है, आप गद्गद होकर उसको अपने आश्रयमें लेनेके लिये उत्कण्ठित हो जाते हैं। यह दोषी है कि नहीं, इसे वहाँ देखता ही कौन है ? वहाँ तो यह शरणार्थी है कि नहीं, केवल इसीपर दृष्टि रहती है। जब यह शरणागत हो चुका तो फिर इसके दोष कुरेदनेसे क्या प्रयोजन ?

मान लो कि यह दोषी है, परन्तु इसने शरणागति तो स्वीकार कर ली ! यदि इसमें दोष ही न होता और उसके कारण इसे कोई कष्ट ही प्रतीत नहीं होता तो यह अपना घर-बार छोड़कर यहाँ आता ही क्यों ? दोषहीके कारण तो बचावके लिये शरणार्थी हुआ है। प्रबल चक्रवर्ती राजा अधीनता स्वीकार

न करनेवाले उद्दण्ड सामन्तपर आक्रमण करता है। इस उद्दण्डताके दोषके कारण घोर युद्ध मच जाता है। दोनों तरफ रणचण्डी जाग उठती है। हजारों आदमी सदाके लिये समराङ्गणमें सो जाते हैं; परन्तु प्रबल शक्तिसे दबाया हुआ वह जैसे ही हारने लगता है, प्राणान्तिक सङ्कटसे जैसे ही घबरा उठता है, उसी प्रबल चक्रवर्तीके वह शरण हो जाता है। शरण होते ही वह भी उसे अभय दे देता है। फिर उसपर कोई मार नहीं होती। वह सब सङ्कटोंसे बरी हो जाता है। उस समय यह नहीं सोचा जाता कि इसने पहले अपराध किया था, यह तो दोषी है, इसे शस्त्रोंकी मारसे क्यों बचाया जाय? यह अपराध कर चुका था, तभी तो शरणार्थी होकर अधीनता स्वीकार करता है। इसी तरह दोषोंसे प्रपीड़ित आदमी घबराकर ही तो भगवान्‌के शरण होता है? शरणार्थी होनेपर भी यदि भगवान् दोषोंका बहीखाता खोल बैठें तो उस बेचारेकी क्या गति हो? हम दोषी हैं तभी तो कनौड़े होकर शरणार्थी हुए हैं, भगवान्‌से दयाकी प्रार्थना करते हैं।

यदि हम स्वस्ववर्णोचित, विधिबोधित धर्मानुष्ठान करते हुए होते, धर्मैकतानताके कारण 'पाप किसे कहते हैं' यह भी नहीं जानते होते, आध्यात्मिक तत्त्वोंके मननसे हमारी प्रवृत्ति अन्तर्मुख हो गयी होती, हमारी चित्तवृत्ति शम-दमादिसाधनपूर्वक सदा प्रत्यगात्मचिन्तनमें ही लगी रहती होती, संसारमें रहकर भी 'पुरुपस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः' के अनुसार हम तत्त्वज्ञानी महाराज जनकका-सा असङ्ग जीवन यापन करते होते तो हमको अपनी आत्माके लिये इतना भय न होता और न हम इतने लाचार और निराधार

विहितं जहतं विवेकहाना-
दहितं कर्म च नित्यमाचरन्तम्।
अपयातगुणं हरिप्रिये मां
कृपया केवलयैव पालयेथाः॥

'मुझको विवेक नहीं, अतएव मैं शास्त्रविहित कार्योंको छोड़ देता हूँ तथा शास्त्रविरुद्ध कार्य सदा करता हूँ। इसलिये मैं तो उद्धारके योग्य गुणोंसे रहित हूँ। हे हरिप्रिये! मेरा केवल कृपा करके ही उद्धार करिये।' पूर्वोक्त दोनों प्रकारके अधिकारियोंको सरलतया समझनेके लिये दो दृष्टान्त दिये हैं, बन्दर और बिल्लीके बच्चोंके।

बन्दरका बच्चा अपनी माताके पेटसे इस तरह चिपटा रहता है कि उसकी माता एक पेड़से दूसरे पेड़पर उछलती है, कूदती है; परन्तु बच्चेका गिरना कैसा, उसे ज़रा आजार नहीं आता। किन्तु यहाँ ध्यान रहे, इस कार्यमें सारा उद्योग पंजोंसे पकड़नेवाले उस बच्चेका है। वह अपने हाथ-पाँवोंसे अपनी सर्वस्व-शक्तिसे माताके पेटमें ऐसा सट जाता है कि माता गिरे तो ही वह गिरे। माता उसमें कुछ उद्योग नहीं करती। हाँ, यह ज़रूर है कि उसकी भी आन्तरिक इच्छा है कि यह चिपटा रहे। वह नहीं चाहती कि यह गिर जाय। यदि वही गिराना चाहे, तो बात ही दूसरी है; परन्तु वह उस बच्चेके ले जानेमें ज़रा भी उद्योग नहीं करती।

दूसरा बिल्लीका बच्चा है। वह अपनी तरफ़से कुछ नहीं ...। बल्कि जिस समय माँ उसे दूध पिला चुकती है, वह निश्चेष्ट

भी होते हैं। किन्तु ध्यान रहे, इस 'असिधाराव्रत' में जरा-सी भी भूल हुई कि बस, सब किया-कराया मिट्टी हो जाता है। स्थान-स्थानपर ऋषियोंके तपोभ्रंश होनेके वृत्तान्त आप पढ़ते ही हैं।

दूसरा है भक्त-जीवन। भक्त सब कुछ साधन करते हुए
ने साधनोंपर भरोसा नहीं करते। वे तो कहते हैं कि
ी हमारे तो साध्य और साधन हैं। न हमें साधनोंका
हम साधनबलसे भगवान्‌तक पहुँचना ही चाहते हैं।
...क है कि कुछ कर लें। हमें तो उनकी कृपाका
। उनके ... तो निर्भय हैं। वे दयालु
...रीखे अहदियोंका भी अवश्य
...सा, कोई पाप ही बच

...मत्तो न मत्तः परः।
... कोई दयासागर नहीं और
...नेवाला) नहीं।'

...ुष्ठानमें कमी करते हों।
। पीटनेवालोंसे बहुत सतर्क
... है कि ये लोग शास्त्रविहित
न नहीं रखते। क्योंकि ये
...वलम्बन मानते हैं, कर्मको
...तएव ये तो आराध्यसे यही

होकर केवल दयाके ही भिखारी बनते। हम भी यही प्रार्थना किया करते कि 'भगवान् न्यायकारी हैं, हमारे कर्तव्य देखकर उचित फैसला देंगे। इसमें भयका काम ही क्या है?' जिसे ग्रन्थ कण्ठस्थ उपस्थित हैं और जिसने परीक्षाके परचे सेंट-परसेंट किये हैं वह भला परीक्षककी रिआयतकी प्रतीक्षा क्यों करने लगा?

धार्मिक पुरुषोंके लिये दो प्रकारके आदर्श जीवन हो सकते हैं—एक ऋषि-जीवन, दूसरा शुद्ध भक्त-जीवन।

ऋषि-जीवन वह है जो खाँडेके धारपर सामान्य और विशेष धर्मोंका पालन करता आता है। ऋषिगण शास्त्रके अनुसार छोटेसे लेकर बड़ेतक प्रत्येक अपने कार्यको यथावस्थित करते हैं। उनको शम-दमादिका वह बल है, आत्मसंयमपर उनका इतना अधिकार है कि क्या मजाल उनकी जीवनचर्यामें तृणमात्र भी अन्तर पड़ जाय। साइंसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओंके तौलनेके काँटेमें कदाचित् अन्तर पड़ सकता है; परन्तु ऋषियोंके संयत जीवनमें रञ्चकमात्र व्यत्यास नहीं हो सकता। वे इस भूमिमें ही क्या, दिव्यलोकोंमें भी सारे सुखसाधन प्राप्त होनेपर भी अपने संयमको नहीं भूलते। मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए सदा ब्रह्मभावनामें निरत रहते हैं। ऐसोंके लिये ही कालिदास कहते हैं—'ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमः'—रत्नशिलाओंके भवनोंमें समाधि लगाते हैं, देवाङ्गनाओंके पड़ोसमें रहकर संयम रखते हैं। उन्हें अपने आत्मविजयपर पूरा भरोसा है। वही कर्म और ज्ञानके द्वारा ईश्वराराधन करते हुए अपवर्ग पानेके अधिकारी

भी होते हैं। किन्तु ध्यान रहे, इस 'असिधाराव्रत' में जरा-सी भी भूल हुई कि बस, सब किया-कराया मिट्टी हो जाता है। स्थान-स्थानपर ऋषियोंके तपोभ्रंश होनेके वृत्तान्त आप पढ़ते ही हैं।

दूसरा है भक्त-जीवन। भक्त सब कुछ साधन करते हुए भी अपने साधनोंपर भरोसा नहीं करते। वे तो कहते हैं कि भगवान् ही हमारे तो साध्य और साधन हैं। न हमें साधनोंका बल है, न हम साधनबलसे भगवान्‌तक पहुँचना ही चाहते हैं। हमारी क्या शक्ति है कि कुछ कर लें। हमें तो उनकी कृपाका ही भरोसा है। उनके आसरे ही हम तो निर्भय हैं। वे दयालु हैं, अपनी दयालुताके विरुदपर हम-सरीखे अहदियोंका भी अवश्य उद्धार कर देंगे। हमसे पुण्य बनना कैसा, कोई पाप ही बच जाय तो बहुत है। वे तो कहते हैं—

त्वत्तो नास्ति दयानिधिर्यदुपते मत्तो न मत्तः परः।

'हे भगवन्! आपसे बढ़कर कोई दयासागर नहीं और मुझसे बढ़कर कोई प्रमादी (भूल करनेवाला) नहीं।'

यह बात नहीं कि ये लोग धर्मानुष्ठानमें कमी करते हों। नहीं नहीं, ये लोग कर्मानुष्ठानकी डौंडी पीटनेवालोंसे बहुत सतर्क जीवन यापन करते हैं, परन्तु बात यह है कि ये लोग शास्त्रविहित कर्म करते हुए भी उसका अभिमान नहीं रखते। क्योंकि ये भगवान्‌की कृपाको ही एकमात्र अवलम्बन मानते हैं, कर्मको साधन ही मानना नहीं चाहते। अतएव ये तो आराध्यसे यही प्रार्थना करते हैं—

होकर केवल दयाके ही भिखारी बनते। हम भी यही प्रार्थना किया करते कि 'भगवान् न्यायकारी हैं, हमारे कर्तव्य देखकर उचित फैसला देंगे। इसमें भयका काम ही क्या है?' जिसे ग्रन्थ कण्ठस्थ उपस्थित हैं और जिसने परीक्षाके परचे सेंट-परसेंट किये हैं वह भला परीक्षककी रिआयतकी प्रतीक्षा क्यों करने लगा?

धार्मिक पुरुषोंके लिये दो प्रकारके आदर्श जीवन हो सकते हैं—एक ऋषि-जीवन, दूसरा शुद्ध भक्त-जीवन।

ऋषि-जीवन वह है जो खाँडेके धारपर सामान्य और विशेष धर्मोंका पालन करता आता है। ऋषिगण शास्त्रके अनुसार छोटेसे लेकर बड़ेतक प्रत्येक अपने कार्यको यथावस्थित करते हैं। उनको शम-दमादिका वह बल है, आत्मसंयमपर उनका इतना अधिकार है कि क्या मजाल उनकी जीवनचर्यामें तृणमात्र भी अन्तर पड़ जाय। साइंसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओंके तौलनेके काँटेमें कदाचित् अन्तर पड़ सकता है; परन्तु ऋषियोंके संयत जीवनमें रञ्चकमात्र व्यत्यास नहीं हो सकता। वे इस भूमिमें ही क्या, दिव्यलोकोंमें भी सारे सुखसाधन प्राप्त होनेपर भी अपने संयमको नहीं भूलते। मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए सदा ब्रह्मभावनामें निरत रहते हैं। ऐसोंके लिये ही कालिदास कहते हैं—'ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमः'—रत्नशिलाओंके भवनोंमें समाधि लगाते हैं, देवाङ्गनाओंके पड़ोसमें रहकर संयम रखते हैं। उन्हें अपने आत्मविजयपर पूरा भरोसा है। वही कर्म और ज्ञानके द्वारा ईश्वराराधन करते हुए अपवर्ग पानेके अधिकारी

होकर पड़ जाता है, आँखेंतक मींच लेता है। उस समय माता ही अपने मुखसे दाबकर उस बच्चेको स्थानान्तरमें ले जाती है, बच्चा अहदी हुआ मुखमें लटका रहता है। इसी तरह दोनों अधिकारियोंको समझ लीजिये। एक अपनी शक्तियोंको लगाकर अपने बलसे भगवान्का अनुगमन करना चाहते हैं, दूसरे अपने उद्योगका उसमें सम्बन्ध ही नहीं जोड़ते। इस कर्ममय संसारमें रहते हुए भी वे भगवान्पर और उनकी कृपापर ही टकटकी लगाये रहते हैं, कर्मोंपर उन्हें आस्था ही नहीं। अतएव चाहे उनसे कर्म होते भी हों, परन्तु वे उनके फलसे लिप्त नहीं होते। जैसा कि गीतामें कहा है—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः॥

जब उनका फल नहीं तो कर्म करना, न करना बराबर है। इसलिये वे 'किये भी' 'नहीं किये' के समान है। भगवान् कहते हैं कि जब मेरे भक्त मेरे ही आश्रयपर इतने दृढ़ हैं कि वे कर्मपर दृष्टितक नहीं देते, तब क्या मैं ही इतना संकीर्णहृदय हो जाऊँगा कि वे तो सब कुछ मुझमें ही समर्पण करके मेरा आश्रय लेंगे, मेरे शरण आयेंगे और मैं उनके दोषोंका पचड़ा लेकर बैठूँगा? नहीं, नहीं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

'जो जिस प्रकार मेरा आश्रय लेते हैं मैं भी उसी तरह उनसे व्यवहार करता हूँ।' जब भक्त इतने एकान्ती हैं कि भगवान् और

विहितं जहतं विवेकहाना-
दहितं कर्म च नित्यमाचरन्तम्।
अपयातगुणं हरिप्रिये मां
कृपया केवलयैव पालयेथाः॥

'मुझको विवेक नहीं, अतएव मैं शास्त्रविहित कार्योंको छोड़ देता हूँ तथा शास्त्रविरुद्ध कार्य सदा करता हूँ। इसलिये मैं तो उद्धारके योग्य गुणोंसे रहित हूँ। हे हरिप्रिये! मेरा केवल कृपा करके ही उद्धार करिये।' पूर्वोक्त दोनों प्रकारके अधिकारियोंको सरलतया समझनेके लिये दो दृष्टान्त दिये हैं, बन्दर और बिल्लीके बच्चोंके।

बन्दरका बच्चा अपनी माताके पेटसे इस तरह चिपटा रहता है कि उसकी माता एक पेड़से दूसरे पेड़पर उछलती है, कूदती है; परन्तु बच्चेका गिरना कैसा, उसे ज़रा आजार नहीं आता। किन्तु यहाँ ध्यान रहे, इस कार्यमें सारा उद्योग पंजोंसे पकड़नेवाले उस बच्चेका है। वह अपने हाथ-पाँवोंसे अपनी सर्वस्व-शक्तिसे माताके पेटमें ऐसा सट जाता है कि माता गिरे तो ही वह गिरे। माता उसमें कुछ उद्योग नहीं करती। हाँ, यह ज़रूर है कि उसकी भी आन्तरिक इच्छा है कि यह चिपटा रहे। वह नहीं चाहती कि यह गिर जाय। यदि वही गिराना चाहे, तो बात ही दूसरी है; परन्तु वह उस बच्चेके ले जानेमें ज़रा भी उद्योग नहीं करती।

दूसरा बिल्लीका बच्चा है। वह अपनी तरफ़से कुछ नहीं करता। बल्कि जिस समय माँ उसे दूध पिला चुकती है, वह निश्चेष्ट

जाता है वैसे-वैसे ही उसे शान्ति मिलती जाती है और वह उसके अधिकाधिक समीप होता जाता है। जब भगवान्‌के अभिमुख होनेसे मनुष्यको शान्ति मिलती है तो मनुष्यका चित्त प्रतिकूल प्रपञ्चोंसे विरक्त होकर भगवान्‌की तरफ अच्छी तरह खिंच जाता है। उनके गुणोंको जानने लगता है। उनमें अनुरक्ति (भक्ति) हो जाती है। जब भगवान्‌में भक्ति हो गयी तो अब इस भाग्यवान्‌के लिये बाकी ही क्या रहा? भगवान्‌की तरफ अभिमुख होनेपर संसारसे विरक्ति और भगवान्‌में भक्ति होना स्वाभाविक ही है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥

'भगवान्‌की जो 'प्रपत्ति' (शरणागति) स्वीकार करता है उसकी भक्ति, भगवद्विषयक ज्ञान और भगवदितर पदार्थोंसे वैराग्य, ये तीनों बातें एक कालमें ही हो जाती हैं। जैसे भोजन करते हुए पुरुषको प्रत्येक ग्रासमें सन्तोष, शरीरपोषण और क्षुधाकी शान्ति साथ-ही-साथ होती जाती है।'

आप ही देखिये, जब संसारसे विरक्ति हो गयी और भगवान्‌में भक्ति हो गयी, तब कोई भी दोष शरणार्थीको भला स्पर्श कर सकता है? पहलेके कोई दोष हों, तो भी वे इस समय इससे कोसों दूर हो जाते हैं। शरणार्थीके हृदयमें जैसे ही भगवान्‌की स्मृति होती है और यह उनके चरणोंकी शरण लेनेको जैसे ही

उनकी कृपाके सिवा किसीकी तरफ आशाभरी दृष्टि ही नहीं डालते, तब भगवान् तो दयाके समुद्र कहे जाते हैं, क्या वे शरणार्थीके प्रति उदार नहीं होंगे? नहीं-नहीं, अवश्य होंगे। इसी आशयसे तो यहाँ कहते हैं कि दोषो यद्यपि स्यात्, तस्य (शरणागतस्य) न दोषः'—दोष यद्यपि हों, परन्तु शरणार्थीके कोई दोष नहीं रहता।

जिस समय प्रतिकूल प्रपञ्चके थपेड़े मनुष्यको लगते हैं, सांसारिक विपत्तियोंकी अनवरत टक्करके कारण जिस समय मनुष्यकी मति चक्करमें आ पड़ती है, दुःखबहुल इस संसारके तापसे पीड़ित पुरुष जिस समय अत्यन्त दुखी हो जाता है, उस समय निर्विण्ण होकर शान्तिकी लालसासे चारों तरफ घबराया हुआ घूमने लगता है। जिस दैव जीवके भाग अच्छे होते हैं, जिसे सत्सङ्ग मिल जाता है, वह उस अवस्थामें भगवान्के अभिमुख होने लगता है। जैसे ही इसका मुख संसारकी तरफसे हटता है और भगवान्के अभिमुख होता है वैसे ही इसे शान्ति मिलने लगती है, क्योंकि यह दुःख तो संसारमें लिप्त होनेके कारण अहंता-ममताके पाशमें जकड़े रहनेके कारण था। जब संसारकी तरफसे इसका रुख ही हट गया तब फिर वह दुःख इसे क्यों होने लगा। जैसे-जैसे यह संसार-भावनासे दूर और भगवान्के अभिमुख होता जाता है वैसे-वैसे ही इसको अधिकाधिक शान्ति मिलती जाती है। यह भी शान्तिकी डोरीसे बँधा हुआ धीरे-धीरे भगवान्के और भी अभिमुख होता जाता है। घोर ग्रीष्मसे घबराया हुआ बटोही सुखद, शीतल, निकुञ्जकी छायाके जैसे-जैसे समीप होता

जाता है वैसे-वैसे ही उसे शान्ति मिलती जाती है और वह उसके अधिकाधिक समीप होता जाता है। जब भगवान्‌के अभिमुख होनेसे मनुष्यको शान्ति मिलती है तो मनुष्यका चित्त प्रतिकूल प्रपञ्चोंसे विरक्त होकर भगवान्‌की तरफ अच्छी तरह खिंच जाता है। उनके गुणोंको जानने लगता है। उनमें अनुरक्ति (भक्ति) हो जाती है। जब भगवान्‌में भक्ति हो गयी तो अब इस भाग्यवान्‌के लिये बाकी ही क्या रहा ? भगवान्‌की तरफ अभिमुख होनेपर संसारसे विरक्ति और भगवान्‌में भक्ति होना स्वाभाविक ही है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥

'भगवान्‌की जो 'प्रपत्ति' (शरणागति) स्वीकार करता है उसकी भक्ति, भगवद्विषयक ज्ञान और भगवदितर पदार्थोंसे वैराग्य, ये तीनों बातें एक कालमें ही हो जाती हैं। जैसे भोजन करते हुए पुरुषको प्रत्येक ग्रासमें सन्तोष, शरीरपोषण और क्षुधाकी शान्ति साथ-ही-साथ होती जाती है।'

आप ही देखिये, जब संसारसे विरक्ति हो गयी और भगवान्‌में भक्ति हो गयी, तब कोई भी दोष शरणार्थीको भला स्पर्श कर सकता है ? पहलेके कोई दोष हों, तो भी वे इस समय इससे कोसों दूर हो जाते हैं। शरणार्थीके हृदयमें जैसे ही भगवान्‌की स्मृति होती है और वह उनके चरणोंकी शरण लेनेको जैसे ही

अभिमुख होता है वैसे ही यह भगवान्‌का अनुग्रहपात्र हो जाता है—भगवान्‌का प्रिय हो जाता है। क्योंकि भगवान् तो सब प्राणियोंको अभयदान देनेके लिये दरवाजा खोले प्रतीक्षा करते रहते हैं, शरणार्थीको देखते ही भक्तवत्सल भगवान् प्रेमगद्गद हो उठते हैं। अब आप ही कहिये, जो भगवान्‌का प्रेमपात्र है, जिसपर भगवान्‌का अनुग्रह है, क्या उसको अब भी पाप, दोष घेरे ही रहेंगे? जिसको भगवान्‌की स्मृति अहर्निश बनी हुई है, जिसके हृदय-मन्दिरमें भगवान् स्थिररूपसे आ विराजे हैं, क्या अब भी वह पापी ही बना है? जिन भगवान्‌की दृष्टिमात्र पड़नेसे पापी-से-पापी भी पवित्र हुए सुने जाते हैं, वही भगवान् समूचे आ विराजें और वह पापी-का-पापी ही बना रहे? भगवान्‌का इतना सम्बन्ध होनेपर भी क्या वह पवित्र नहीं हुआ?

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

'और तरफसे भावनाको हटाकर भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेवाले, अतएव भगवान्‌के प्रिय उस पुरुषका यदि कोई दोष भी हो तो हृदयमें रहनेवाले सर्वेश्वर भगवान् उसे नष्ट कर देते हैं।'

आहा! 'प्रियस्य'—जो भगवान्‌का आश्रय लेता है वह भगवान्‌का प्रिय है। भगवान्‌का जो प्रिय हो चुका, उसके लिये भगवान् कुछ उठा रक्खेंगे? भगवान् उससे दूर हट जायँ तो कदा-

चित् यह सम्भव भी हो; परन्तु 'हृदि सन्निविष्टः'—भगवान् तो उसके हृदयमें विराजे हैं। कदाचित् यह समझा जाय कि भगवान् उसके हृदयमें भी आ विराजे तथा उसपर भगवान्की प्रीति भी हो चुकी; परन्तु पूर्वकृत अपराधोंको दूर करनेकी शक्ति शायद भगवान्में न हो। नहीं-नहीं, 'हरिः परेशः'। भगवान् सब पापोंको हरण करनेमें समर्थ हैं, 'परेशः'—परात्पर हैं। उनसे बढ़कर सामर्थ्य किसीको नहीं। वे सबके मालिक हैं, उनके ऊपर कोई स्वामी नहीं। 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यं' यदि किसीको हो सकता है तो वह आपहीको है। ऐसी दशामें भी क्या पाप दूर नहीं होंगे ? भगवान्के प्रिय बन गये, फिर भी पापी-के-पापी ही रहे ? नहीं, 'सर्वं विकर्म धुनोति' भगवान् उसके सब पापको जड़मूलसे नष्ट कर देते हैं।

संसारमें भूला हुआ प्राणी संसारको पीठ देकर जिस समय भगवान्के अभिमुख होता है, उस समय बेचारे पातक विमुख होकर स्वयं उससे भागते हैं। बड़े-बड़े महानुभाव उसके भाग्यको सराहते हैं। जिसकी भगवान्में मति हो गयी वह तो तीर्थोंका भी तीर्थ है। उसके बराबर भला कौन पुण्यवान् है ? भगवान्की शरण लेनेको जिस समय वह मार्गमें आगे बढ़ता है, पैंड-पैंडपर वह मार्ग कोटि-कोटि प्रयागके समान होता जाता है। शरणार्थीके एक-एक पैंडमें, बिहारीके कथनानुसार, 'पग-पग होत प्रयाग'।

भगवान्को जो एक बार भी प्रणाम कर लेता है उसीका माहात्म्य अतुलनीय हो जाता है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥

'भगवान्‌को एक बार भी प्रणाम कर लेना दस अश्वमेधोंके यज्ञान्तस्नानके बराबर है । दस अश्वमेध करनेवालेका जन्म फिर भी हो सकता है, परन्तु जो भगवान्‌को प्रणाम कर लेता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता ।'

जब प्रणाम कर लेनेका ही इतना माहात्म्य है, तब जो भगवान्‌का शरणार्थी हुआ है, जिसके भगवान् 'हृदि सन्निविष्टः'—हृदयमें विराजे हैं, क्या वह दोषी कहा जा सकता है ? नहीं-नहीं, वह तो 'पावनानां च पावनम्' है । केवल भक्तिमार्गके अनुसार ही ये उपपत्तियाँ दी हों, सो नहीं । वेदभगवान् भी कहते हैं—'यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतेह्यास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते'—जिस तरह अग्निमें पड़नेसे तृण और तूल (रूई) दग्ध हो जाते हैं, इसी तरह शरणार्थी होनेपर इसके सब पाप दग्ध हो जाते हैं ।

इसी तात्पर्यसे महर्षि कहते हैं—'दोषो यद्यपि स्यात्, तस्य न दोषः'—दोष यदि हो, तो भी शरणागतका कोई दोष नहीं ।

अथवा—'यद्यपि दोषः स्यात् परं तस्य (शरणागतिरूपनिरतिशयगुणशालिनः) दोषो न त्याज्यकोटिं स्पृशति'—मान भी लिया जाय कि उसमें दोष है; परन्तु शरणागतिरूपी वह अतुलनीय गुण भी तो है, जिससे बढ़कर और कोई गुण हो ही नहीं सकता ।

अतएव उस अद्भुत गुणके कारण दोष होनेपर भी वह त्याज्य नहीं हो सकता।

कड़वापन सबको बुरा लगता है। कड़वी चीज मुँहमें आते ही 'थू-थू' का प्रयोग होता है। देखा जाय तो कड़वापनका सम्बन्ध जीभसे है। जीभपर रखकर ही हम चख सकते हैं कि यह वस्तु कड़वी है या नहीं। अतएव इस कड़वेपनका जिह्वाके स्वादसे ही सम्बन्ध होना चाहिये, किन्तु हेयताके कारण इस कड़वेपनका लोगोंपर इतना आतङ्क छा गया है कि बुरी लगनेवाली सभी चीज कड़वी कहलाने लगी अर्थात् 'बुरा' और 'कड़वा' दोनों शब्द पर्याय हो गये हैं। नीतिनिष्णात समझाते हैं कि 'कड़वी बात किसीको नहीं कहनी चाहिये।' बात कानसे सुननेकी चीज है और कड़वापन जिह्वासे जाना जाता है। 'अभिधा' को धकियाकर 'लक्षणा' ने स्थान ग्रहण कर लिया। बुरी लगनेवाली अप्रिय बात भी कड़वी कहलाने लगी। लक्षणाके द्वारा इस तरह चक्करसे बोलनेका भी कोई प्रयोजन जरूर है। वह यही कि ऐसी बात अत्यन्त हेय है। यों कटुताका बुरापन अधिकाधिक प्रसिद्ध होता हुआ शब्दके इलाकेमें भी पहुँच गया। कड़वापन कानोंतकको बुरा लगने लगा। साहित्यवाले तो इस 'कर्णकटुता' को पूरा दोष मानते हैं। बुरे अर्थको सूचित करनेवाली बात (व्यक्त शब्द) फिर भी कड़वी हो सकती है, किन्तु अव्यक्त नादतक अप्रिय लगनेके कारण कड़वा बन गया। बाणभट्ट कहते हैं—

कटु क्वणन्तो मलदायकाः खला-
स्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव।

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

'भगवान्‌को एक बार भी प्रणाम कर लेना दस अश्वमेधोंके यज्ञान्तस्नानके बराबर है। दस अश्वमेध करनेवालेका जन्म फिर भी हो सकता है, परन्तु जो भगवान्‌को प्रणाम कर लेता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता।'

जब प्रणाम कर लेनेका ही इतना माहात्म्य है, तब जो भगवान्‌का शरणार्थी हुआ है, जिसके भगवान् 'हृदि सन्निविष्टः'— हृदयमें विराजे हैं, क्या वह दोषी कहा जा सकता है? नहीं-नहीं, वह तो 'पावनानां च पावनम्' है। केवल भक्तिमार्गके अनुसार ही ये उपपत्तियाँ दी हों, सो नहीं। वेदभगवान् भी कहते हैं— 'यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतेहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते'— जिस तरह अग्निमें पड़नेसे तृण और तूल (रूई) दग्ध हो जाते हैं, इसी तरह शरणार्थी होनेपर इसके सब पाप दग्ध हो जाते हैं।

इसी तात्पर्यसे महर्षि कहते हैं—'दोषो यद्यपि स्यात्, तस्य न दोषः'—दोष यदि हो, तो भी शरणागतका कोई दोष नहीं।

अथवा—'यद्यपि दोषः स्यात् परं तस्य (शरणागतिरूप-निरतिशयगुणशालिनः) दोषो न त्याज्यकोटिं स्पृशति'—मान भी लिया जाय कि उसमें दोष है; परन्तु शरणागतिरूपी वह अतुलनीय गुण भी तो है, जिससे बढ़कर और कोई गुण हो ही नहीं सकता।

अतएव उस अद्भुत गुणके कारण दोष होनेपर भी वह त्याज्य नहीं हो सकता ।

कड़वापन सबको बुरा लगता है । कड़वी चीज मुँहमें आते ही 'थू-थू' का प्रयोग होता है । देखा जाय तो कड़वापनका सम्बन्ध जीभसे है । जीभपर रखकर ही हम चख सकते हैं कि यह वस्तु कड़वी है या नहीं । अतएव इस कड़वेपनका जिह्वाके स्वादसे ही सम्बन्ध होना चाहिये, किन्तु हेयताके कारण इस कड़वेपनका लोगोंपर इतना आतङ्क छा गया है कि बुरी लगनेवाली सभी चीज कड़वी कहलाने लगी अर्थात् 'बुरा' और 'कड़वा' दोनों

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥

'भगवान्‌को एक बार भी प्रणाम कर लेना दस अश्वमेधोंके यज्ञान्तस्नानके बराबर है । दस अश्वमेध करनेवालेका जन्म फिर भी हो सकता है, परन्तु जो भगवान्‌को प्रणाम कर लेता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता ।'

जब प्रणाम कर लेनेका ही इतना माहात्म्य है, तब जो भगवान्‌का शरणार्थी हुआ है, जिसके भगवान् 'हृदि सन्निविष्टः'— हृदयमें विराजे हैं, क्या वह दोषी कहा जा सकता है ? नहीं-नहीं, वह तो 'पावनानां च पावनम्' है । केवल भक्तिमार्गके अनुसार ही ये उपपत्तियाँ दी हों, सो नहीं । वेदभगवान् भी कहते हैं— 'यथेपीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतेहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते'— जिस तरह अग्निमें पड़नेसे तृण और तूल (रूई) दग्ध हो जाते हैं, इसी तरह शरणार्थी होनेपर इसके सब पाप दग्ध हो जाते हैं ।

इसी तात्पर्यसे महर्षि कहते हैं—'दोषो यद्यपि स्यात्, तस्य न दोषः'—दोष यदि हो, तो भी शरणागतका कोई दोष नहीं ।

अथवा—'यद्यपि दोषः स्यात् परं तस्य (शरणागतिरूप-निरतिशयगुणशालिनः) दोषो न त्याज्यकोटिं स्पृशति'—मान भी लिया जाय कि उसमें दोष है; परन्तु शरणागतिरूपी वह अतुलनीय गुण भी तो है, जिससे बढ़कर और कोई गुण हो ही नहीं सकता ।

अतएव उस अद्भुत गुणके कारण दोष होनेपर भी वह त्याज्य नहीं हो सकता।

कड़वापन सबको बुरा लगता है। कड़वी चीज मुँहमें आते ही 'थू-थू' का प्रयोग होता है। देखा जाय तो कड़वापनका सम्बन्ध जीभसे है। जीभपर रखकर ही हम चख सकते हैं कि यह वस्तु कड़वी है या नहीं। अतएव इस कड़वेपनका जिह्वाके स्वादसे ही सम्बन्ध होना चाहिये, किन्तु हेयताके कारण इस कड़वेपनका लोगोंपर इतना आतङ्क छा गया है कि बुरी लगनेवाली सभी चीज कड़वी कहलाने लगी अर्थात् 'बुरा' और 'कड़वा' दोनों शब्द पर्याय हो गये हैं। नीतिनिष्णात समझाते हैं कि 'कड़वी बात किसीको नहीं कहनी चाहिये।' बात कानसे सुननेकी चीज है और कड़वापन जिह्वासे जाना जाता है। 'अभिधा' को धकियाकर 'लक्षणा' ने स्थान ग्रहण कर लिया। बुरी लगनेवाली अप्रिय बात भी कड़वी कहलाने लगी। लक्षणाके द्वारा इस तरह चक्करसे बोलनेका भी कोई प्रयोजन जरूर है। वह यही कि ऐसी बात अत्यन्त हेय है। यों कटुताका बुरापन अधिकाधिक प्रसिद्ध होता हुआ शब्दके इलाकेमें भी पहुँच गया। कड़वापन कानोंतकको बुरा लगने लगा। साहित्यवाले तो इस 'कर्णकटुता' को पूरा दोष मानते हैं। बुरे अर्थको सूचित करनेवाली बात (व्यक्त शब्द) फिर भी कड़वी हो सकती है, किन्तु अव्यक्त नादतक अप्रिय लगनेके कारण कड़वा बन गया। बाणभट्ट कहते हैं—

कटु क्वणन्तो मलदायकाः खला-
स्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव।

'बाँधनेकी साँकलकी तरह कड़वा शब्द करते हुए, कलङ्क-कालिमाको देनेवाले दुर्जन अत्यन्त पीड़ा करते हैं।'

कहिये जन-समाजको कड़वापन कितना बुरा लगता है? परन्तु अब देखिये, कड़वापनका घोर दोष भी अच्छा बन जाता है। समझदारीकी पूर्ण बारीकी निकालनेवाले साहित्यमार्मिक कहते हैं—

काश्मीरजस्य कटुतापि नितान्तरम्या।

'केसरका कड़वापन भी अत्यन्त प्रिय लगता है।'

क्यों? जो कड़वापनका दोष अत्यन्त हेय था वह प्रिय ही नहीं, अत्यन्त प्रिय क्योंकर बन गया? साथमें गुणके कारण। केसरमें वह मनोहर सुगन्ध है जिसके कारण वह कड़वापन भी प्रिय ही नहीं, अत्यन्त प्रिय लगता है।

जलाशयकी प्रशंसा इसीमें है कि वह लोगोंको, थके-माँदे बटोहियोंको, पीनेमें, नहाने आदिमें जलकी सहायता पहुँचाकर कष्टसे बचावे। इस पुण्यके लिये ही वापी, कूप, तड़ाग आदि जलाशय बनवानेमें लोग लाखों खर्च करते हैं। यदि जलाशय खूब लंबा, चौड़ा, गहरा बन भी गया, परन्तु उसके जलको लोग जीभपर भी न रख सके; और तो क्या, कपड़े धोनेके कामतक न आया! तो कहिये उस जलाशयका क्या उपयोग हुआ? जलाशयकी इस उपयोगिताकी कसौटीपर अब जरा समुद्रको जाँचिये। क्या वह जलाशयका काम करता है? धर्मबुद्धिसे आचमनकी बात जाने दीजिये; परन्तु दो-चार चुल्लू पानी भी

किसी प्यासेकी प्यास बुझानेके काम न आया होगा। कोई कहता है—

नोद्वेगं यदि यासि यद्यवहितः कर्णं ददासि क्षणं
त्वां पृच्छामि यदम्बुधे किमपि तन्निश्चित्य देह्युत्तरम्।
नैराश्यातिशयातिमात्रमनिशं निःश्वस्य यद् दृश्यसे
तृष्यद्भिः पथिकैः कियत्तदधिकं स्यादौर्वदाहादतः॥

'हे समुद्र! यदि तुम बुरा न मानो और क्षणमात्र कान देकर अवधानसे सुनो तो तुमसे कुछ पूछना चाहता हूँ। आशा करता हूँ, तुम खूब निश्चित सोच-समझकर उत्तर दोगे। बड़ी दूरसे आये प्यासे पथिक अत्यन्त निराशासे दुःखके निःश्वास लेते हुए तुम्हें बार-बार देखते हैं और उस समय उनके हृदयमें जो दाह-दुःख होता है वह तुम्हारे इस भीतरी वडवाग्निदाहसे कितना अधिक होता होगा, यह हमें तुलना करके बता दो। दोनों दुःख तुम्हारे सामने रहते हैं, वडवाग्निका दाह भी तुम जानते हो और वह निराशाजनित पथिकोंका अन्तर्दाहरूप दुःख भी तुम रोजाना देखते हो। अतएव तुम्ही बारीक तुलना करके हमें निश्चित उत्तर दो।'

यों जलाशयके लिहाजसे तो समुद्र बेचारे दीन पथिकोंसे नित्य आँसुओंकी जलाञ्जलि पाता है; परन्तु इस घोर दोषके रहनेपर भी वह प्रशंसापात्र है। उसमें सर्वाभिनन्दनीय गुण यही है कि उसमेंसे ही अमूल्य रत्न निकलते हैं। इसीलिये दोषकी क्या कथा? 'रत्नाकर'—रत्नोंकी खान कहकर उसका

'बाँधनेकी साँकलकी तरह कड़वा शब्द करते हुए, कलङ्क-कालिमाको देनेवाले दुर्जन अत्यन्त पीड़ा करते हैं।'

कहिये जन-समाजको कड़वापन कितना बुरा लगता है? परन्तु अब देखिये, कड़वापनका घोर दोष भी अच्छा बन जाता है। समझदारीकी पूर्ण बारीकी निकालनेवाले साहित्यमार्मिक कहते हैं—

काश्मीरजस्य कटुतापि नितान्तरम्या ।

'केसरका कड़वापन भी अत्यन्त प्रिय लगता है।'

क्यों? जो कड़वापनका दोष अत्यन्त हेय था वह प्रिय ही नहीं, अत्यन्त प्रिय क्योंकर बन गया? साथमें गुणके कारण। केसरमें वह मनोहर सुगन्ध है जिसके कारण वह कड़वापन भी प्रिय ही नहीं, अत्यन्त प्रिय लगता है।

जलाशयकी प्रशंसा इसीमें है कि वह लोगोंको, थके-माँदे बटोहियोंको, पीनेमें, नहाने आदिमें जलकी सहायता पहुँचाकर कष्टसे बचावे। इस पुण्यके लिये ही वापी, कूप, तड़ाग आदि जलाशय बनवानेमें लोग लाखों खर्च करते हैं। यदि जलाशय खूब लंबा, चौड़ा, गहरा बन भी गया, परन्तु उसके जलको लोग जीभपर भी न रख सके; और तो क्या, कपड़े धोनेके कामतक न आया! तो कहिये उस जलाशयका क्या उपयोग हुआ? जलाशयकी इस उपयोगिताकी कसौटीपर अब जरा समुद्रको जाँचिये। क्या वह जलाशयका काम करता है? धर्मबुद्धिसे आचमनकी बात जाने दीजिये; परन्तु दो-चार चुल्लू पानी भी

गुणगान किया जाता है। दुरूपमें प्रयोजनकी बात कहकर रघुवंशियोंका इतिहास लिखनेवाले महाकवि कालिदास भी उसकी प्रशंसामें चौदह श्लोक खर्च कर डालते हैं। कारण यही है कि गुणके कारण दोष भी उपादेय हो जाता है। चन्द्रमा क्षयी, कलङ्की, पाण्डुरोगी, सब दोषोंका पात्र है। विरहियोंकी वकालत करते हुए कवि उसे कोसते भी हैं—'ईदृशैश्चरितैर्जाने सत्यं दोषाकरो भवान्'—ऐसे-ऐसे चरित्रोंसे मालूम होता है कि तुम अवश्य दोषोंको खान हो [दोषाकर=रात्रि करनेवाला तथा दोषोंकी खान]। किन्तु अमृतवर्षा करनेवाले प्रकाशगुणके कारण वह 'राजा' है। समुद्र और चन्द्र इन दोनोंमें दोषोंके रहते हुए भी वह अतुलनीय गुण है जिससे मुग्ध होकर कविलोग प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते, इनके नाममात्रपर ही 'वाह वाह' कर उठते हैं—

गुणग्रामाभिसंवादि नामापि हि महात्मनाम्।
यथा सुवर्णश्रीखण्डरत्नाकरसुधाकराः॥

'महात्माओंके नाम भी गुणानुसारी हुआ करते हैं। जैसे सुवर्ण, श्रीखण्ड, रत्नाकर, सुधाकर।'

गुण होनेके कारण समुद्र, चन्द्र आदि बड़ोंके दोष तो शायद लिहाजसे भी सह्य हो गये हों; परन्तु दोषपूर्ण मामूली चीज़ भी थोड़े-से भी गुणके कारण उपादेय हो जाती है। पेड़ोंकी गणनामें केवल कण्टकाकीर्ण बबूल आदि वृक्षोंको गिनते हुए कवि अक्सर नाक-भौं सिकोड़ा करते हैं। अन्योक्तिके बहाने उन्हें फबतियाँ सुनाया

करते हैं और कहते हैं कि इनका पेड़ोंमें पाठ 'आकृतिगण' * है।

शरीर खुरदरा, काठ कठोर, फूलमें सुगन्ध नहीं, फल भोज्य नहीं। हाँ, हाथ लगाते ही काँटे गड़कर लोहूलुहान होनेका फल जरूर भोगा जा सकता है; छायातकमें काँटोंके मारे चैन नहीं, ऐसी दशामें आम्रादिके सामने ये कैसे वृक्ष? परन्तु उनका काठ दृढ़तामें बेजोड़ है, उनकी काँटेभरी डालियाँ अच्छे-अच्छे दीखनेवाले पेड़ोंकी रक्षाके काममें आती हैं, इस गुणसे वे भी उपादेय हो जाते हैं। किसीने कहा है—

अन्तः कर्कशता बहिश्च घटना मर्माविधैः कण्टकै-
श्छायामण्डलसंस्पृशां तनुभृतामुद्वेजिनी संस्थितिः।
तन्नामास्तु विधेरिदं विलसितं बर्बूरशाखिन् सखे
शाखा ते फलशालिनामपि वृतिः सम्पत्स्यते भूरुहाम्॥

'तुम्हारे भीतर कठोरता है, बाहर मर्मवेधी काँटोंसे भरे हो, तुम्हारी छायामें भी प्राणी कण्टकोंके कारण बड़े दुःखसे बैठते हैं। यह सब रहो। इसमें तुम्हारा दोष नहीं, यह तो विधिविलास है। किन्तु हे मित्र बबूल! तुम्हारी शाखा बाड़ बनकर फलशाली वृक्षोंकी भी रक्षा करेगी।'

ठीक ही है। दोष होनेपर भी यदि उसमें गुण हो तो उसके दोष नहीं देखे जाते। सामान्य-सा गुण होनेपर भी जब उसके

---

* संस्कृतव्याकरणके गणपाठमें कई शब्दोंका समूह (रूप) पुस्तकोंमें गिना दिया जाता है; परन्तु कितने ही शब्द गिनाये न जानेपर भी वैसी आकृति देखकर उस समूहमें सम्मिलित मान लिये जाते हैं। जैसे 'शकन्ध्वादिः' आकृतिगणः।

रथाङ्गाह्वानानां भवति विधुरङ्गारशकटी
पटीरारम्भःकुम्भः स भवति चकोरीनयनयोः ॥

'कोई भी चीज प्रकृतिके गुणसे न तो एकदम अच्छी ही है और न बुरी ही। जिस चीजमें अच्छापन होगा, दूसरे ग्राहककी दृष्टिमें वही बुरी भी हो सकती है। चक्रवाकोंके लिये चन्द्रमा दाह करनेवाली आगकी अँगोठी है; किन्तु वही चकोरोंके लिये शीतलता पहुँचानेमें चन्दनद्रवसे भरा हुआ एक घड़ा है।'

जब गुण-दोषोंकी यह परिस्थिति है तब निश्चितरूपसे कैसे कहा जा सकता है कि इसमें दोष है, अतएव इसका त्याग कर देना चाहिये। दूसरे, गुण होनेसे कोई वस्तु उपादेय हो जाय, यह भी सब जगह नहीं देखा जाता। जिसका जिसमें प्रेम होता है, वह हजार दोष होनेपर भी उसे अच्छा लगता है—

ह्रियते गुणेन न जनो ह्रियते यो येन भावितस्तेन।
मुक्ताफलानि मुक्त्वा गुञ्जा गृह्णन्ति किल पुलिन्दगणाः ॥

'गुणके कारणसे ही कोई प्रिय नहीं हो सकता। किन्तु जिसका जिसपर अनुराग होता है वह उसे अच्छा लगता है। गजमौक्तिकोंको छोड़कर व्याधलोग स्वाभाविक प्रेमके कारण गुञ्जा (घुँघची) की माला पसन्द करते हैं।'

यह सब भी जाने दीजिये। थोड़ी देरके लिये मान भी लिया जाय कि कोई चीज सबकी दृष्टिमें न सही, बहुतोंकी दृष्टिमें बुरी लग सकती है, अतएव उस चीजमें दोष है। किन्तु बहुत-से दोष भी तो गुणके सहारेसे उपादेय हो जाते हैं, यह पीछे भी कहा जा

चुका है। जिस छत्रपति राजाके दरबारमें महामूल्य हीरा, पन्ना आदि रत्नोंकी नज़र करते हुए भी सामन्तगण हिचकिचाते हैं, भला, उसके हाथमें सूखा पत्ता दिया जा सकता है? गुलाब-मोतिया आदि सुगन्धित पुष्पोंके गजरे भी जहाँ थोड़ी-थोड़ी देरमें बदले जाते हैं वहाँ बेचारे सूखे पत्तेकी पहुँच कहाँ? परन्तु पानके बीड़ेके सहारे ढाकका वह पत्ता भी उसी प्रभावशाली राजाके हाथतक जा पहुँचता है। खाली सूतका तार हमारे गलेमें भी यदि उलझा हो तो हमें बड़ा असह्य लगता है, तत्काल उसे तोड़ फेंकते हैं। फिर भला रत्नसिंहासनपर बैठे चक्रवर्ती राजाके गलेमें वह सूतका डोरा पहुँच सकता है? परन्तु 'सुमनःस्तोमसंसर्गात्सूत्रं शिरसि धार्यते'—फूलोंके सम्बन्धसे तुच्छ डोरा भी सिरतकमें धारण किया जाता है।

यही क्यों? मिट्टी तो सबसे हेय है न? भला उसे कोई अपने सुन्दर सुगन्धित पदार्थमें मिलाना चाहेगा? किन्तु खस (उशीर) के साथ भूमिकी मिट्टी भी राजमहलके गद्दोंतक जा पहुँचती है। यह भी क्यों, खालिस मिट्टी, जो हमारे पैरोंसे खूँदनेमें आती है उसीपर बड़े भारी महाराजाधिराजतकको नाक रगड़ते देखा है। नकसीर जिस समय चलती है उस समय मिट्टीको गीला करके सूँघा जाता है। जल पड़नेपर उसमें एक तरहकी सुगन्ध आती है, जो नकसीरमें लाभदायक होती है। जब दोषसे भरी तुच्छ-से-तुच्छ वस्तु भी थोड़े-से ही गुणके कारण इस तरह उपादेय हो जाती है तब भला अद्भुत, अनुपम, अलौकिक गुणके रहते हुए भी किसी चीजको केवल इस सन्देहमात्रसे छोड़ा जा सकता है

कि शायद इसमें दोष होगा। इसी आशयसे श्रीरामचन्द्रजी आज्ञा करते हैं—'यद्यपि दोषः स्यात् परं तस्य (शरणागतिरूपगुण-शालिनः) दोषो न त्याज्यकोटिमाटीकते'—यद्यपि दोष हो तो भी शरणागतिरूपी अद्भुत गुणशाली उस विभीषणका दोष त्याज्य-कोटिमें नहीं आ सकता।

अथवा—'दोषो यद्यपि स्यात् परं 'तस्य'!'—दोष यद्यपि हो तो भी 'तस्य' वह उसका है। उसका होनेसे वह दोष भी मेरे लिये त्याज्य नहीं, प्रत्युत प्रिय है। जिस शरणार्थीकी मैं पलकके पाँवडे बिछाकर प्रतीक्षा किया करता हूँ, जो मुझे प्राणसे भी अधिक प्रिय है; क्योंकि मैं अपने प्राणोंको तो कष्ट दे लेता हूँ, परन्तु शरणार्थीके कष्टको क्षणमात्र भी नहीं देख सकता, उसी मेरे परमप्रिय शरणार्थीकी जो कोई भी चीज है वह सभी मुझे अच्छी लगती है। दोष है तो क्या हुआ, है तो मेरे प्रिय भक्तका ही न? अपने प्रीतिपात्रका किया हुआ दोष भी तो अच्छा लगता है—

अन्यमुखे दुर्वादो यः प्रियवदने स एव परिहासः।
इतरेन्धनजन्मा यो धूमः सोऽगुरुभवो धूपः॥

'जो वचन दूसरेके मुखसे कटु लगते हैं वही वचन अपने प्रियके मुखसे निकलनेपर परिहाससूचक होकर प्रीतिजनक हो जाते हैं। और काष्ठोंके ईंधनसे निकला हुआ धुआँ कहलाता है, जिससे सब घबराते हैं; किन्तु 'अगरु' से निकला हुआ धुआँ 'धूप' है, जो सबको प्रिय लगता है।'

जिसपर अपने हृदयकी स्वाभाविक प्रीति हो जाती है फिर उसमें एक ही नहीं, चाहे अनेक ही दोष क्यों न हों—वह अच्छा ही लगता है। उसके दोष भी प्रिय लगने लगते हैं—

कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः।
अनेकदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः॥

'जो प्रिय है वह चाहे कितने भी दोष करे, प्रिय ही रहता है। अपने शरीरमें अनेक रोग-दोष लगे रहते हैं; परन्तु कहिये, वह किसको प्रिय नहीं लगता?'

भगवान् श्रीरामचन्द्रको अपने शरणागत भक्तोंपर इतना प्रेम है कि अपना जीवन भी आप उनके अधीन मानते हैं। आप कहते हैं—'अप्यहं जीवितं जह्याम्।' 'जह्याम्'—इस सम्भावनार्थक 'लिङ्' से आप ध्वनित करते हैं कि 'यह सम्भव हो सकता है कि मैं अपना जीवन छोड़ दूँ'; परन्तु शरणागत भक्तका त्याग कर दूँ, यह सम्भव नहीं। जिन भक्तोंपर भगवान्‌का इतना वात्सल्य है, इतना स्नेह है, वे एक दोष क्या, अनन्त दोष होने-पर भी क्या कभी त्याज्य हो सकते हैं? जिसपर हमारा ऐसा प्रेम है कि बिना उसके जीना भी कठिन है, भला उसके दोष देखे जाते हैं? हमने तो देखा है कि वह अनेक दोष करता है और हम सब सहते हैं। उसपर भी विशेष यह है कि वह यदि अभिमानसे रूठ भी जाता है तो हमीं उसे मनाने बैठते हैं और हजार खुशामद करते हैं—

यं जीव्यते विना नोऽनुनीयते स हि कृतापराधोऽपि।
प्राप्तेऽपि भवनदाहे वद कस्य न वल्लभो वह्निः॥

'जिसके बिना जीवन दुर्लभ होता है वह अपराध करनेपर भी रूठा हुआ मनाया जाता है। अपने घरका सर्वस्व जला देनेपर भी अग्नि किसको प्रिय नहीं ?' उसने हमारी सब प्राणप्रिय चीजें जला दी हैं तो क्या हम यह कह सकते हैं कि अब अग्निका कभी नाम भी न लेंगे। नहीं-नहीं, उसी दिन पेट भरनेके लिये जिस समय चूल्हा जलाने बैठते हैं, अग्नि नखरे करती है, बुझती है और हम सौ खुशामद करके उसे जलाते हैं। बात यह है कि 'दुधारू गायकी दो लात भी सहनी पड़ती है।' फिर, भला, जिससे हार्दिक प्रीति हो गयी और प्रीति भी कैसी कि जिसके बिना जीनातक मुश्किल हो जाता है, क्या उसीको दोषके कारण छोड़ा जा सकता है ? नहीं-नहीं, मैं तो कहूँगा कि उसके दोष उससे भी बढ़कर प्यारे लगते हैं। बिहारी कहते हैं—'त्यौं त्यौं अति मीठी लगति, ज्यौं ज्यौं ढीठ्यौ देइ'—वह ज्यों-ज्यों ढिठाई करती है वैसे-वैसे और भी अधिक प्रिय लगती है। इसी आशयसे भगवान् श्रीरामचन्द्र आज्ञा करते हैं—'दोषो यद्यपि स्यात्, परं तस्य!' —दोष यद्यपि हो तो भी वह 'तस्य' उसका है, मुझे वह भी प्रिय लगता है।

अथवा—'स्यात्' यहाँ प्रार्थना-अर्थमें 'लिङ्' है। 'यद्यपि तस्य दोषः अस्ति, परं स्यात्! स दोषः अस्माभिः प्रार्थितः।' वह दोष रहे, यह हम चाहते हैं। 'तुष्यतु दुर्जनन्यायेन' हम मान लेते हैं और निश्चय भी कर लेते हैं कि उसमें दोष है; परन्तु हम चलाकर ही चाहते हैं कि वह दोष उसमें हो। दीनोद्धारक श्रीरामचन्द्र आज्ञा करते हैं कि वह दोष मेरे लिये कार्यसिद्धिकारक है।

शरणागत यदि गुणवान् हुआ और उस गुणवान्‌की रक्षा की तो, यह तो ठीक ही है। इसमें कौन-सी बड़ी बात हुई। मैं ही क्या, गुणवान्‌का सभी आदर करते हैं। गुण ग्रहण करके यदि उसे शरण दी तो, यह तो बदला हो गया—गुणके मोलमें शरण देना हुआ। बाट, तराजू बगलमें लिये जो देवता बैठे हैं और अच्छे कामोंको तराजूमें तोलकर उनके बदलेमें जो सुख दिया करते हैं, रक्षा किया करते हैं, उनमें और भगवान्‌में फिर क्या अन्तर रहा? पुण्यका सिक्का परखकर एवजमें रक्षा करनेवाले तो गंडों देवता भरे पड़े हैं। सिक्का परखकर रक्षा करनेवाले तो, देवता ही क्या, मनुष्य भी बहुत होंगे। 'शुक्लाम्बरधरम्' (रुपये) की शक्ति तो सब विघ्नोंकी शान्तिके लिये प्रसिद्ध है? उसे देखकर तो पुलिस पुरुषोत्तम भी डंडा लेकर आगे हो जाते हैं। सुकृतिके बदलेमें किसीको आश्रय देना, उसका भला करना तो एक तरह-का व्यापार है। उसमें क्या अहसान हुआ और क्या नामवरी हुई? महत्त्व इसीमें है कि जिस पुरुषमें कोई भी गुण नहीं; बल्कि दोष भरे हों, ऐसा वह दीन शरणमें आये और उसकी रक्षा की जाय। तुलसीदासजी कहते हैं—

> भूमिपाल, ब्योमपाल, नाकपाल, लोकपाल,
> कारन कृपालु, मैं सबैके जीकी थाह ली।
> कादरको आदर काहूके नाहिं देखियत,
> सबनि सुहात है सेवा-सुजान[1] टाहली॥

---

[1] सेवामें चतुर, टाहली (टहल करनेवाला)

'तुलसी' सुभाय कहै, नाहीं कछु पच्छपात,
कौनें ईस किये कीस-भालु खास[1] माहली।
रामहीके द्वारेपै बुलाइ सनमानियत,
मोसे दीन दूबरे कुपूत कूर काहली॥

दोषोंके कारण सब जगहसे जो निराश हो गया है, सब देवताओंने जिसे जवाब दे दिया है, उस निराश्रयकी रक्षा करना ही तो रक्षा करना है। पुण्यका पाथेय बगलमें बँधा रहनेपर तो सब जगह सुख अपने आप ही मिल जायगा। भारी गठरी होनेपर तो बैठना सब जगह मिलता ही है। अमीरपरवर (बड़े आदमियोंके रक्षक) की तो कोई-सा ही तारीफ करता होगा, परन्तु ग़रीबपरवरकी प्रशंसा प्रत्येक पुरुष करेगा। अजी, जिस धनवान्‌के साथ दस आदमी सँभाल करनेवाले चल सकते हैं उसकी आपने मदद की तो इसमें कौन बड़ी बात हुई? लोग यही जानेंगे कि आप उसकी खुशामद करते हैं—यह चाहते हैं कि आगे चलकर इससे आपको अधिकाधिक फायदा हो। किन्तु रास्ता चलनेवाले निराश्रय दीनकी जिस समय आप रक्षा करते हैं, लोग आपकी उदारताका हृदयसे सम्मान करते हैं। इसीलिये दीनदयालु होना तारीफ़की बात है, धनाढ्यदयालु तो स्वार्थके लिये हर एक हो जायगा। भगवान्‌की शरण्यता भी इसीलिये सबसे बढ़कर है कि आपके यहाँ दीनातिदीन, हीनातिहीन भी आश्रय पाता है। भक्त भगवान्‌को उलहना देता है—

मोसो गरीब निवाजत नाहिं तो काहे गरीबनिवाज कहावत।

---

१ खास महलके रक्षक।

बीमारीमें उलझे हुए रोगीके लक्षणोंको देखकर जिस समय वैद्य किनारा कर गये हों, अच्छे-अच्छे डाक्टरोंने जवाब दे दिया हो, सिविलसर्जनतकने भी जिसे 'असाध्य' बता दिया हो, उसी रोगीको जिस समय वैद्यराज अच्छा कर देते हैं उस समय तमाम शहर ही क्या, प्रान्तभरमें हल्ला मच जाता है। वैद्यराजकी जगह-जगह तारीफ़ होने लगती है। समझदार भी उन्हें धन्य-धन्य कह उठते हैं। यों तो जुकाममें सोंठ, मिर्च, पीपलकी व्योषादिवटी देनेवाले वैद्यमार्तण्ड इस ज़मानेमें कहाँ नहीं मिलेंगे? इसी तरह शरण देनेवाले 'शरण्य' की भी प्रशंसा इसीमें है कि चाहे जैसा हीन, दोषी, देवताओंसे तिरस्कृत चला आये, वह उसे छातीसे लगा ले, उसे सङ्कटसे बचा ले। अच्छे-अच्छे पुण्यवानोंको, बड़े-बड़े तपस्वियोंको, आजन्म ब्रह्मचारियोंको ही यदि अवलम्बन मिला हो तो वह 'शरण्य' के लिये गौरवकी बात नहीं। हीन-से-हीन, दीनातिदीन, अपाहिज, विकल, देवताओंसे ठुकराये हुए भी जहाँ रक्षा पाते हों वही 'शरण्य' का दरवाज़ा वन्दनीय है। भगवान्‌के विरुद्ध और स्तुतिसूचक विशेषण अनन्त हैं; परन्तु भगवान्‌से भक्त कहते हैं कि आपमें सबसे महत्त्वकी बात यही है कि आप 'अधमउधारण' हो, 'दीनदयालु' हो। परमहंस, मुनि, योगी आपसे मुक्ति पाते हैं, पाते होंगे। जो इस काष्ठातक पहुँचा हो वही इसकी खबर रक्खे। हम तो हीन और अधम हैं। हमें तो आपकी अधमोद्धारकतासे मतलब है—

जडानन्धान् पङ्गून् प्रकृतिबधिरानुक्तिविकलान्
ग्रहग्रस्तानस्ताखिलदुरितनिस्तारसरणीन्।

निलिम्पैर्निर्मुक्तानपि च निरयान्तर्निपततो
नरानम्ब त्रातुं त्वमिह परमं भेषजमसि ॥

'मूर्ख, अन्धे, लूले, जन्मसे ही वधिर, गूँगे, ग्रहोंकी जिनपर फटकार पड़ी हो, ऐसे पतित कि जिनके पाप दूर होनेके रास्ते ही बन्द हो चुके हों, देवताओंने जिन्हें छोड़ दिया हो, नरकमें जिनका पड़ना निश्चित हो, ऐसे मनुष्योंकी भी रक्षा करनेके लिये हे गङ्गे ! आप ही एक अद्भुत ओषधि हो ।'

करुणावतार भगवान् श्रीरामचन्द्रकी दीनोद्धारकता अद्वितीय है । उसकी तुलनाका विचार करना भी असम्भव है । जिनसे अधम कोई हो नहीं सकता, सब प्रकारसे जो हीन थे, उन्हें भी आपने शरण दी है और वह गति दी है जो बड़े-बड़े महात्माओंतकको न मिली । गोस्वामीजी कहते हैं—

गनिका, गज, गीध, अजामिलके गनि पातकपुंज सिराहिं न जू ।
लियें वारक नाम सुधाम दियो जिहिं धाम महामुनि जाहिं न जू ॥

दयालु श्रीरामके यहाँ प्राणिमात्रके लिये अभयदानका दरवाजा खुला है; कोई क्यों न आये, आप उसे शरणमें ले लेते हैं । किसी तरहकी भी कैद नहीं, रोक-टोक नहीं । 'सकृदेव प्रपन्नाय'—जो एक बार भी अपनी तरफ आ जाता है, उसे 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि'—यावन्मात्र प्राणियोंसे अभय दे देते हैं । भला, इससे बढ़कर कोई अधमोद्धारकता होगी ? बात यह है कि शरणागत होनेपर भगवान् उस शरणार्थीके गुण-अवगुणपर दृष्टि ही नहीं देते । वे तो अपने 'व्रत' का विचार करते हैं; प्राणिमात्रको

अभय देनेकी जो आपने प्रतिज्ञा की है, उसपर दृष्टि देते हैं; दीनोद्धारकताकी जो दीक्षा ली है उसीकी तरफ जाते हैं। जो दीन हो चुका, भला, उसके अब दोष कुरेदे जायँगे? गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

वेद न पुरान गान, जान्यो न बिग्यान ग्यान,
ध्यान धारना समाधि साधन-प्रवीनता।
नाहिन बिराग-जोग, जाग भाग तुलसीके,
दया दीन-दूबरों हों, पापहीकी पीनता॥
लोभ-मोह-काम-कोह-दोषकोष मोसो कौन,
कलिहू जो सीख लई मेरियै मलीनता।
एक ही भरोसो, राम! रावरो कहावत हों,
रावरे दयालु दीनबन्धु मेरी दीनता॥

करुणावरुणालय भगवान् श्रीरामचन्द्रकी जब यह दीनदयालुता, अधमोद्धारकता, अशरणशरण्यता त्रिभुवनमें प्रसिद्ध हो चुकी है तो, भला, अब उसमें अकीर्तिका कलङ्क लगाया जा सकेगा? निराश्रय, दीन बेचारे शरणागतके दोष-गुणोंकी पूछ-ताछ करके त्रिलोकविख्यात उसी कीर्तिकौमुदीमें कलङ्ककालिमा जोड़ी जा सकेगी? नहीं-नहीं, आपकी दीनोद्धारकता सदा यों ही अक्षुण्ण बनी रहेगी। त्रिलोकीको शरण देनेवाले आपकी कीर्ति इसीमें है कि आप 'शरण' शब्दको सुनते ही चाहे जैसा दोषी हो, उसे भी अङ्गीकार कर लेते हैं। निर्दोषको शरण देनेमें सर्वसाधारणकी दृष्टिमें गुण जरूर है, परन्तु बड़ा मन्द; किन्तु दोषीको भी अङ्गीकार

करनेमें बड़ा भारी यश है तथा शरणागतरक्षणरूपी जो व्रत आपने ले रक्खा है उसको उत्तेजना मिलती है। इसीलिये भगवान् श्रीरामचन्द्र आज्ञा करते हैं—'यद्यपि तस्य दोषोऽस्ति, परं स स्यात्।' 'मान भी लिया जाय कि उसमें दोष है; परन्तु वह रहे, यह मैं चाहता हूँ।' वह दोष मेरेलिये चलाके चाहा हुआ है।

ठीक है, दोषीको भी अङ्गीकार करना आपकी दीनदयालुता-के तो अनुकूल ही है; परन्तु दयावश होकर दुष्टको शिष्टका-सा आदर देना कहीं शिष्टसम्प्रदायमें अनुचित न गिना जाय? दूसरे, आपके ही मन्त्रीलोग इसको शरण देना उचित नहीं समझ रहे हैं; ऐसी हालतमें सम्भव है कि न्यायके परखनेवाले लोगोंमें आपकी निन्दा हो, अतएव आगे कहते हैं—'सतामेतदगर्हितम्'। 'एतत्'—यह आश्रितके दोषोंको अङ्गीकार करना 'सताम् अगर्हितम्'—सज्जनोंसे अनिन्दित है। 'स्नेहः पापशङ्की'—स्नेह बुरी शङ्का किया ही करता है—इसके अनुसार मेरे पक्षपातीलोग मुझमें स्वाभाविक स्नेह होनेके कारण, 'यह सदोष है, अतएव आगे जाकर हमारा कोई अत्यहित न कर बैठे', इस डरसे इसे अङ्गीकार करना अनुचित समझते हों, अस्थानमें भी भयकी शङ्का करनेवाले, निर्मल दिव्य फर्शपर भी अत्यधिक होशियारीके कारण फूँक-फूँककर पैर रखनेवाले सङ्कुचित नीत्यभिमानी भी चाहे इसे बुरा मानते हों; परन्तु परमार्थदर्शी, उदार, महामना सज्जन इसपर कभी निन्दाकी टिप्पणी नहीं कर सकते। क्योंकि यहाँ शरणधर्म यही कहता है। तिर्यग्योनि पक्षी कपोततक भी अपनी स्त्रीको हरनेवाले स्वाभाविक वैरी बहेलिये (व्याध) को भी शरणार्थी होनेके कारण त्याग

नहीं करता। केवल उसको आश्रय ही दिया हो सो नहीं, अपने शरीरके मांससे उसकी रक्षातक की। जब धर्म यह है, तब धर्मकी रक्षाका बाना लिये हुए हमीं लोग शरण आयेको दोषकी शङ्कामात्रसे छिटका देंगे? नहीं। अतएव यहाँ कहते हैं—'सताम् एतत् अगर्हितम्।' मेरे पक्षपाती चाहे कुछ ही कहा करें, परन्तु 'सताम्' परमार्थदर्शी लोगोंकी दृष्टिमें यह 'अगर्हितम्' निन्दित नहीं है।

अच्छी बात है। थोड़ी देरके लिये यह भी स्वीकार कर लिया जाता है कि यह दोषी है, तो भी शरणागत होनेके कारण इसको अङ्गीकार कर लेना चाहिये; परन्तु इससे कौन-सी प्रयोजनसिद्धि होगी? 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'—बिना किसी प्रयोजनके मूर्ख भी किसी काममें प्रवृत्त नहीं होता। प्रत्येक काममें फलका अनुसन्धान करके ही हम आगे बढ़ा करते हैं। हमारे कार्योंमेंसे कई कार्य तो ऐसे हैं जिनसे त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की सिद्धि होती है। कितने ही कार्योंका फल होता है पापक्षय। तीर्थादिका सेवन करना, व्रत पालन करना, प्रायश्चित्तादि करना—ऐसे-ऐसे कार्योंका फल यह है कि हमारे पापोंकी निवृत्ति हो जाय। कई कार्य ऐसे भी होते हैं जिन्हें किसी फलविशेषके अनुसन्धानसे नहीं किया जाता, परन्तु उनको न करनेसे प्रत्यवाय जरूर लगता है। 'सन्ध्या' करनेसे फलविशेषकी प्राप्ति नहीं होती; परन्तु द्विजाति यदि 'सन्ध्यावन्दन' न करे तो पाप अवश्य लगेगा। क्योंकि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिये आवश्यक कर्तव्य है। इस तरह इस फलविभागको दृष्टिमें रखते हुए यहाँ विचार कीजिये

कि वैरिपक्षसे आये हुए दोषी इस शरणार्थीके स्वीकार करनेसे हमको कौन-सा फल होगा ? इसपर उदारहृदय, त्रिलोकैकमनस्वी, आदर्श पुरुष भगवान् श्रीरामचन्द्र आज्ञा करते हैं—'सतामेतदगर्हितम्'—सज्जनोंकी गोष्ठीमें हमारी निन्दा न हो, यही इसका फल है ।

अपना घोर अपकार करनेवाले, स्त्रीका हरण करके मर्मान्तक कष्ट पहुँचानेवाले, सहजशत्रु व्याधके भी मुखसे जिस समय 'शरण' यह शब्द सुन लेता है उस समय तिर्यग्योनि कपोततक भी उसकी रक्षा करता है । और तो क्या, अपने शरीरके मांससे उसको तृप्ततक करता है; परन्तु 'मर्यादानां च लोकस्य कर्ता कारयिता च सः'—वह रामचन्द्र लोककी मर्यादा स्थापन करने और करानेवाले हैं—यों प्रख्यातकीर्ति रघुकुलोत्पन्न रामचन्द्रने हाय-हाय ! बड़ी आशासे आये हुए शरणार्थीको दोषकी शङ्कासे विमुख लौटा दिया, यों विचारशीलोंकी गोष्ठीमें मेरी स्पष्ट निन्दा होगी । मेरे कुछ कार्योंको देखकर लोग मेरी प्रशंसा करेंगे, आदर्श पुरुष कहकर गौरव देंगे; परन्तु ऐसे-ऐसे कार्योंपर विवेकी लोग जरूर नाक-भौं सिकोड़ेंगे ।

जिन रघुवंशी राजाओंके दरवाजेसे याचक कभी वापस नहीं लौटा—

> किं त्वर्थिनामर्थितदानदीक्षा-
> कृतव्रतश्लाघ्यमिदं कुलं नः ।

'हमारे कुलकी यही श्लाघा है कि इस कुलने याचकोंके मनोरथ पूर्ण कर देनेका दीक्षाव्रत लिया है' यह जिनको अभिमान

है, जिन रघुवंशियोंके समीप कैसी ही कठिन, दुष्पूर कामना लेकर चाहे याचक क्यों न आया हो, परन्तु उस कामनाके लिये तो उसे कभी दूसरा दरवाजा नहीं देखना पड़ा। मेरे समीप आकर भी याचक 'वदान्यान्तरं गतः'—दूसरे दानीके पास गया, यह 'परीवादनवावतारः'—मेरे लिये अभूतपूर्व घोर अपवाद है, यह जिनका बाना था, उन्हीं रघुवंशियोंके कुलमें उत्पन्न हुए रामके दरवाजेसे याचक ही क्या, 'राघवं शरणं गतः'—मैं राघवके शरण आया हूँ—यों आर्तनाद करनेवाला शरणार्थीतक पराङ्मुख लौट गया, यह मेरी निन्दा न हो, यही इस कार्यका फल है। अतएव श्रीरामचन्द्र कहते हैं—'सतामेतदगर्हितम्'—'एतत्' यह कार्य (शरणागतका स्वीकरण) 'सताम् अगर्हितम्'—सज्जनोंसे गर्हणीय न होगा। अतएव मैं इस निन्दासे बच जाऊँगा।

अथवा दोषीका संग्रह करना शिष्टोंसे निन्दित है तथा शास्त्रोंमें भी दोषीका सम्बन्ध निषिद्ध बताया है, अतएव शास्त्र-विरुद्ध होनेके कारण इसका अङ्गीकार करना ठीक नहीं, इस शङ्काके उत्तरमें आप आज्ञा करते हैं—'सतामेतदगर्हितम्'—सामान्यविशेषशास्त्रविदां सताम् एतत् अगर्हितम्—साधारण विद्वान् चाहे इसे बुरा कह उठे, परन्तु सामान्य और विशेष शास्त्रोंकी व्यवस्था जाननेवाले सज्जनोंकी दृष्टिमें यह अगर्हित है।

अर्थात् 'दुष्टका परित्याग करना' यह सामान्य शास्त्र है; किन्तु 'शरणागत चाहे दुष्ट भी हो, परन्तु उसे पीछा न लौटावे'—यह विशेष शास्त्र है। क्योंकि वेदमें कहा है—'तस्मादपि वध्यं

प्रपन्नं न प्रतिप्रयच्छन्ति'—प्राणदण्डके भी योग्य दोषी हो और वह 'प्रपन्न' शरणागत हो जाय तो उसे पराङ्मुख नहीं लौटाते हैं। अतएव इस विशेष वचनके कारण दोषीका भी संग्रह गर्हणीय नहीं हो सकता। क्योंकि सामान्यकी अपेक्षा विशेष शास्त्र बलवान् हुआ करता है। जैसे, 'सत्यं ब्रूयान्न चानृतम्'—सत्य बोले, झूठ कभी न बोले—इत्यादि वचनोंसे सत्य बोलना सामान्यतया शास्त्रविहित है और झूठ बोलना निषिद्ध। परन्तु जहाँ निर्दोष प्राणीका अहित होता हो वहाँ झूठ बोलना निन्दित नहीं। झूठ बोलना निषिद्ध अवश्य है, परन्तु इस विशेष प्रसङ्गपर वह बुरा नहीं गिना जाता। इसलिये भगवान् श्रीरामचन्द्र भक्त विभीषणके स्वीकारमें शास्त्रविरोधका भी परिहार करते हुए कहते हैं—'सतामेतदगर्हितम्'—विशेषज्ञ विद्वानोंके लिये यह गर्हणीय नहीं, किन्तु प्रशंसनीय है।

भगवान् 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' हैं; परन्तु भगवान्‌की भी शक्ति कहीं जवाब दे देती है, आप भी कहीं अशक्त हो जाते हैं। जहाँ आपने 'शरण' यह शब्द सुना कि फिर उसके बोलनेवाले शरणार्थीको त्याग करनेकी शक्ति आपमें नहीं रहती। इसी तरह भगवान्‌के सिवा कोई सर्वज्ञ नहीं। यदि त्रिलोकीमें सर्वज्ञ कोई हो सकता है तो वे भगवान् हैं। परन्तु भगवान्‌का भी ज्ञान कहीं कुण्ठित होता हुआ देखा जाता है। जिस समय शरणार्थी आपके सामने आ जाता है, उस समय दोष किसे कहते हैं और गुण क्या होता है, यह ज्ञान आपके पास नहीं रहता। अतएव सर्वशक्ति भगवान्‌की अशक्ति और सर्वज्ञ

भगवान्का भी अज्ञान इस पद्यमें महर्षि वाल्मीकिने स्पष्ट दिखाया है, जो जगदेकशरण्य भगवान् श्रीरामचन्द्रके लिये और भी माहात्म्यजनक है।

सुग्रीवादिकी पुनः सम्मति

भगवान् श्रीरामचन्द्रने अपना अभिमत तथा धर्मानुसार सामयिक कर्तव्य सुग्रीवादि अपने मन्त्रियोंके सामने अच्छी तरह कह दिया। 'मेरा यह कार्य नीति और धर्मके अनुसार चाहे न भी हो तो भी मेरा स्वभाव ही हो गया है कि मुझसे शरणागतका परित्याग किया ही नहीं जाता, मैं क्या करूँ ?' यों अपने वक्तव्यका सब कुछ सार जब भगवान् श्रीरामचन्द्र कह चुके तब आन्तरिक प्रेमके कारण भगवान्के हितके लिये अत्यन्त व्यग्र सेनानायक सुग्रीव भगवान्के उस वक्तव्यका अनुवादपूर्वक अच्छी तरह आलोचन करने लगे। इसके अनन्तर 'शुभतरं वाक्यमुवाच'—वह वचन बोले जिसकी नीतिमार्गके अनुसार अवश्य प्रशंसा करनी चाहिये। यहाँ 'शुभतरम्' कहकर कंपैरेटिव डिग्रीके द्वारा पहलेकी अपेक्षा प्रशंसनीयतामें कुछ आधिक्य दिखलाया है। अर्थात् सुग्रीवका पहला वचन भी शुभ ही था, किन्तु अबका वचन 'शुभतरम्'—उससे और भी प्रशंसनीय है। सुग्रीवका मत है कि 'विभीषणको नहीं लेना चाहिये;' इसके लिये संग्रह करनेके पक्षका पहले भी उन्होंने विरोध ही किया था, किन्तु इस समय उससे भी प्रबल विरोध आरम्भ करते हैं। वे कहते हैं—'यह कपटी हो या न हो, हमारे सब भेद जानकर हमलोगोंको हानि पहुँचानेका विचार रखता हो

या न रखता हो, किन्तु 'एष रजनीचरः'–यह राक्षस है । जन्मसे ही इसके स्वभावमें क्रूरता भरी हुई है । इससे भलाईकी आशा करना भूलके सिवा कुछ नहीं । वंशगत क्रूरताके विषयमें कदाचित् यह समाधान किया जा सकता है कि 'क्रूर वंशके सभी पुरुष क्रूर हों, यह दृढ़ नियम नहीं । दैत्यकुलहीमें तो प्रह्लाद हुए थे ।' इसलिये दूसरी युक्ति देते हैं—

'इस तरहके कठिन प्राणसंकटको प्राप्त हुए भ्राताको भी जो छोड़ सकता है वह फिर किसका सँगाती होगा ?'

सुग्रीवने पहले वक्तव्यमें यही कहा था कि—'यह समय नाजुक है, परस्पर युद्ध सम्मुख दिखलायी दे रहा है । इस समय शत्रुपक्षके आदमीका भरोसा करना ठीक नहीं । उसपर भी यह शत्रुका खास भाई ही है । अतः यही निश्चित किया जा सकता हैं कि हमारा भेद लेनेके लिये ही यह हमलोगोंमें मिलना चाहता है । दूसरे, राक्षसजाति स्वभावसे ही कपटी और अनेक रूप बनानेवाली होती है । नीतिके अनुसार उसपर विश्वास किया ही कैसे जा सकता है ?' इत्यादि । किन्तु ऐसी-ऐसी युक्तियोंको भगवान् श्रीरामचन्द्रने—'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्'—इस अपने वक्तव्यमें अच्छी तरह काट दिया था । अतएव सुग्रीव अबके प्रबल युक्ति दे रहे हैं कि यह 'कृतघ्न' है । जिस सगे भाईने जन्मसे लेकर अबतक इसका पालन-पोषण किया उसी सगे भाईको यह प्राणसङ्कटमें छोड़कर चला आ रहा है, भला ऐसे कृतघ्नका आप भरोसा करेंगे ? और सब दोषोंके प्रति चाहे आँखोंपर ठीकरी रक्खी

भी जा सकती है, परन्तु 'कृतघ्नता' का दोष तो सामान्य नहीं। धर्मनीति कहती है—'कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः।' आप आज्ञा कर चुके हैं—'मेरा स्वभाव है कि जो मेरी शरण आ जाता है, चाहे उसमें दोष भी हों, मैं उसे नहीं छोड़ सकता,' यह ठीक है। परन्तु इसपर दया करके आपने इसे शरण दी और इसपर उपकार भी किये; किन्तु यह तो सब उपकारोंको मिटा देगा, क्योंकि यह 'कृतघ्न' है। यह तो शरण देनेको भी भूल जायगा, उपकारोंपर भी पानी फेर देगा। ऐसी दशामें इसको शरण देना 'हस्तिस्नान' के समान है। प्राणिमात्रको अभय देनेका जो आपका व्रत है उसे भी तो यह भुला देगा, निष्फल कर देगा। अतएव कृतघ्नताके कारण तो इसका त्याग ही उचित है। यों सुग्रीव प्रबल युक्ति दे रहे हैं, इसी आशयसे श्रीवाल्मीकिजीने भी सुग्रीवके इस कथनकी बारीकीसे प्रशंसा की है कि—'शुभतरं वाक्यमुवाच।'

'शुभतरं वाक्यमुवाच'—अति प्रशंसनीय वाक्य बोले, इस वाक्यकी समाप्तिके अनन्तर भी एक विशेषण देते हैं—'हरिपुङ्गवः।' 'अथ सुग्रीवः तद्वाक्यम् आभाष्य विमृश्य च शुभतरं वाक्यमुवाच'— श्रीरामचन्द्रके वाक्यका अनुवाद और आलोचन करनेके अनन्तर सुग्रीव अति प्रशंसनीय वाक्य बोले—यों यह वाक्य समाप्त हो ही चुका था, फिर वाक्य पूरा हो जानेपर भी केवल एक विशेषण देनेके लिये उसे फिर क्यों बढ़ाया गया? साहित्यवाले यहाँ 'समाप्त-पुनरात्तता' (वाक्य समाप्त हो जानेपर भी विशेषण देनेके लिये उसे फिर लेना) का दोष लगा रहे हैं। नहीं-नहीं, सुनिये—

'हरिपुङ्गवः'–यह निरा विशेषण ही नहीं, इस वाक्यका जीव ही यह पद है ।

उपकारके भारसे सबको अपने आश्रित रखनेवाले, सर्व सेनाके प्रधान परिचालक भगवान् श्रीरामचन्द्र जब विभीषणके स्वीकारमें अपनी अनुमति दे चुके थे और अपने दाक्षिण्यके कारण यहाँतक आज्ञा कर चुके थे कि 'चाहे कैसा भी अत्याहित हो, मैं इसे नहीं छोड़ सकूँगा । क्योंकि शरणागतका आना सुनते ही उससे मिलनेके लिये मैं विकल हो जाता हूँ, फिर विलम्ब करनेकी शक्ति मुझमें नहीं रहती, यह मेरा स्वभाव ही है ।' तब, भला, सर्वप्रधान नायककी इतनी आग्रहपूर्ण आज्ञाके पालनमें हीला-हवाला हो सकता है ? भगवान्‌के वाक्यका अनुवाद और आलोचन ही प्रथम तो अनुचित-सा है, फिर उसके विरोधमें साफ यह कह डालना कि 'यह कृतघ्न है, इसका संग्रह करना ठीक नहीं'—यह साधारण बात नहीं, बड़े माद्देदारका काम है । सर्वप्रधान नायक-की आज्ञा हो जानेके अनन्तर भी उसका पालन न करके उसको समालोचना-चक्रपर चढ़ाना, उसका साफ-साफ विरोध करना, किसी तरह संगत नहीं होता। इसीको उपपन्न करनेके लिये महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—'हरिपुङ्गवः'—वानरोंमें सर्वश्रेष्ठ । लोका-नुग्रहकारी भगवान् श्रीरामचन्द्र वानरोंके अत्यन्त कृतज्ञ हैं । महर्षि उनकी कीर्ति और गौरवको सूचित करते हुए कहते हैं कि 'राघवार्थे पराक्रान्ताः'—जो रामके लिये अपने प्राणोंपर खेलकर लड़े हैं—धर्म-मर्यादा-रक्षक श्रीराघव भी अपनेको उनका आजन्म ऋणी समझते हैं । जब वानरसैन्यमात्रका भगवान्‌के साथ यह सम्बन्ध

है, तब ये तो उनके भी नायक हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। इनका तो कहना ही क्या। हितका अनुसन्धान करके ये जो कुछ कह दें, भगवान् उसका बहुत कुछ मूल्य मानते हैं। इसीलिये ये उसकी आलोचना करनेके अधिकारी भी माने जा सकते हैं। अतएव वाक्यसमाप्ति हो जानेपर भी महर्षि कहते हैं—'हरिपुङ्गवः।'

भगवान् श्रीरामका वक्तव्य

जब सुग्रीव अपना कथन समाप्त कर चुके तब 'काकुत्स्थः' भगवान् श्रीरामचन्द्र 'इति होवाच'—यह बोले। यहाँ महर्षिके अक्षर हैं—

> वानराधिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा सर्वानुदीक्ष्य तु।
> ईषदुत्स्मयमानस्तु लक्ष्मणं पुण्यलक्षणम्॥

—'इति होवाच।' 'वानराधिपतिके वाक्यको सुनकर, सब वानरोंकी तरफ देखकर और लक्ष्मणकी तरफ मन्द-मन्द मुसकुराते हुए आप लक्ष्मणसे यह बोले'—सब टीकाकारोंने यही अर्थ किया है। मन्द हास्य करनेका तात्पर्य यह है कि आप लक्ष्मणको सूचित करते हैं कि सुग्रीवने मेरे कथनका तात्पर्य नहीं समझा। यहाँ सबसे पहले शङ्का यह उठती है कि 'बात सुग्रीवने कही थी, किन्तु उसका उत्तर लक्ष्मणको देते हैं। क्यों? क्या श्रीरामचन्द्र सुग्रीवकी टीका-टिप्पणियोंसे नाराज हो गये थे जो उससे बाततक करना पसन्द नहीं करते, अतएव उसकी बातका उत्तर उससे मुख फेरकर लक्ष्मणको देते हैं? अथवा सुग्रीवके धैर्यपर ही श्रीरामचन्द्र-को भरोसा न था कि कदाचित् यह मेरे जवाबसे नाराज न हो

जाय ? अतएव ऐसे तुनकमिज़ाजसे बात न करके उसे जो कुछ कहना है आप लक्ष्मणसे ही कह देते हैं।' नहीं, नहीं, इसका तात्पर्य गूढ़ है। सुनिये—

इस शरणागति-प्रकरणमें—'शरणागतिरहस्य' का उपदेश करनेके लिये सुग्रीव और लक्ष्मण—इन दोनोंको ही भगवान् अधिकारी मानते हैं। गीतामें शरणागतितत्त्वोपदेशके अधिकारी जिस तरह अर्जुन हुए हैं, उसी तरह यहाँ इस शरणागतिरहस्यको समझानेके लिये भगवान्‌ने श्रीलक्ष्मण और सुग्रीवको ही द्वार बनाया है। दोनोंने ही सबपरसे भरोसा हटाकर भगवान् श्रीरामचन्द्रपर ही अपना अटल विश्वास और एकान्त अनुराग स्थापन किया है। भगवान्‌ने भी उनके एकान्त अनुरागके अनुसार उन्हें अपनी पूर्ण प्रीति और अपना विश्वास, और तो क्या, अपना सब कुछ दे रक्खा है। जब वे इस तरहके एकान्त भक्त हैं, तभी तो शरणागति-रहस्य समझनेके अधिकारी माने गये हैं और इस प्रकरणके प्रधान पात्र समझे गये हैं। बाजीगर तमाशा करते समय जिस तरह उस कौतुकसमाजका एक प्रमुख चुन लेता है जिसे 'जमूरा' कहते हैं और उससे बातचीत करते रहनेपर भी सब दर्शकोंको समझा देना उसका तात्पर्य रहता है, उसी तरह गीतामें 'अर्जुन' और इस प्रकरणमें सुग्रीव और लक्ष्मण हैं। इसीलिये तो इस सर्गके १६ वें श्लोकमें महर्षि कहते हैं—

एवमुक्तस्तु रामेण सुग्रीवः सहलक्ष्मणः।
उत्थायेदं महाप्राज्ञः प्रणतो वाक्यमब्रवीत्॥

'इस तरह कहनेपर महाप्राज्ञ सुग्रीव श्रीलक्ष्मणके साथ उठ खड़े हुए और प्रणाम करके वाक्य बोले ।'

जब शरणागति-प्रकरणके दोनों ही अधिकारी हैं तब दोनों-हीका अभिमुखीकरण, दोनोंहीका मनस्तोष भगवान्‌को अभीष्ट है । अबतकके प्रकरणमें सुग्रीवसे ही बातचीत होती आ रही है । सुग्रीवने ही विभीषणका आगमन सूचित किया और साथ ही युक्ति देकर उसके स्वीकारका विरोध भी किया था । उस विरोधका भगवान्‌ने 'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्' से यथावत् उत्तर भी दे दिया । यों सुग्रीवसे तो शरणागतिविषयमें प्रत्यक्ष बातचीत हो रही है । किन्तु श्रीमान् सौमित्रेय यह सब चरित्र देख रहे हैं, सुन रहे हैं । श्रीरामचन्द्रकी इस शरणागतवत्सलतासे भगवान्‌के प्रति जो उनका प्रेम और श्रद्धाभाव है वह और भी उद्वेल्लित हुआ जा रहा है । श्रीरामचन्द्र भी लक्ष्मणके इस समयके हृदयभावको नहीं जान रहे हों, सो नहीं । वे भी अच्छी तरह समझ रहे हैं कि लक्ष्मण ऊपरसे तटस्थ-से होते हुए भी हृदयके द्वारा इस कार्यमें पूर्ण संलग्न हैं और बहुत सम्भव है कि लक्ष्मण सुग्रीवकी सम्मतिसे सम्मति भी रखते हों । अतएव 'मैं तुम्हारे हृदयभावको जान गया हूँ । तुम भी यदि सुग्रीवके साथ सहमत होते हो तो तुम्हारा भी यह भ्रम है'—इस बातको दाक्षिण्यसे सूचित करनेके लिये मुसकुराते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र सुग्रीवकी बातका उत्तर श्रीलक्ष्मणकी तरफ अभिमुख होकर देते हैं । अतएव महर्षिने यहाँ कहा है—

'वानराधिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा, सर्वानुदीक्ष्य, ईषदुत्स्मयमानः लक्ष्मणम्

इति होवाच'—सुग्रीवको बात सुनकर आपने सबकी तरफ देखा और कुछ हँसते हुए आप लक्ष्मणके प्रति यह बोले।

सबकी तरफ देखनेका यह तात्पर्य है कि आप सबको यह सूचित कर रहे हैं कि 'देखो, मैंने कितने विशदरूपमें अपने हृदयका तात्पर्य सुग्रीवको समझाया था; परन्तु वे अभीतक नहीं समझ पाये हैं, यह तुम भी देख लेना।' अथवा—'लक्ष्मणं प्रति ईषदुत्स्मयमानः, सर्वानुदीक्ष्य इति होवाच'—लक्ष्मणके प्रति मन्द हास्यसे उनका भ्रम सूचित करते हुए सबकी तरफ देखकर अर्थात् सब वानरोंको ही लक्ष्य करके यह बोले।

किंवा—'सर्वानुदीक्ष्य'—सबकी तरफ देखकर आप सबको सुग्रीवका गौरव दिखाते हैं कि 'देखो, जिस पक्षको (विभीषणके स्वीकारको) मैं अपनी तरफ़से निश्चित कर चुकता हूँ उसपर सुग्रीव फिर भी दलील कर सकते हैं, दूसरा पक्ष फिर भी उठा सकते हैं; यह इन्हींका सामर्थ्य है' यों सब वानर वीरोंको सुग्रीवका सामर्थ्य अथवा उनपर अपने अनुग्रहातिशयका अनुभव कराते हैं। अतएव महर्षिने यहाँ कहा है—'सर्वानुदीक्ष्य'—सबोंकी तरफ देखकर (श्रीरामचन्द्र बोले)।

सुग्रीवको अपने मतखण्डनसे उदासी न हो, इसलिये उसकी प्रशंसा करते हुए आप कहते हैं कि जो कुछ सुग्रीवने कहा है वह नीति और अनुभवकी बात है। शास्त्र पढ़े बिना और अनुभवी पुरुषोंकी सेवा किये बिना इसका ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु विभीषणका विषय अत्यन्त विचारगम्य है। साधारण लोकोंमें,

विशेषतः राजाओंमें, इस तरहके दृष्टान्त प्रत्यक्ष देखे भी जाते हैं। अतएव जो कुछ मुझे अपनी बुद्धिसे सूझ पड़ा है, वही कहता हूँ—

'राजनीतिके अनुसार शत्रु दो प्रकारके होते हैं—एक अपने वंश या ज्ञातिके, दूसरे अपने पड़ोसी (अर्थात् अपने समीपवर्ती देशोंके राजा) जिनसे अर्थविषयक प्रसङ्ग पड़ जानेपर वैर बँध गया हो। ये दोनों ही अपने वैरीपर दुःख आया हुआ देखकर 'यही अवसर उचित है'—इस अभिसन्धिसे प्रायः प्रहार किया करते हैं। इसने यहाँ कहलाया है कि 'दुष्कार्योंमें प्रवृत्त भाईको मैंने बहुत समझाया, परन्तु उसके बदलेमें उसने मेरा अपमान किया और मारनेको तैयार हो गया।' इससे यह प्रतीत होता है कि वंशजात शत्रुके प्रहारके भयसे यह यहाँ आया है। भाईके साथ यदि इसका विरोध न रहता तब तो यह भी शङ्का की जा सकती थी कि यह भाईके लिये यहाँकी खबर लेने और हमसे दगा करनेको आया है; परन्तु जब उसने ही इसे चलाकर निकाल दिया है तब इसपर कृतघ्नतादि कोई दोष साबित नहीं होते। साधारण लोगोंमें भाई-बन्धुओंका व्यवहार चाहे अच्छा समझा जाय, परन्तु राजाओंमें निर्दोष भी भाई-बन्धुओंसे भयकी शङ्का ही रहती है; क्योंकि राज्यके लोभसे परस्पर विश्वासभङ्ग प्रायः होता देखा गया है। यहाँ तो विभीषण भाईको नाराज करके आ रहा है, अतएव इसको रावणके प्रहारकी पूर्ण आशंका है।'

दूसरे, मेरी समझसे इसपर कृतघ्नताका दोष भी नहीं ठहरता। शास्त्रमें कहा है—

यो हिंसार्थमभिक्रामन्तं हन्ति, मन्युरेव मन्युं स्पृशति न तस्मिन्दोषः। (आपस्तम्बः)

'जो हिंसाके लिये आक्रमण करनेवालेपर वार करता है उसका दोष नहीं गिना जाता। क्योंकि हिंसाका अपराध हिंसासे टकरा जाता है।'

भ्राताको छोड़कर चले आनेका जो दोष विभीषणपर सुग्रीवने स्थिर किया था उसका श्रीरामचन्द्रने इस तरह समाधान कर दिया। विभीषणके स्वीकारमें सुग्रीवने दूसरी आपत्ति यह की थी कि 'राजनीतिके अनुसार सहायकोटिमें वैरीका संग्रह करना अनुचित है।' इसका भी आप उत्तर देते हैं कि 'हमलोग न तो विभीषणके ज्ञातिकोटि (भाई-बन्धुओंमें) हैं और न पड़ोसी (समीपवर्ती) ही हैं, अतएव हमको इसके राज्यकी लालसा ही नहीं। यों वैरका कारण (स्वार्थ-विद्रोह) ही जब नहीं, तब यह हमारे ऊपर प्रहार करने क्यों आवेगा? प्रत्युत जिस रावणने इसका अपमान किया है उससे बदला लेने, उसका राज्य छीननेके लिये यह हमारी शरण आ सकता है। तब हमलोगोंसे ही अपने स्वार्थकी सिद्धि होनेके कारण यह हमसे ही दगा क्यों करेगा? अतएव मेरी रायमें तो राजनीतिके अनुसार भी विभीषणके स्वीकारमें कोई दोष नहीं।'

महर्षि शरणागति-तत्त्वकी एक बारीकी यहाँ और दिखला गये हैं, उसपर भी जरा दृष्टि डालना होगा। शरणमें आनेके लिये जिस समय विभीषणने अपनी प्रार्थना रामदरबारमें पहुँचवायी उस

समय भगवान्ने अपने सारे परिकरसे, सब सेना-सञ्चालकोंसे, अपनी-अपनी सम्मति पूछी। सब ही 'प्रावाहिक' थे। दूसरी सम्मति देते ही क्या ? सबने अलग-अलग कारण देकर विभीषणके आनेमें रुकावट ही डाली। परन्तु श्रीहनुमान् भक्त थे। भक्तका हृदय भक्तकी वेदना नहीं देख सकता। उसकी तरफ उसका स्वाभाविक झुकाव होता है। दूसरे, भक्त ही भक्तके हृदयको अच्छी तरह परख भी लेता है। अतएव आपने साफ शब्दोंमें प्रार्थना की कि 'मेरी रायसे तो विभीषणको स्वीकार कर लेना चाहिये।' जब श्रीमारुतिने भक्तिको हृदयमें लिये अपनी सम्मति दी तब आपने भी उसका उत्तर भक्तिमार्गको लिये ही 'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्' इत्यादि रूपसे दिया। सुग्रीव भगवान्के भक्त अवश्य हैं, परन्तु राजा हैं। उन्हें पद-पदपर राजनीतिके सङ्कट दिखलायी देते हैं। वे राजनीतिके कारण ही विभीषणके स्वीकारमें विरोध उपस्थित करते हैं कि—'जो अपने भ्राताका ही सँगाती न हुआ वह हमारा ही साथ कैसे निभायेगा ? अतएव ऐसे कृतघ्नका संग्रह मुझे तो कथमपि ठीक नहीं माळूम होता।' यों सुग्रीव जब राजनीतिके अनुसार विरोध कर रहे हैं तब भगवान्ने भी राजनीतिके अनुसार ही उत्तर दिया है।

भगवान् श्रीरामचन्द्र राजनीतिके अनुसार सुग्रीवके विरोधका उत्तर दे तो गये कि—'भाई-बन्धु और पड़ोसी राजा, यही प्रायः शत्रु होते हैं'; किन्तु इस कथनसे एक बड़ा भारी अनर्थ उपस्थित हो गया। सौम्यमूर्ति भ्राता भरतपर भी यह दोष लागू हो पड़ता है। 'महाराज दशरथके मुखसे जब भरतके लिये

अयोध्याका राज्य कैकेयीने माँग लिया तो भरतका उसपर अवश्य अधिकार हो गया। ऐसी दशामें राज्यलोभसे भरत भी आपके साथ विरोध कर सकते हैं। शायद प्रकटरूपमें न कर गुप्तरूपसे आपके साथ दगा करना चाहते होंगे।' इसका समाधान चाहे यह कर दिया जाय कि 'नहीं, भरत तो अपने हृदयसे राज्य नहीं चाहते। भले ही कैकेयी माँगती रही, किन्तु उसमें जब स्वार्थबुद्धि नहीं तब भरत क्यों वैर करेगा?' ठीक है; किन्तु यह शङ्का तो हो सकती है कि 'जब आप यह आज्ञा कर रहे हैं कि राज्यादिके कारण भाई-बन्धु परस्परमें वैरी हो जाते हैं, तब शायद आप भरतके साथ हृदयमें ईर्ष्या रखते होंगे; क्योंकि आपको अयोध्याका राज्य मिल ही चुका था, किन्तु भरतके कारण ही उसमें विघ्न पड़ गया। अतएव भरतपर आपको जलन जरूर होती होगी। आप महागम्भीराशय और राजनीतिके सागर हैं। अतएव उस ईर्ष्याको कदापि प्रकट नहीं होने देते; किन्तु हृदयमें ईर्ष्याका निवास अवश्य होगा, क्योंकि आप राजनीतिमें अपने मुखसे ही यह आज्ञा कर रहे हैं।

दूसरे, भगवान्के इस उत्तरसे स्वयं सुग्रीवपर भी दोषका कुछ छींटा पहुँचता है। आप आज्ञा कर चुके हैं—प्रायः राजा लोग 'व्यसनेषु प्रहर्तारः'—सङ्कट पड़नेपर वार किया करते हैं। तो कहीं सुग्रीव तो ऐसा नहीं कर बैठेंगे। क्योंकि अपने भाई वालीके वध-का कहीं स्मरण हो आये, और सुग्रीव यह देख लें कि रामचन्द्र मुझसे अवश्य प्रबल हैं, जिन्होंने एक बाणसे ही वाली-सदृश लोकातिशायी वीरको परलोक भेज दिया। अतएव इनसे मेरा

मुकाबला यों तो नहीं बैठता, परन्तु जिस समय रावणके साथ घमासान युद्ध छिड़ रहा हो उस समय रामपर सङ्कट आया हुआ देखकर कहीं यह सुग्रीव ही 'व्यसनेषु प्रहर्ता' हो जाय तो ? ऐसे बारीक सन्देहहीसे तो कहीं श्रीराम यह राजनीति नहीं समझा रहे हैं'–यों मेरे स्नेहियोंको ही मेरे कथनसे कहीं हृदयदुःख न पहुँचे, इसीलिये श्रीरामचन्द्र इसके अनन्तर आज्ञा करते हैं—

न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः।
मद्विधा वा पितुः पुत्राः सुहृदो वा भवद्विधाः॥

इसका शब्दार्थ है—'हे तात ! सब भाई भरतके समान नहीं होते और पिताके पुत्र भी सब मेरे समान नहीं होते, और न सब मित्र तुम्हारे समान ही होते हैं।'

और दुनियाके भाइयोंपर जो शङ्का की जा सकती है वह भरतकी छायातकको नहीं छू सकती। जगत्के यावन्मात्र भाइयोंसे भरतकी तुलना नहीं की जा सकती। जो भरत अपने ज्येष्ठ भ्राताको पिताके समान ही नहीं, सदा ईश्वरके समान देखते हैं, भला, उनके विषयमें ज्येष्ठ भ्राताके साथ दगाकी शङ्का की जा सकती है ? जिस समय भरत गुरु, माता और चतुरङ्गिणी सेना आदिको साथ लेकर श्रीरामचन्द्रको वनसे लौटानेके लिये चले उस समयकी उनकी हृदयदशा रामचरित्रको चित्रित करनेवाले सभी कवियोंने अपूर्व लिखी है। चित्रकूटको दूरसे देखते ही उनके अश्रुप्रवाह चलने लगा। वे रथसे उतर पड़े। पाँव-प्यादे चलने

लगे। आहा! इसी भाग्यवान् पर्वतपर श्रीरामचन्द्रके चरणारविन्द विराजते हैं? उन्हें उस पर्वतपर अपूर्व भक्ति और अनुराग हो गया। निषादराज गुहके साथ आप बातचीत करते आ रहे हैं। गुह कह रहे हैं कि—'श्रीरामचन्द्र इन्हीं वृक्षोंकी छायामें, इन्हीं शिलाओंपर विश्राम करते होंगे।' बस—

सखाबचन सुनि बिटपि निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥

भरत और शत्रुघ्न आनन्द और प्रेमके मारे इतने विह्वल हो गये कि उनसे रहा नहीं गया। उन वृक्ष और शिलाओंको प्रणाम करने लगे। गोस्वामीजी कहते हैं—

करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई॥

भरतके उस स्नेह और करुण-दशाको देखकर मृग और पक्षीतक गद्गद हो गये। उस भाव और अलौकिक भक्तिको देखकर देवता और सिद्धगण भी चकित हो गये। वे लोग भरतके लिये धन्य-धन्य कह उठते हैं। वे भरतकी भक्तिको सराहते हुए कहते हैं—

होत न भूतल भाउ भरतको। अचर सचर चर अचर करत को॥

'इस पृथिवीपर यदि भरतका भाव (प्रेम या जन्म) न होता तो जडोंको चेतन और चेतनोंको जड कौन करता?' भरतकी करुण-दशाको देखकर पत्थर भी पिघल गये थे। यह पिघलना चेतनोंका धर्म है, इसे जड पत्थरोंमें कौन लाता? मृग, पक्षी आदि भरतके भावको देखकर खाना-पीना छोड़कर जडवत् खड़े रह जाते हैं। यह चेतनोंमें जडधर्म सिवा भरतके और कौन ला सकता

था ? उन्हीं भ्रातृभक्त भरतपर श्रीरामके साथ वैर करनेकी कहीं शङ्का भी की जा सकती है ?

श्रीरामवियोगसे महाराज दशरथ जिस समय स्वर्ग सिधार गये और भरत दौड़े-दौड़े चलकर जिस समय उस लुटी हुई अयोध्यामें पहुँचे उस समय उन्हें पिताका स्वर्गवास विदित हुआ। भरतका हृदय एकदम धक्कसे बैठ गया। वे अपनी मातासे कहने लगे—'मैंने अपने बुलानेसे यह अनुमान किया था कि महाराज श्रीरामको राजगद्दी देकर आप यज्ञादि करेंगे। इसी कारणसे मैं बड़ी खुशीसे रास्तेको तय कर रहा था—

अभिषेक्ष्यति रामं तु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते।
इत्यहं कृतसङ्कल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम्॥

किन्तु यहाँ सभी विपरीत हो गया। आहा ! श्रीरामचन्द्र धन्य हैं जिन्होंने पिताके अन्तिम समयमें अपने हाथसे सेवा तो की। कहो, 'श्रीरामचन्द्र इस समय कहाँ हैं ?' भरतके मुखसे श्रीरामचन्द्रके विषयमें पहले-पहले यही अक्षर निकलते हैं—

यो मे भ्राता पिता वन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥

'जो श्रीराम मेरे भ्राता हैं, ज्येष्ठ होनेके कारण पिता हैं, सदा हिततत्पर होनेके कारण वन्धु हैं।' भरत कहते हैं—'नहीं नहीं, इस भावनामें अभिमान है। भ्राता, पिता आदिका नाता रखनेपर अपनेमें कुछ गौरवबुद्धि हो जाती है।' इसलिये कहते हैं—'यस्य दासोऽस्मि'—जिनका मैं सेवक हूँ। ठीक है।

तुम तो उनमें स्वामिबुद्धि रखते हो; परन्तु वे यदि तुमको नहीं चाहते हों तो ? इसलिये कहते हैं—'सम्मतः'—नहीं नहीं, मैं उनका 'सम्मत' सेवक हूँ । उन श्रीरामको मेरे आनेकी खबर करा दो । धर्मज्ञ वे रामचन्द्र सर्वदा सबके पूज्य हैं । 'तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम'—मैं उनके चरणोंका आश्रय लूँगा । वही अब मेरे अवलम्बन हैं ।

हिचकिचाती हुई कैकेयीने सब वृत्तान्त जैसे-तैसे कह डाला और अन्तमें कहा—

त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम् ।
त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम् ॥

'अब तुम राजा होओ । तुम धर्मको जाननेवाले हो । जब यहाँ राज्यका रक्षक कोई नहीं तो प्रजापालन अपना धर्म समझकर तुम्हीं राज्यका शासन ग्रहण करो । तुम्हारे लिये ही मैंने यह सब कुछ किया है ।'

यह सुनते ही भरत भूमिपर गिर पड़े । अपनी आत्मापर उनको बड़ी ग्लानि हुई । हाय ! मेरे लिये ही यह सारा अनर्थ हुआ ! अरविन्दलोचन भगवान् श्रीरामचन्द्रको मेरे ही लिये जङ्गल-जङ्गल घूमना पड़ रहा है । मातापर उन्हें अत्यन्त क्रोध हुआ । हाय हाय ! जगत्मात्रपर वात्सल्यकी दृष्टि रखनेवाले श्रीरामचन्द्र आज मेरे ही कारण वनवासी हुए हैं ! उनके धैर्यका बाँध टूट गया । उन्होंने अपनी मातासे कहा—

कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता ।
अङ्गारमुपगुह्य स पिता मे नावबुद्धवान् ॥

'तू इस कुलके लिये कालरात्रि होकर आयी है। हाय! पिताने तुझ-सरीखे अँगारेको आलिङ्गन करके भी नहीं पहचाना।' 'मृत्युमापादितो राजा त्वया मे पापदर्शिनि।'—हे पापिनी! तूने ही महाराजको मृत्यु-मुखमें पहुँचाया है। भरत कहने लगे—'मैं सत्य कहता हूँ, यदि श्रीरामचन्द्रकी तुझमें माताके समान पूज्य-बुद्धि न होती तो तुझ पापिनीको छोड़ते मुझे कोई संकोच नहीं होता'—

न मे विकाङ्क्षा जायेत त्यक्तुं त्वां पापनिश्चयाम्।
यदि रामस्य नावेक्षा त्वयि स्यान्मातृवत् सदा॥

भगवान् रामका ज्यों-ज्यों उन्हें ध्यान आता था त्यों-त्यों भरतका दुःख और क्रोध दूना-दूना बढ़ता जाता था। कैकेयीको माता समझनेमें भी उनको दुःख होता था। कैकेयीका नाम लेकर वे बोले—'हे दुष्टचरित्रा कैकेयी! जिस राज्यके लोभसे तूने यह घोर पाप किया है उस राज्यसे तू भ्रष्ट हो जा! तू धर्मसे हीन है। अपने इस पुत्रको मरा समझकर तू अब रो'—

राज्याद् भ्रंशस्व कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणि।
परित्यक्तासि धर्मेण मां मृतं रुदती भव॥

अस्तु, महाराज दशरथकी और्ध्वदैहिक क्रिया हो चुकनेके बाद कुलगुरु वसिष्ठने भरतसे कहा कि—'महाराज अन्त समयमें तुम्हें ही राजा होनेके लिये कह गये हैं। इसलिये अब इस साकेत-राष्ट्रमण्डलकी पतवार तुम्हीं ग्रहण करो। बिना राजाके राज्य नहीं चल सकता।' आदर्श भ्राता भरतके कानमें ये वचन

तप्ताङ्गार-सदृश मालूम हुए। उनसे न रहा गया। वे बोले—'बड़े दुःखकी बात है कि आप-सरीखे पूज्य और कुशल भी ऐसी बात मुंखसे निकालते हैं। हमारे कुलमें सर्वदा ज्येष्ठको ही राज्य मिलता आया है। श्रीराम हम सबमें ज्येष्ठ भ्राता हैं। वही राजा होंगे। पिताका वचन मिथ्या न हो, इसलिये मैं ही चौदह वर्ष वनमें रहूँगा—

रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च॥

उसी समय भरतने दरबार करके निश्चय कर लिया कि हम सब लोग जायँ और श्रीरामचन्द्रको लिवा लायें, उन्हींका यहाँ राज्याभिषेक किया जाय। बस, सेनाके लिये रास्ता साफ करनेको उसी समय सैकड़ों कारीगर और यन्त्रकारोंको आज्ञा देकर भरत महलमें चले गये। वह रात उनकी बड़ी बेचैनीसे कटी। राजाओं-का नियम है कि एक राजाके न रहनेपर दूसरा कोई-न-कोई राजा बना दिया जाता है। राजसिंहासन कभी सूना नहीं रहता। इस हिसाबसे सब साकेतमण्डल इस समय भरतको राजा मान रहा था। जैसे ही प्रातःकाल हुआ कि सूत, मागध, वन्दीगण नियमानुसार महाराजके जगानेके लिये मङ्गलवाद्य बजाने लगे। वीणाओंके झङ्कारके साथ मङ्गलस्तुति होने लगी।

सुवर्णकोणाभिहतः प्राणदद्यामदुन्दुभिः।

'सोनेकी चोभोंसे बजाया गया प्रातःकालका नकारा चारों तरफ गूँजने लगा।' 'दध्मुः शङ्खांश्च शतशः'—नियमके अनुसार सैकड़ों सेवक शङ्खध्वनि करने लगे। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—

स तूर्यघोषः सुमहान् दिवमापूरयन्निव ।
भरतं शोकसन्तप्तं भूयः शोकैररन्धयत् ॥

'आकाशको पूरित करती हुई उस वाजोंकी ध्वनिने शोक-सन्तप्त भरतको और भी राँध डाला ।' जैसे ही उनकी आँख खुली वे घबराकर उठ खड़े हुए । 'नाहं राजेति चोक्त्वा तं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत्'—मैं राजा नहीं हूँ, कहकर उन वाजोंको बन्द करा दिया और शत्रुघ्नसे बोले—हाय ! हाय ! आज पिता महाराज दशरथकी 'परिभ्रमति राजश्रीर्नौरिवाकर्णिका जले'—यह राजलक्ष्मी बिना केवटकी नाव जिस तरह जलमें मँड़राती है उसी तरह चारों तरफ घूम रही है । 'यो हि नः सुमहान्नाथः सोऽपि प्रव्राजितो वने'—जो हम सबके स्वामी थे उन्हें भी वनमें भेज दिया गया है । हाय ! हाय ! जो देवचरित्र भरत धोखेसे भी अपनेको राजा माने जानेपर इस तरह दुःखी हो पड़ते हैं, उनके लिये, भला, कभी यह सन्देह किया जा सकता है कि वे राज्यके लिये श्रीरामचन्द्रके साथ दगा करेंगे ? अतएव श्रीरामचन्द्र कहते हैं—'न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः'—हे तात ! सब भाई भरतके समान नहीं होते !

माता और सब सेना आदिको साथ लेकर भरत जंगलकी तरफ चले । रास्तेमें गुह इस चतुरङ्गिणी महासेनाको देखते हैं । रघुवंशीय राजाओंका चिह्न, ध्वजामें कोविदारका निशान देखकर और श्रीरामसे मिलती हुई आकृतिको देखकर उन्होंने पहचान लिया कि ये भरत हैं । उन्हें सन्देह हुआ, ये कैकयीके पुत्र हैं । श्रीरामचन्द्र-का अनिष्ट करनेके लिये ही तो कहीं इतनी सेना लेकर इस ओर

वनमें नहीं आये हैं ? अतएव पहले भरतके प्रति उनको कुछ अनिष्टभाव हुआ; परन्तु जैसे ही वह देवमूर्ति देखी, निषादराज गुहका अन्तरात्मा रो उठा। रामके विरहमें उनकी उस करुण-दशा-को देखकर गुह अपने-आपको भी भूल गये। गोसाईंजी कहते हैं—

भरतदसा तेहि अवसर कैसी। जलप्रवाह जल-अलि[1]-गति जैसी॥
देखि भरतकर सोच-सनेहू। भा निषाद तेहि समय विदेहू॥

भरत गुहके साथ श्रीरामचन्द्रकी चर्चा चलाकर ही अपने मनको ढाढ़स देना चाहते हैं। आप पूछते हैं, 'कहो गुह! कोशलाधीश्वर भगवान् श्रीरामचन्द्रने उस दिन रात्रिको कहाँ विश्राम किया था ?' गुह कुशोंकी एक साँथरी (बिछौना) दिखा देते हैं। उसे देखकर भरत फिर रो पड़ते हैं। हाय! हाय! जिन कोशल-नरेन्द्र श्रीरामचन्द्रके दास-दासीतक महार्ह शय्याओंपर सोया करते हैं वही साकेतधराधीश्वर श्रीराम अनाथकी तरह इन कुश-कण्टकों-पर सोते हैं और केवल यही नहीं, सुकुमारी जनकनन्दिनी भी उन्हीं तृणोंपर रात काटती हैं। हाय, मैं बड़ा अभागा और कठोर हूँ—

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत्सभार्यः कृते मम।
ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत्॥

आँसू बहाते हुए भरत उस शय्याको प्रणाम करते हैं, और प्रतिज्ञा करते हैं—

अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा।
फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन्॥

---

१ पानीपर जल्दी-जल्दी चक्कर लगानेवाला एक छोटा काला कीड़ा।

'आजसे मैं भी जमीनपर सोऊँगा, बहुत हुआ तो केवल तृण बिछा लूँगा। राजसी वस्त्रोंको हटाकर जटा और चीर धारण करूँगा। वनवासियोंकी तरह कन्द-मूल-फल खाऊँगा।'

भरतकी इस भ्रातृभक्ति और त्यागको देखकर निषादराज उनके पैरोंपर लोट जाते हैं और कहते हैं—

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले।
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि॥

'आप धन्य हैं! जगत्‌में मैं आपकी तुलना नहीं पाता। बिना यत्नके पाये हुए राज्यको जो आप यों छोड़ रहे हैं।' जब आपने माँगा नहीं, आपको जब स्वयं अयोध्याका राज्य मिल रहा था तो कौन आपकी निन्दा कर सकता था? स्वयं कुलगुरु वसिष्ठ कहते हैं—

पित्रा भ्रात्रा च ते दत्तं राज्यं निहतकण्टकम्।
तद् भुङ्क्ष्व मुदितामात्यः शीघ्रमेवाभिषेचय॥

'तुमको यह राज्य पिता और भ्राताने आगे होकर दिया है। इस निष्कण्टक राज्यको आनन्दपूर्वक भोगो। सब अमात्य भी इसमें प्रसन्न हैं। तुम शीघ्र अपने राज्याभिषेककी आज्ञा दो।' जिन महर्षि वशिष्ठकी आज्ञा अकेला इक्ष्वाकुकुल ही क्या, उस समय भूमण्डलभर मानता था, वही जब यह कह रहे हैं, तब भरतको बुरा कहनेवाला कौन था? किन्तु भरत कहते हैं—

कथं दशरथाज्जातो भवेद्राज्यापहारकः।
राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि॥

'महाराज दशरथसे उत्पन्न हुआ मैं क्या राज्यापहारक बनूँगा ? यह राज्य मिलना नहीं, यह तो राज्य छीनना है। इक्ष्वाकुकुलकी रीति तो सदासे यही चली आ रही है कि ज्येष्ठ पुत्र राज्यका अधिकारी हो। अब यदि श्रीरामचन्द्रकी सत्तामें मैं राज्य लेता हूँ तो क्या यह दूसरेका अधिकार छीनकर स्वयं हथिया लेना नहीं कहा जायगा ? इसीलिये राज्याधिकारी न कहकर आप कहते हैं 'राज्यापहारकः।' 'दशरथात्' यों पिताका नाम लेकर कहनेमें भी व्यङ्गय है। जो दशरथ श्रीरामके विरहमें कुछ ही क्षण भले ही जिये हों, परन्तु जिन्होंने रामका वियोग होते ही शरीर छोड़ दिया, श्रीरामके विरहकी वेदना नहीं सही, उन्हीं पुत्रवत्सल महाराज दशरथका पुत्र होकर उनके छोड़े हुए राज्यको ग्रहण कर सकता हूँ ? क्या उनके छोड़े हुए राज्यको ग्रहण करनेकी मुझमें योग्यता है ? यह राज्य और मैं दोनों ही रामके हैं। आप बड़े हैं, आपको धर्मकी बात कहनी चाहिये।'

भगवान् वशिष्ठ भरतको परख रहे थे। भरतका यह वचन सुनकर वे गद्गद हो उठे।

तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः।
हर्षान्मुमुचुरश्रूणि रामे निहितचेतसः॥

'धर्मसंयुक्त यह भरतका वाक्य सुनकर सभी सभासदोंकी आँखोंमें आँसू आ गये, क्योंकि सभीका चित्त श्रीराममें लग रहा था।' जिन भरतकी भगवान् श्रीरामचन्द्रमें इस तरहकी अलौकिक भक्ति है, भला, उन्हींके लिये यह सन्देह किया जा सकता है कि वह

श्रीरामचन्द्रके साथ दगा करेंगे? स्वयं श्रीरामचन्द्र गद्गद होकर महर्षि वशिष्ठजीसे कहते हैं कि भरतके समान भाई भूमण्डलभरमें नहीं हो सकता।

गोस्वामीजीके अक्षर हैं—

नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भयउ न भुवन भरतसम भाई॥

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र जिस बातपर कुलगुरु वशिष्ठजीकी शपथ खाते हैं, पिताके चरणोंकी दुहाई देते हैं, भला, उस बातमें कोई सन्देह कर सकता है? आप कहते हैं—

'इस भुवनमें भरतके समान भाई आजतक नहीं हुआ।' इसी आशयसे यहाँ महर्षि भी कहलवाते हैं कि

न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः।

भरत चित्रकूटके नीचे पहुँचते हैं। उधर इस महासेनाका कोलाहल और पैरोंसे उड़ी हुई धूलि पर्वततक पहुँचती है। श्रीराम लक्ष्मणसे पूछते हैं कि 'देखो लक्ष्मण! यह काहेका हल्ला है?' लक्ष्मण पेड़पर चढ़कर दूरतकका दृश्य देखकर कहते हैं—'एक बड़ी भारी सेना इधर चली आ रही है।' फिर कहते हैं—'ध्वजाके चिह्नको देखकर प्रतीत होता है कि यह रघुवंशियोंकी सेना है। अवश्य भरत आ रहे हैं। मालूम होता है, कैकेयीके सिखाये भरतको राज्यका लोभ और भी बढ़ गया है। वे हमलोगोंको इस लोकसे हटाकर अपने राज्यको बिल्कुल निष्कण्टक करना चाहते हैं। किन्तु यह उनकी लालसा कभी पूरी नहीं होगी।' श्रीलक्ष्मण क्रुद्ध होकर भरतके विषयमें बड़ी बुरी-बुरी बातें कह डालते हैं। वे

कहते हैं कि 'मैं अकेला आज भरतका अवश्य वध करूँगा।' श्रीलक्ष्मणने चाहे श्रीरामचन्द्रके प्रेमके कारण ही ऐसा असत् सन्देह किया हो और ये बातें कही हों; परन्तु श्रीरामचन्द्रको ये बातें बहुत बुरी लगीं। ये बातें सुनकर भ्रातृवत्सल, जगच्छरण्य श्रीरामचन्द्र-को आँसू आ गये। आपने कहा—

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थे एतत्प्रतिश्रृणोमि ते॥

'धर्म, अर्थ, संसारकी कामनाएँ और इस पृथिवीको भी मैं केवल तुमलोगोंके लिये ही चाहता हूँ, यह मैं तुमसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ। अर्थात् मेरा सब कुछ भाइयोंके लिये ही है। भला, मैं भाइयोंकी हिंसा करके राज्य चाहूँगा?' आप गद्गद होकर बड़े जोशमें कहते हैं—

यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद्भस्म तत्कुरुतां शिखी॥

'भरत, तुम और शत्रुघ्न, इनके बिना यदि मुझे कोई दुनिया-में सुख मिलता हो तो उसे अग्नि भस्म कर दे।' आहा! जिन श्रीलक्ष्मणने सर्वस्व त्याग करके श्रीरामचन्द्रकी चरणपरिचर्या ही आजतक अपना सब कुछ समझा है उनसे भी बढ़कर आपका प्रेम भरतमें है। अतएव आप लक्ष्मणको भी छोड़कर सबसे पहले उन्हीं-का नाम लेते हैं—'यद्विना भरतं त्वां च।' आप स्पष्ट अक्षरोंमें कहते हैं कि मुझे दृढ़ भरोसा है—

अस्मासु मनसाप्येष नाहितं किञ्चिदाचरेत्।

'भरत मनके द्वारा भी हमलोगोंका कभी अनिष्टचिन्तन नहीं कर सकते।' लक्ष्मणपर नाराज होकर आप आज्ञा करते हैं—

नहि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः।
अहं निष्ठुरमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते॥

'हे लक्ष्मण! अबतक तो जो कुछ तुमने कह दिया है, सह्य है; किन्तु अब कभी मेरे सामने भरतके लिये अप्रिय वचन मत कहना। जो कुछ भरतको अप्रिय वचन कहोगे वह सब मेरे प्रति कहोगे।' आहा! भगवान्की आश्रितवत्सलता तो देखिये। अपने आश्रितके विषयमें जो कुछ अपचार किया जाता है उसे आप अपने विषयमें ही अपचार समझते हैं। श्रीलक्ष्मणपर आप कभी नाराज नहीं हुए। और तो क्या, प्राणप्रिया श्रीजनकनन्दिनीको अकेली छोड़कर जिस समय श्रीलक्ष्मण मारीचानुगामी श्रीरामके पास चले आये और इधर रावण उन्हें हर ले गया, मैं समझता हूँ, वह अपराध तो अमार्जनीय था; उस समय तो वे इन्हें जितना धमकाते, थोड़ा था। रामके स्थानपर दूसरा होता तो शायद दूसरा महाभारत ही हो पड़ता। परन्तु अर्णवकी तरह अक्षोभ्य श्रीरामचन्द्र उस समय भी इतने अप्रसन्न नहीं हुए। उस समय आप स्वयं अत्यन्त दुखी हुए; परन्तु लक्ष्मणको मर्मान्तिक दुःख हो, ऐसा वचन उस समय भी आपने नहीं कहा। उस समयके वाक्य-के लिये महर्षि कहते हैं—

उवाच मधुरोदर्कमिदं पुरुषमार्तवत्।
अहो लक्ष्मण गर्ह्यं ते कृतम्, यत्त्वं विहाय तां सीता-मिहागतः सौम्य!

'आर्तकी तरह होकर श्रीरामचन्द्र लक्ष्मणको यही कठोर वचन बोले कि 'हे लक्ष्मण ! हे सौम्य !! तुमने बुरा किया कि सीताको छोड़कर यहाँ चले आये ।' इस वचनके विषयमें महर्षि कहते हैं 'मधुरोदर्कम्'—जो पीछे मीठा लगे अर्थात् ऊपरसे कठोर होनेपर भी विचार करनेपर जो मधुर हो । जिस सीताके वियोगमें आप (लोकदृष्टिसे) प्राणान्तक कष्ट पाते हैं उस प्राणप्रियाके हरण होनेपर तो आप लक्ष्मणको इतना-सा ही उपालम्भ देते हैं; किन्तु भरतके लिये अप्रिय वचन बोलनेपर देखनेमें अपने धैर्यकी सीमातकसे आगे बढ़ जाते हैं । अक्षोभ्य अर्णव भी वेलासे बाहर तरंगे फेंकने लगता है । वहाँ आप 'मधुरोदर्कम्' बोलते हैं, जो ऊपरसे कठोर किन्तु भीतर मधुर होता है । यहाँ उससे बिल्कुल विपरीत हो गया है । ऊपरसे सौम्य-सा वचन है, किन्तु भीतर मर्मोंको भेदन कर देता है, जो क्षमासागर श्रीरामके स्वभावसे बिल्कुल ही प्रतिकूल है । जो श्रीलक्ष्मण सर्वस्व छोड़कर श्रीरामका अनुगमन करते हैं उन्हींके प्रति आप एक ऐसा वचन कह देते हैं जिसे 'व्यङ्ग्य' कहना पड़ेगा । आप कहते हैं—

यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे ।
वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् ॥

'हे लक्ष्मण ! तुम राज्यकी कामनासे ही यदि ऐसी कठोर बात भरतके लिये कहते हो तो मैं भरतके मिलनेपर उससे कह दूँगा कि 'राज्यमस्मै प्रदीयताम्'—अयोध्याका राज्य लक्ष्मणको दे दो ।' हाय ! हाय ! जो लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रकी सेवाके आगे त्रैलोक्यका

राज्य भी तुच्छ समझते हैं उन्हींके लिये राज्यलोलुपताका यह मर्म-वचन कितना घातक होगा, ज़रा सोचिये तो सही। फिर उसपर भी तुर्रा यह है कि जो लक्ष्मण सब कुछ छोड़कर श्रीरामचन्द्रको ही अपना सर्वस्व दे देते हैं उनपर तो 'राज्यलोलुपता-शङ्का और भरतपर यह भरोसा कि 'जैसे ही मैं कहूँगा कि लक्ष्मणको राज्य दे दो वैसे ही वे तुरन्त दे देंगे।' आप कहते हैं—

उच्यमानो हि भरतो मया लक्ष्मण तद्वचः।
राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव मंस्यते॥

'राज्य इसे दे दो', मेरे द्वारा यों कहा गया भरत 'बाढमित्येव मंस्यते'—'जो आज्ञा' कहकर उसी समय मान लेगा। कहिये, भरत-पर प्रेमकी कोई सीमा है? लक्ष्मणके प्रति यह कठोर वचन कहनेका अवसर तभी आया जब भरतके प्रति इन्होंने ऐसा असत् सन्देह किया। हाय! हाय! जिस भ्राता भरतपर आपकी अतुल प्रीति है, अटल विश्वास है, उसके प्रति इस तरहके कूट वचन! बस, आप-का चित्त एकदम क्षुभित हो उठा। आपके मुखसे ये वचन निकल पड़े। अब विचारिये, श्रीरामचन्द्रके हृदयपर भरतका कितना अधिकार है? जिन भरतको अप्रिय वचन कह देनेमात्रसे श्री-रामचन्द्र आजन्मसेवक, प्राणप्रिय श्रीलक्ष्मणके प्रति भी इतने रूक्ष हो जाते हैं उन्हीं भरतके विषयमें श्रीरामचन्द्रके साथ दगा करने-की शङ्का भला की जा सकती है? अतएव महर्षि यहाँ कहलवाते हैं—

न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः।

बड़ी-बड़ी उत्कण्ठाओंको हृदयमें लिये अत्यन्त घबराहटके साथ दौड़ते हुए-से भरत जैसे ही श्रीरामचन्द्रका दर्शन दूरसे ही

करते हैं, वे उन राजराजेन्द्रका वनवासी-वेष देखकर रो उठते हैं। 'सर्व सुखोंके योग्य श्रीरामचन्द्रको हाय ! मेरे ही लिये यह दुःख मिल रहा है। मेरे इस दारुण जीवनको, लोकनिन्दनीय इन प्राणों-को धिक्कार है'—

मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः।
धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम्॥

यों विलाप करते हुए भरत श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करनेके लिये बड़े सम्भ्रमसे आगे बढ़ते हैं, परन्तु—

पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन्।
उक्त्वार्येति सकृद्दीनं पुनर्नोवाच किञ्चन॥

'श्रीरामचन्द्रके चरणोंके पास पहुँचनेके पहले ही विह्वलताके कारण भूमिपर गिर पड़ते हैं। रोते हुए भरत बड़े दीन स्वरसे 'आर्य !' केवल इतनामात्र एक बार मुँहसे कह सके। फिर कुछ बोला न गया। मूर्च्छित हो गये।'

भरतकी भ्रातृभक्ति, भरतका देवचरित्र, त्रिलोकीमें अतुलनीय है, यह दावेके साथ कहा जा सकता है; किन्तु यहाँ अतिप्रसङ्ग हुआ जा रहा है। कई पाठक कदाचित् ऊबते होंगे; परन्तु लाचारी है। पाठकगण ! विस्तारके लिये लेखनीकी विवशता समझकर क्षमा कर देंगे। भरतका त्याग, भरतकी उदारता, भरतकी निष्ठाको देखकर यह लोक ही नहीं, त्रिलोकी चकित हो गयी थी। श्री-रामचन्द्र उनसे यकायक वनमें चले आनेका कारण पूछते हैं। कहते हैं—'भैया ! तुमने अयोध्यामें रहकर राजधर्मका तो अच्छी

तरह पालन किया है न ? कहीं उसमें तो त्रुटि नहीं हुई ?' लोकातिशायी धर्मव्रत श्रीमान् भरत उत्तर देते हैं—

किं मे धर्माद्विहीनस्य राजधर्मः करिष्यति ।
शाश्वतोऽयं सदा धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ ।
ज्येष्ठे पुत्रे स्थिते राजा न कनीयान् भवेन्नृप ॥

'हे नरश्रेष्ठ ! मैं धर्मसे विहीन हूँ, मेरा राजधर्म क्या करेगा ? हमलोगोंमें सदासे यह धर्म चला आया है कि ज्येष्ठ पुत्रके रहते छोटा राजा नहीं हो ।' मैं अभागा हूँ, इस कलङ्कसे कलङ्कित हो चुका हूँ । यदि आप मुझपर कुछ भी कृपा रखते हैं, मेरा कलङ्कसे उद्धार करना चाहते हैं तो अयोध्या पधारिये । 'अभिषेचय चात्मानं कुलस्यास्य भवाय नः'—अपना अभिषेक कराइये । अपने लिये नहीं, हमारे सम्पूर्ण वंशकी मर्यादा रखनेके लिये । महर्षि वशिष्ठ आदि सम्पूर्ण ही पूज्यगण अयोध्या पधारनेका आग्रह करते हैं, किन्तु मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र स्वीकार नहीं करते । आप उत्तर देते हैं—'मैं पिताके सम्मुख वनवासकी प्रतिज्ञा कर चुका हूँ । पिताकी भी मुझे वनवासकी आज्ञा हो चुकी है । अब आप ही देख लीजिये, मैं पिताकी आज्ञाका पालन करूँ या भरतका कहना ?'

कथं ह्यहं प्रतिज्ञाय वनवासमिमं गुरोः ।
भरतस्य करिष्यामि वचो हित्वा गुरोर्वचः ॥

इधर भगवान् पिताकी आज्ञापर अटल हैं, उधर श्रीमान् भरत ज्येष्ठकी सत्तामें राज्य स्वीकार करना बुरा ही नहीं, पातक समझते हैं । बड़ा भ्राता अविवाहित रहे और यदि छोटा दारपरिग्रह

(विवाह) कर ले तो शास्त्रमें वह प्रायश्चित्ती है, अपांक्तेय है। वह 'परिवेत्ता' कहा जाता है। आहा ! कालिदास कहते हैं—

स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे।
परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः॥

'ज्येष्ठ भ्राता रामचन्द्रके राज्यश्रीका परिग्रह न करनेपर वे (भरत) स्वयं भूमिको स्वीकार करते हुए अपनेको 'परिवेत्ता' मान रहे थे।'

किन्तु श्रीरामचन्द्रकी प्रतिज्ञा टूट जाय, यह भरत कैसे स्वीकार करते; भले स्वयं उनपर जगत्का कलङ्क आ जाय! आखिर श्रीरामचन्द्रकी चरणपादुकाओंको लेकर भरत मस्तकपर चढ़ाते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि 'चौदह वर्षतक ये आपकी पादुकाएँ राज्य करेंगी। मैं जटाचीरधारी, वनवासी होकर अयोध्यासे बाहर रहूँगा और इन पादुकाओंका सेवक बनकर अयोध्याकी देख-रेख करूँगा।' उन पादुकाओंको केवल उसी समय मस्तकपर नहीं चढ़ाया, ठेठ अयोध्यामें पहुँचकर उनको जबतक राजगद्दीपर न बिठा दिया तबतक मस्तकपर धारण किये रहे। महर्षि कहते हैं—

ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा।
आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नसहितस्तदा॥

'भरत अपने मस्तकपर उन पादुकाओंको धारण करके शत्रुघ्नके साथ बड़े प्रसन्नचित्त होकर रथपर बैठे।' कहिये, कोई दीखता है ऐसा राजवंशमें ? बड़े भ्राताके चरणवन्दनके लिये ही झुकते हुए राजपुत्रोंका मस्तक आजकल सङ्कुचित होता है।

उनकी चरणपादुकाओंको मुकुटकी तरह मस्तकपर धारण करनेवाला कोई भ्रातृभक्त आज आपको राजाओंमें दिखलायी देता है? यही कारण है कि भरतके चरित्रको सुननेमात्रसे हृदय पवित्र हो जाता है। अहा! जिस समय वनवासकी अवधिको समाप्तकर कोसलनरेन्द्र श्रीरामचन्द्र श्रीजनकनन्दिनीको साथ लेकर अयोध्याकी तरफ पधारे उस समय एक-एक दिन और घड़ियोंको गिननेवाले भरत सब परिकरको साथ लेकर श्रीरामचन्द्रकी अगवानीको गये थे। जटाजूट-मण्डित वे भरत श्रीजानकीके चरणोंमें जिस समय प्रणाम करने लगे उस समयकी बात महाकवि कालिदासने अद्भुत और अनुपम कही है। वे कहते हैं—

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्-
वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधो-
रन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य॥

'श्रीजानकीके चरण कैसे हैं—जिन्होंने रावणके शत-शत प्रणामोंका तिरस्कार कर दिया, कभी उसके प्रलोभनकी तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखा। अतएव पतिव्रताशिरोमणि उन जानकी-के चरण त्रिलोकवन्दनीय हैं। इधर साधुशिरोमणि इन भरतका मस्तक कैसा है?—जिसने ज्येष्ठ भ्राताके आज्ञापालनमें अपनेको जटाधारी बना रक्खा है, अतएव ये भी त्रिभुवनवन्दनीय हैं। ये दोनों (जानकीजीके चरण और भरतका मस्तक) प्रणामके समय मिलकर 'अन्योन्यपावनम् अभूत्।' परस्पर—एकको एक पवित्र

करनेवाला हो गया। अर्थात् ये दोनों ही एक-से-एक बढ़कर पवित्र थे। त्रिलोकपति रावणके प्रणामोंको ठुकरानेसे अखण्डितपातिव्रत्य श्रीजानकीके चरण पवित्र थे तो पिताके दिये राज्याभिषेकको अस्वीकार करके श्रीरामके लिये जटाओंको धारण करनेवाला, त्यागके कारण जगत्में सदा ऊँचा रहनेवाला यह मस्तक भी कम पूजनीय न था। अतएव दोनों मिलकर आपसमें शोधन करनेवाले हो गये।'

यही कारण है कि पादुकाओंको मस्तकपर धारण किये हुए भरत जिस समय भरद्वाजके आश्रममें पहुँचे तो उनकी भ्रातृभक्ति और त्यागको देखकर गद्गद हुए भरद्वाजके मुखसे यही निकला—

अनृणः स महाबाहुः पिता दशरथस्तव।
यस्य त्वमीदृशः पुत्रो धर्मात्मा धर्मवत्सलः॥

'आज भाग्यवान् वह तुम्हारा पिता दशरथ पितृऋणसे अनृण हो गया, जिसको तुम-सरीखा धर्मात्मा, धर्मवत्सल पुत्र मिला है।' मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रके कारण दशरथको अनृण नहीं कहा गया; कहा गया है त्यागी, भ्रातृभक्त श्रीमान् भरतके कारण। कहा भी है और बहुत बढ़कर कहा है। वे कहते हैं 'धर्मवत्सलः।' धर्म तो सबपर वात्सल्य रखता ही है; परन्तु स्वयं धर्म ही उन भरतमें महत्त्व बुद्धि रखता है। अतएव भरतकी श्रेणी इतनी उन्नत है कि वे धर्मपर वत्सलबुद्धि रख सकते हैं। कहिये, ऐसा उदारचरित्र कोई दुनियामें होगा? एक साधारण-से विद्वान्का दिया हुआ काग़ज़ी सर्टीफ़िकेट ही जब आजकल लोगोंका सम्मान

करा देता है, तब भला सकल भूमण्डलमें धर्मके सम्माननीय व्यवस्थापक भरद्वाज-सरीखे महर्षि गद्गद होकर जिसे यों हृदयका सर्टीफ़िकेट देते हैं फिर वह लोकमें अद्वितीय नहीं गिना जायगा ? अतएव श्रीरामचन्द्र कहते हैं—

न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः ।

श्रीमान् भरत राजधानी अयोध्याको छोड़कर नन्दिग्राममें पहुँचते हैं । वहाँ पहुँचते ही आप अपने प्रकृतिमण्डलको आज्ञा देते हैं—

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम ॥

'ये पादुकाएँ नहीं हैं, श्रीरामचन्द्रके साक्षात् चरणारविन्द हैं । इनपर शीघ्र छत्र धारण कीजिये, जो राजविभूतिका चिह्न है । मेरे गुरुस्थानीय श्रीरामचन्द्रके इन्हीं चरणोंके कारण लोकमें धर्मकी स्थिति है ।' अलौकिकचरित्र श्रीमान् भरत इस राजलक्ष्मीको तो श्रीरामकी धरोहर (अमानत) समझते हैं और अपना सर्वस्व तो इन पादुकाओंको ही बतलाते हैं । आप कहते हैं—

एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम् ।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते ॥

'यह राज्य तो श्रीरामचन्द्रने अपनी अमानतके रूपमें मुझे सँभलाया है । और मेरे योग-क्षेमको चलानेवाली तो सुवर्णसे मण्डित ये दोनों पादुकाएँ हैं ।' कहिये ! ऐसे वाक्य दुनियाके किसी दूसरे भी भ्रातासे सुने गये हैं अथवा सुने जानेकी सम्भावना

की जा सकती है ? इधर श्रीरामचन्द्रके भी हृदयको देखिये। चौदह वर्षका वनवास बिताकर, अनेक असहनीय सङ्कटोंको पारकर, आप अपनी जन्मभूमि अयोध्याकी तरफ पधार रहे हैं। जिस समय मनुष्य सङ्कटोंसे बचकर, बड़ी लंबी अवधिको ठेलकर, अपने अभिमत सुखके अभिमुख होने लगता है उस समय उसके हृदयमें उत्कण्ठाओंकी आँधी-सी उठ आती है। वियोगकालमें जिनको देखनेके लिये उसका हृदय तड़पा करता है उन्हींकी भावनाएँ उसके हृदयमें नानारूपसे घूमा करती हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र पुष्पक-विमानमें विराजे हुए, विभीषण, सुग्रीवादि अपने सहायक सुहृदोंको साथ लिये हुए, जिस समय अयोध्यापुरीपर दृष्टि डालते हैं, सबसे पहले आपको भरतकी याद आती है। कालिदासके अक्षर हैं—

शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः।

'मैं अनुमान करता हूँ कि हनुमान्‌से जहाँ मेरे आगमनका वृत्तान्त सुना कि भरत सब सेनाको साथ लेकर मेरे सम्मुख आया-का-आया है।' श्रीरामचन्द्र जानकीसे कहते हैं कि भरत इस समय साकेतराज्यकी रक्षा नहीं कर रहा है, 'असिधाराव्रत' पालन कर रहा है। खाँड़ेकी धारपर खेल रहा है। राजपुत्र होकर, युवा होकर, नाना तरहके यौवनसुलभ मनोरथोंको हृदयमें धारण करता हुआ भी जो वह अयोध्याकी राजलक्ष्मीको रञ्चकमात्र स्पर्श नहीं कर रहा है, यह असामान्य संयम क्या खाँड़ेकी धारसे कम है? यह नहीं कि इस राजलक्ष्मीपर मेरा अधिकार हो। नहीं-नहीं, 'पित्रा विसृष्टाम्।' पिता महाराज दशरथने उसे उसीके अधिकारमें दे दी थी।

भरतका उसपर धर्मानुकूल अधिकार हो चुका है। ऐसी दशामें भी 'मदपेक्षया'—केवल मुझमें भक्तिके कारण वह उस राजलक्ष्मीकी तरफ आँख उठाकर देखतातक नहीं है, यह क्या सामान्य 'असिधाराव्रत' है ? असिधाराव्रतका लक्षण है—

युवा युवत्या सार्द्धं यन्मुग्धभर्तृवदाचरेत्।
अन्तर्निवृत्तसङ्गः स्यादासिधारव्रतं हि तत्॥

'जवान स्वामी पूर्ण युवती स्त्रीके साथ स्वतन्त्रतामें रहता हुआ भी 'मुग्धभर्ता' अर्थात् सांसारिक कुछ भी नहीं समझनेवालेकी भाँति आचरण करे, बल्कि हृदयमें भी सङ्गकी भावनातक न लाये, उसे 'असिधाराव्रत' कहते हैं।' एक-दो दिन नहीं, आज चौदह-चौदह वर्ष हो गये, भरत मेरी प्रतीक्षामें राजलक्ष्मीको पासमें लिये कठिन 'असिधाराव्रत' पालन कर रहा है। कालिदासके अक्षर हैं—

पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः
श्रियं युवाप्यङ्कगतामभोक्ता।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्र-
मभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम्॥

इस खाँड़ेकी धारपर परीक्षा देकर पास होनेका ही यह फल है कि आज त्रिलोकीमें भरतका यश गाया जा रहा है। 'धन्य ! धन्य !' की वाणीके साथ सब लोगोंके मुखसे निकल रहा है—

भरतेन समो धीरो भरतेन समोऽनुजः।
भरतेन समस्त्यागी न भूतो न भविष्यति॥

जिस समय लक्ष्मणने भरतपर राजमदका सन्देह करके कहा था कि शायद बुरी भावनासे ही भरत सेना लिये इधर आ रहा है उस समय श्रीरामचन्द्र प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं—

मसक फूँक बरु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमद भरतहि भाई॥
लषन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबंधु नहि भरत समाना॥

भरतके इन्हीं असामान्य गुणोंका स्मरण करते हुए श्रीरामचन्द्र यहाँ कहते हैं—

न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः।

यद्यपि लक्ष्मणकी भी भक्ति श्रीरामचन्द्रमें सामान्य न थी। जिन्होंने जन्मपर्यन्त श्रीरामचन्द्रका ही आश्रय लिया, उनके सुखमें सुख, दुःखमें दुःख माना; और तो क्या, अपने प्राणोंकी भी परवा न कर श्रीरामचन्द्रकी सेवासे जिन्होंने कभी मुँह न मोड़ा, क्या उनकी भ्रातृभक्ति साधारण समझी जा सकती है? श्रीरामचन्द्र ही नहीं, श्रीजानकीतकपर जिनकी यह भावना थी कि 'प्रत्यक्षं दैवतं मम'—वे मेरी साक्षात् उपास्य देवता हैं, चरणप्रणामके समय जिनकी दृष्टि श्रीजानकीके चरणोंसे ऊपरतक भी कभी नहीं गयी थी, जिसके कारण उन्हें कहना पड़ा था—

नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥

'नित्य चरणोंमें प्रणाम करनेके कारण मैं श्रीजानकीके केवल नूपुरोंको पहचानता हूँ', क्या उन श्रीलक्ष्मणकी भ्रातृभक्ति और त्याग दुनियामें किसीसे भी नीचा कहा जा सकेगा? परन्तु लक्ष्मणकी जीवनचर्यामें ऐसा मौका नहीं आया कि उनको राज्य

मिलता हो और उन्होंने नहीं लिया हो। किन्तु भरतको महाराज दशरथ अपने मुखसे यौवराज्यकी आज्ञा दे चुके थे। कैकेयी असामान्य परिश्रम करके अपने पुत्रके लिये राज्यश्री दिला चुकी थी। स्मरण रखिये, यह राजलक्ष्मी भरतको सस्ते मोल नहीं मिली थी। अपने प्राणोंपर खेलकर कैकेयीने युद्धमें दशरथकी प्राणरक्षा की थी। महाराजने प्रसन्न होकर उसे इसका एवजाना माँगनेको कहा था। वही प्राणान्तकपरिश्रमप्राप्त कैकेयीका पारितोषिक महाराज दशरथके पास अमानतरूपमें जमा था। उसके एवजमें कैकेयीके पुत्रको—कैकेयीके ही पुत्र क्यों, क्या भरत दशरथके कुछ भी न थे? फिर अपने पुत्रको ही यदि उन्होंने राज्य दे दिया तो कौन बड़ा एहसान हुआ? वह राज्य भी उसने बड़ी बदनामी सहकर, सम्पूर्ण अयोध्यावासियोंकी निन्दाभाजन बनकर—अयोध्यावासी ही क्यों, आजतक भूमण्डलभरके लिये कुटिलताकी दृष्टान्त बनकर—बड़ी कठिन साधनाके बाद प्राप्त किया था। यदि उसे भरत स्वीकार कर लेते तो क्या यह उनकी अनधिकार चेष्टा होती? परन्तु अधिकारप्राप्त, सम्मुख आये हुए, हस्तोपनत राज्यको भी उन्होंने श्रीरामके कारण छोड़ दिया था। इसीलिये लक्ष्मणसे भी बढ़कर उन्हें दिखलाते हुए श्रीरामचन्द्र यहाँ कहते हैं—

न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः।

अच्छी बात है, भरत आपके साथ कभी भ्रातृभावका त्याग नहीं कर सकते, यह मान लेते हैं। किन्तु यदि आपकी ओरसे ही कदाचित् भ्रातृभाव शिथिल हो गया तो फिर भरतकी भी एकतान चर्यामें कुछ अन्तर अवश्यही पड़ेगा। इस शङ्काके कारण

आगे कहते हैं—'मद्विधा वा पितुः पुत्राः'—मेरे-जैसे पिताके पुत्र भी सब नहीं होते। पिताकी भी नहीं, पिताको द्वार बनाकर अपनी विमाताकी भी आज्ञा पानेपर जो सम्पूर्ण राज्यसुखोंको छोड़कर वनवासके कठिन दुःखोंको सह सकते हैं, ऐसे मेरे-जैसे पुत्र भी सब नहीं होते।

मान लीजिये, पिताने वनवासकी आज्ञा दे दी थी; किन्तु जन्मदात्री माता कौशल्या विप्रतिपन्न (असम्मत) हो गयी थीं। कौशल्याने कहा था कि यह वचन राजाका नहीं, यह क्रूर वचन कैकेयीका है। 'वह मेरी सपत्नी है। अतएव सपत्नी होनेके कारण तुम्हारे विषयमें जो उसका अधर्म्य वचन है उसे सुनकर मुझे दुःखिनी छोड़कर तुम्हें जाना उचित नहीं'—

न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम्।
विहाय शोकसन्तप्तां गन्तुमर्हसि मामितः॥

'हे पुत्र! यदि मेरे निषेध करते हुए भी मुझे शोकसन्तप्त छोड़कर तुम चले जाओगे तो तुम जगत्प्रसिद्ध नरकोंको प्राप्त होओगे'—

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम्।
ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम्॥

कहिये, जब माताका इतना आग्रह था, तब यदि श्रीराम वनमें न जाते तो उन्हें कौन दोषी ठहरा सकता था? क्योंकि माताका दर्जा शास्त्रमें पितासे बढ़कर गिना जाता है। कौशल्याने स्पष्ट कह दिया था—

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम् ।
साहं त्वां नानुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ॥

'जिस तरह राजा तुम्हारे पूजनीय हैं, मैं भी तुम्हारे लिये उसी तरह माननीय हूँ । मैं तुमको जानेकी अनुमति नहीं देती । अतएव तुम यहाँसे वन कभी नहीं जाना ।' जब जननीकी यों स्पष्ट आज्ञा हो गयी थी तब श्रीराम यदि अयोध्यामें भी रहते तो भी उन्हें कोई दोषी नहीं कह सकता था; किन्तु परम्परासे ही सही, पितापर किसी तरह भी मिथ्यावादिताका कलङ्क न लगे, इसलिये श्रीराम अपने सब सुखोंकी बलि देकर वनमें जानेको तैयार हो जाते हैं । इसीलिये यहाँ कहते हैं—'मद्विधा वा पितुः पुत्राः—मेरे सदृश पिताके पुत्र भी सब नहीं होते ।' अर्थात् जब मैं भी पिताकी आज्ञा पानेपर सर्वसमृद्ध राज्यको भी ठुकराकर जंगलमें जाना ही अपना कर्तव्य समझता हूँ और राज्यपर लोलुपबुद्धि नहीं रखता तब मेरी तरफ़से भी भ्रातृभावके त्यागका प्रसङ्ग कैसे आ सकता है ?

यहाँ बड़ी भारी शङ्का एक यह उपस्थित होती है कि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रके मुखसे महर्षि यह आत्मश्लाघा कैसे करवा रहे हैं ? 'मेरे बराबर कोई सुपुत्र नहीं' यह तो स्पष्ट आत्मश्लाघा है । जब धीरोदात्त नायकतकको साहित्यवाले 'कृपावान् अविकत्थनः—दयालु और अपने मुखसे अपनी प्रशंसा नहीं करनेवाला' चित्रित करते हैं, तब आदर्श पुरुष, यावन्मात्र नायकोंके नायक श्रीरामचन्द्र अपने ही मुखसे अपनी प्रशंसा करें, यह क्या समञ्जस समझा जायगा ? इसका समाधान कुछ लोग तो यह करते हैं कि

यह प्रशंसा नहीं, सत्यकथन है। सत्य बात कहनेमें आत्मश्लाघाका दोष नहीं आता। महाकवि कालिदास तो, भला, साहित्यवालोंके लिये मार्गप्रदर्शक हो गये हैं। उन्होंने तो अपने नाटकोंमें धीरोदात्त नायकको साहित्योक्त लक्षणोंसे लक्षित ही चित्रित किया है, किन्तु वे भी दुष्यन्तके मुखसे कहलाते हैं—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

'सज्जनोंके लिये जहाँ सन्देहस्थल उपस्थित होता है वहाँ उनके अन्तःकरणकी वृत्ति ही प्रमाणभूत हो जाती है।' अर्थात् शकुन्तला हमारी प्रणयभाजन हो सकती है वा नहीं, इस संशयमें उसकी तरफ खिंचनेवाला मेरा हृदय ही कहे देता है कि शकुन्तला अवश्य क्षत्रियोंके द्वारा परिणेय है। यहाँ दुष्यन्त अपने मुखसे ही अपने आपको आदर्श सज्जन कह डालते हैं, किन्तु आजतक किसीने शाकुन्तलके नायकपर आत्मश्लाघाका दोष नहीं लगाया। क्योंकि यह श्लाघा नहीं, भूतार्थकथन है। महावीर हनूमान् तो सत्यपराक्रम और आदर्श योद्धा हैं। उन्हें अपने मुखसे अपनी तारीफ़ करके, भला, किससे क्या लेना था? वे भी कहते हैं—

पन्नगाशनमाकाशे पतन्तं पक्षिसेविते।
वैनतेयमहं शक्तः परिगन्तुं सहस्रधा॥

'उड़नेमें गरुड़ तो सबसे वेगवान् गिने जाते हैं; किन्तु मैं आकाशमें उड़ते हुए गरुड़से भी सहस्र प्रकारसे आगे निकल सकता हूँ।' यहाँ हनूमान् अपनी गतिका सत्य परिचय दे रहे हैं, इसलिये

इसे कोई आत्मश्लाघा नहीं कहता । 'काव्यादर्श' के प्रथम परिच्छेदमें दण्डी कहते हैं—

स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः ।
अपि त्वनियमो दृष्टस्तथा त्वन्यैरुदीरणात् ॥

'सत्यकथनमें स्वगुणप्रशंसाका दोष नहीं आता । और दूसरे, नायक अपने मुखसे अपना वृत्तान्त कह दे—इसे दोष भी नहीं समझा जाता, क्योंकि कई जगह अपने मुखसे अपना वर्णन देखा जाता है ।' अथवा पूर्वोक्त समाधानादि करनेकी जरूरत ही नहीं पड़ती । 'न सर्वे भ्रातरः' इत्यादि पद्यका तात्पर्य ही दूसरा है । श्रीरामचन्द्र कहते हैं—'हे तात ! सर्वे भ्रातरो भरतोपमाः न', सब भाई भरतके समान नहीं होते । जो भरत पिताके दिये हुए अपने राज्यको छोड़कर वनमें आते हैं और मुझसे कहते हैं कि यह राज्य तुम्हारा है, तुम्हीं लो । अतएव भरतके सिवा कोई दूसरा ऐसा त्यागी दीखता है ? इस बातको पुष्ट करनेके लिये दृष्टान्त देते हैं—'मद्विधा वा पितुः पुत्राः'—जैसे मेरे समान पुत्र । मेरे विरहका प्रसङ्ग पड़ते ही पिता लोकान्तरको चले गये, इस तरहका पुत्रवत्सल पिता जिसने प्राप्त किया हो ऐसा पुत्र मेरे समान दूसरा कोई होगा ? अपि तु, नहीं । इसी तरह 'सुहृदो वा भवादृशाः'—सुग्रीवसे कहते हैं कि जैसे 'तुम्हारे समान मित्र सब नहीं होते, जो अपने सब कार्य छोड़कर नाना प्रकारके कष्टोंको सहते हुए मित्रके कार्यके लिये प्राणपर्यन्तको कुछ नहीं गिनते । यहाँ 'मद्विधा वा पितुः पुत्राः', 'सुहृदो वा भवद्विधाः' ये दोनों

दृष्टान्त हैं। इनमें यदि कोई अतिप्रशंसा भी हो तो भी उसका तात्पर्य 'न सर्वे भ्रातरः' इस बातकी पुष्टिमें है। अर्थात् मेरे समान वत्सल पिताके पुत्र और तुम-सरीखे एकान्त मित्र जिस तरह दुनियामें दुर्लभ हैं इसी तरह भरतके समान भाई भी सब नहीं होते।

अथवा—'मद्विधाः पितुः पुत्राः सन्तु मा वा, परन्तु भरतसमा भ्रातरस्त्वत्समाः सुहृदश्च न सन्ति' इत्यर्थः। 'मेरे समान, पिताके पुत्र हों वा न हों, कोई बड़ी बात नहीं। परन्तु भरतके समान भाई और तुम्हारे समान मित्र कहीं नहीं दिखलायी देते।' इस अर्थमें आत्मश्लाघा-दोषका प्रसङ्ग ही नहीं आता। सच पूछिये तो जिन टीकाकारोंने 'मद्विधा वा पितुः पुत्राः' में आत्मश्लाघा-दोषकी शङ्का की है उनकी समझमें ही यह श्लोक नहीं आया है, ऐसा मालूम पड़ता है। भगवान् श्रीरामचन्द्र यहाँ कह रहे हैं कि 'जो मेरे समान, पिताका वात्सल्यभाजन हुआ हो ऐसा पुत्र दुनियामें दूसरा नहीं है।' यहाँ पिताके प्रेम और वात्सल्यकी पराकाष्ठाकी तारीफ है। उसीके द्वारा फिर अपना सौभाग्य दिखाया गया है कि जिसे ऐसे वत्सल पिताके पुत्र होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ हो ऐसे बड़भागी पुत्र मेरे समान सब नहीं होते। यहाँ स्पष्ट झलक रहा है कि श्रीरामचन्द्र अपने पिता दशरथके वात्सल्यका स्मरण करके अपना अहोभाग्य बता रहे हैं। स्पष्ट ही यहाँ पिताकी प्रशंसा है। यदि यहाँ पिताके वात्सल्यकी प्रशंसामें तात्पर्य नहीं होता तो 'मद्विधा वा पितुः पुत्राः' यहाँ 'पितुः' पदकी कोई आवश्यकता न थी। 'मद्विधाः पुत्राः सर्वे न'—मेरे समान पुत्र सब नहीं होते, यही कहना पर्याप्त था। बल्कि 'मेरे समान पिताके पुत्र' यों 'पिताके पुत्र' कहना तो उलटा

भद्दा-सा मालूम होता है। परन्तु यहाँ पिताकी वत्सलताकी ही तारीफ श्रीरामचन्द्रको अभीष्ट है। अतएव आप कहते हैं—'मेरे समान वत्सलप्रकृति पिताके पुत्र सब नहीं होते।' इस कथनमें ज़ाहिरा अपनी तारीफ दीखनेपर भी पिताके वात्सल्यकी ही सर्वात्मना स्तुति है। भक्त भगवान्‌से कहते हैं—'हे प्रभो! मेरे समान आज कौन बड़भागी होगा जिसको आपके समान दयालु स्वामी मिले हैं!' कहिये, क्या इस कथनमें भक्तपर आत्मश्लाघाका दोष लगाया जायगा?

राजा परीक्षित कहते हैं—

वयं धन्यतमा लोके गुरोऽपि क्षत्रबन्धवः।
यत्पिबामो मुहुस्त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथामृतम्॥

'हे गुरो! हम गर्हणीय क्षत्रिय होनेपर भी आज अत्यन्त धन्य हैं जो आपके मुखसे निकले हुए पवित्र श्रीकृष्णकथामृतका बारंबार पान करते हैं।' कहिये, व्रत लेकर नियमानुसार श्रीमद्भागवतको सुनते हुए प्रशान्तप्रकृति परीक्षितपर भी क्या अपने मुखसे ही अपनी श्लाघा करनेका दोष लगाया जा सकेगा? नहीं, यहाँ स्पष्ट ही श्रीकृष्णकथामृतकी प्रशंसा वक्ताको अभीष्ट है। इसी प्रकार 'मद्विधा वा पितुः पुत्राः' में भी पिताके वात्सल्यकी ही प्रशंसा श्रीरामचन्द्र कर रहे हैं।

जिस समय कैकेयीने वनवासकी आज्ञा देनेके लिये श्रीरामचन्द्रको महलमें बुलवाया, उस समय पुत्रवत्सल महाराज दशरथकी बड़ी करुणाजनक दशा थी। रामका वियोग होनेवाला

है, इस विचारमात्रसे ही उनका हृदय तड़फड़ा रहा था। जैसे ही श्रीरामको सामने देखा, राजाका हृदय उमड़ आया—

रामेत्युक्त्वा तु वचनं बाष्पपर्याकुलेक्षणः।
शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम्॥

'वे केवल 'राम' इतना ही कह सके। आँखोंमें आँसुओंकी झड़ी लग गयी। दुःखजनित दीनताके कारण राजासे न तो रामकी तरफ देखा गया और न कुछ बोला ही गया।' श्रीरामचन्द्र पिताकी यह दशा देखकर घबरा उठे। आपने बड़े विनयसे कैकेयीसे पूछा—

......किं त्विदं यन्महीपतिः।
वसुधासक्तनयनो मन्दमश्रूणि मुञ्चति॥

'आज यह क्या बात है कि महाराज बड़ी उदासीसे नीची दृष्टि किये आँसू बहा रहे हैं?' कैकेयीने सब विष उगल दिया। श्रीरामचन्द्रने मस्तक नवाकर उस आज्ञाको ग्रहण किया। आपने कहा कि 'माँ! आप मेरे स्वभावको नहीं जानतीं। अन्यथा महाराजतक इस बातको पहुँचानेकी क्या ज़रूरत थी? मैं तो आपकी ही आज्ञासे वन जानेको तैयार था। मैं मातासे आज्ञा ले लूँ और सीताको समझा दूँ, इतनामात्र अवकाश दीजिये। मैं आज ही वन चला जाऊँगा—

यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम्।
ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानामहं वनम्॥

राजा अपने शोकके आवेगको बड़े धैर्यसे अपने हृदयहीमें रोक रहे थे; परन्तु रामके ये वचन सुनकर उनका धैर्य टूट गया।

जो महापराक्रमी दशरथ बड़े-बड़े संग्रामोंमें कभी विचलित नहीं हुए थे, जिनके धैर्य और पराक्रमपर मनुष्य ही क्या, देवताओं तकको बड़ा भरोसा था, संकट पड़नेपर देवता तक जिन्हें सहायताके लिये बुलाते थे, आज वही महाराज दशरथ साधारण दीनोंकी तरह अधीर हो रहे हैं। और तो क्या, स्त्रियोंकी तरह बड़े जोरसे रो उठते हैं। 'शोकादशक्नुवन् वक्तुं प्ररुरोद महास्वनम्।' क्यों? जो हृदय महासंग्रामोंमें निरन्तर बरसनेवाले शस्त्रोंके प्रहारोंसे कठिन पड़ गया है, जो हृदय शस्त्राघातोंके घट्ठोंके कारण स्पर्शमें भी लोहवत् कठिन मालूम होता है वह इस तरह एकदम व्याकुल क्यों हो पड़ा है? इसका कारण है श्रीरामचन्द्रपर असाधारण प्रेम। बड़ी-बड़ी साधनाओंसे श्रीरामचन्द्र-सा पुत्र मिला था। आज वही वनको जा रहा है—

अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान्।
रामो लब्धो महातेजाः स कथं त्यज्यते मया॥

बस, इसीलिये परमवत्सल महाराज दशरथ आज साधारण मनुष्योंकी तरह शोकमूढ़ होकर रो पड़े हैं।

राजा दशरथ नाना तरहसे अनुनय-विनय करके कैकेयीको समझाते हैं। जिन महाराज दशरथके चरणोंपर बड़े-बड़े वीरोंके, महाराजाधिराजोंके मस्तक नवा करते थे आज वही कोसलाधिपति महाराज दशरथ कैकेयीके सामने झोली पसारकर भीख माँगते हैं, पैरोंमें प्रणाम करते हैं कि रामको वनमें भेजनेका हठ छोड़ दो। आप कहते हैं—

है, इस विचारमात्रसे ही उनका हृदय तड़फड़ा रहा था। जैसे ही श्रीरामको सामने देखा, राजाका हृदय उमड़ आया—

रामेत्युक्त्वा तु वचनं बाष्पपर्याकुलेक्षणः।
शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम्॥

'वे केवल 'राम' इतना ही कह सके। आँखोंमें आँसुओंकी झड़ी लग गयी। दुःखजनित दीनताके कारण राजासे न तो रामकी तरफ देखा गया और न कुछ बोला ही गया।' श्रीरामचन्द्र पिताकी यह दशा देखकर घबरा उठे। आपने बड़े विनयसे कैकेयीसे पूछा—

……किं त्विदं यन्महीपतिः।
वसुधासक्तनयनो मन्दमश्रूणि मुञ्चति॥

'आज यह क्या बात है कि महाराज बड़ी उदासीसे नीची दृष्टि किये आँसू बहा रहे हैं?' कैकेयीने सब विष उगल दिया। श्रीरामचन्द्रने मस्तक नवाकर उस आज्ञाको ग्रहण किया। आपने कहा कि 'माँ! आप मेरे स्वभावको नहीं जानतीं। अन्यथा महाराजतक इस बातको पहुँचानेकी क्या जरूरत थी? मैं तो आपकी ही आज्ञासे वन जानेको तैयार था। मैं मातासे आज्ञा ले लूँ और सीताको समझा दूँ, इतनामात्र अवकाश दीजिये। मैं आज ही वन चला जाऊँगा—

यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम्।
ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानामहं वनम्॥

राजा अपने शोकके आवेगको बड़े धैर्यसे अपने हृदयहीमें रोक रहे थे; परन्तु रामके ये वचन सुनकर उनका धैर्य टूट गया।

जो महापराक्रमी दशरथ बड़े-बड़े संग्रामोंमें कभी विचलित नहीं हुए थे, जिनके धैर्य और पराक्रमपर मनुष्य ही क्या, देवताओं तकको बड़ा भरोसा था, संकट पड़नेपर देवता तक जिन्हें सहायताके लिये बुलाते थे, आज वही महाराज दशरथ साधारण दीनोंकी तरह अधीर हो रहे हैं। और तो क्या, स्त्रियोंकी तरह बड़े जोरसे रो उठते हैं। 'शोकादशक्नुवन् वक्तुं प्ररुरोद महास्वनम्।' क्यों? जो हृदय महासंग्रामोंमें निरन्तर बरसनेवाले शस्त्रोंके प्रहारोंसे कठिन पड़ गया है, जो हृदय शस्त्राघातोंके घट्ठोंके कारण स्पर्शमें भी लोहवत् कठिन मालूम होता है वह इस तरह एकदम व्याकुल क्यों हो पड़ा है? इसका कारण है श्रीरामचन्द्रपर असाधारण प्रेम। बड़ी-बड़ी साधनाओंसे श्रीरामचन्द्र-सा पुत्र मिला था। आज वही वनको जा रहा है—

अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान्।
रामो लब्धो महातेजाः स कथं त्यज्यते मया॥

बस, इसीलिये परमवत्सल महाराज दशरथ आज साधारण मनुष्योंकी तरह शोकमूढ़ होकर रो पड़े हैं।

राजा दशरथ नाना तरहसे अनुनय-विनय करके कैकेयीको समझाते हैं। जिन महाराज दशरथके चरणोंपर बड़े-बड़े वीरोंके, महाराजाधिराजोंके मस्तक नवा करते थे आज वही कोसलाधिपति महाराज दशरथ कैकेयीके सामने झोली पसारकर भीख माँगते हैं, पैरोंमें प्रणाम करते हैं कि रामको वनमें भेजनेका हठ छोड़ दो। आप कहते हैं—

मम वृद्धस्य कैकेयि गतान्तस्य तपस्विनः।
दीनं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि॥
अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते।
शरणं भव रामस्य माधर्मो मामिह स्पृशेत्॥

'मेरे बुढ़ापेकी तरफ देखो। मैं थोड़े दिनोंका पाहुना हूँ। बड़े आर्तभावसे प्रार्थना करते हुए मुझ दीनपर तुम्हें अवश्य करुणा करनी चाहिये।' जिस वीरहृदयको कभी किसीसे दीनवचन कहनेका अवसर नहीं पड़ा था आज वही यों दयाका भिखारी हो रहा है! क्यों? अपने पुत्र श्रीरामचन्द्रपर असीम प्रेम होनेके कारण!

जब किसी तरह भी कैकेयी मृदु नहीं हुई तब राजा कहते हैं—'अच्छी बात है। रामको वनवास हो और भरत युवराजपदवीपर बैठें, यही तो तुम्हें वर दिया गया है।' किन्तु मैं भी राज्यसुख और धनादिको छोड़कर रामके पीछे-पीछे वनको चला जाऊँगा, फिर तुम और राजा भरत यहाँ रहकर आनन्दपूर्वक राज्यभोग करना—

अनुव्रजिष्याम्यहमद्य रामं
राज्यं परित्यज्य सुखं धनं च।
सहैव राज्ञा भरतेन च त्वं
यथासुखं भुङ्क्ष्व चिराय राज्यम्॥

जो महाराज थोड़े दिनके पाहुने कहे जा रहे हैं वही उस वृद्धावस्थामें जंगलोंका कष्ट भोगनेको तैयार हैं। क्योंकि श्रीरामचन्द्रसदृश पुत्रके प्रति वात्सल्य उनकी आत्माको बलात्

खींच रहा है। जब श्रीरामका वनगमन निश्चित हो चुका और विदेहनन्दिनी श्रीसीतातक वल्कलचीर पहनकर मुनियोंकी तरह वनप्रस्थानकी आज्ञा माँगने दशरथके पास आयीं, राजासे वह करुण दृश्य नहीं देखा गया। वे आँखें मूँदकर रो उठे। उन्होंने निश्चित कर लिया, यह दुःखमय दृश्य मैं नहीं देख सकूँगा। किन्तु हाय, हृदय नहीं माना। श्रीराम चौदह वर्षके लिये वनको जा रहे हैं। मैं उन्हें फिर जाते देख सकूँगा कि नहीं। एक वार इन नेत्रोंसे प्रिय पुत्रका मुखदर्शन तो कर लूँ। यह सोचकर राजा वनको जाते हुए श्रीरामचन्द्रको देखनेके लिये बड़ी लालसासे उठ खड़े होते हैं। साथमें, दीनतासे विलाप करता हुआ रनिवास भी पीछे-पीछे जाता है—

> अथ राजा वृतः स्त्रीभिर्दीनाभिर्दीनचेतनः।
> निर्जगाम प्रियं पुत्रं द्रक्ष्यामीति ब्रुवन् गृहात्॥

राजा दशरथ उस दृश्यको देखकर सुखी होनेके बदले अत्यन्त शोकाभिभूत हो गये। उनके हृदयकी गति एकदम भयानक हो पड़ी। उन्होंने देखा कि तमाम अयोध्या महलके आगे उमड़ आयी है। सबके नेत्रोंसे आँसू वरस रहे हैं। श्रीरामके रथके पीछे लटक-लटककर बड़ी दीनतासे प्रार्थना कर रहे हैं—'हे सुमन्त्र! घोड़ोंकी लगाम जरा रोक लो। रथको थोड़ा धीरे-धीरे चलाओ। हम श्रीरामका मुख देखना चाहते हैं। हमारे लिये यह अब दुर्लभ हो जायगा'—

> संयच्छ वाजिनां रश्मीन् सूत याहि शनैः शनैः।
> मुखं द्रक्ष्याम रामस्य दुर्दर्शं नो भविष्यति॥

दयालु श्रीरामचन्द्रसे यह करुण दृश्य नहीं देखा जाता। वे सुमन्त्रको तकाजा करते हैं—रथको जल्दी-जल्दी चलाओ। सूत बड़े असमञ्जसमें पड़ गये—

रामो याहीति तं सूतं तिष्ठेति च जनस्तदा।
उभयं नाशकत्सूतः कर्तुमध्वनि चोदितः॥

राजा दशरथ इस दुःखमय दृश्यको अधिक देरतक नहीं देख सके। उनकी चेतना जाती रही, 'निपपातैव दुःखेन कृत्तमूल इव द्रुमः—जड़ कटनेपर जिस तरह वृक्ष गिर जाता है इस तरह भूमिपर गिर पड़े।'

राजा शोकविह्वल, घरमें विकल पड़े हुए, पुत्रके लिये पछता रहे हैं—हाय! मैंने ही तो अपने हाथोंसे पुत्रको वन भेजा है। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि रामकी ज्यों-ज्यों याद आती थी, राजा इस तरह अनुताप करते थे जिस तरह कोई इच्छापूर्वक ब्राह्मणको मारकर पछताता हो, अथवा हाथोंसे अग्निको छूकर दुखी होता हो—

हत्वेव ब्राह्मणं कामात्स्पृष्ट्वाग्निमिव पाणिना।
अन्वतप्यत धर्मात्मा पुत्रं सञ्चिन्त्य राघवम्॥

जिन राघवके वियोगमें सम्पूर्ण अयोध्याके नर-नारी अपना-अपना घर छोड़कर रामके पीछे-पीछे हो लिये, उस दिन अयोध्याके किसी घरमें सन्ध्याका स्वागत न हुआ, दीपकतक नहीं जला, पशु-पक्षियोंतकने भोजन छोड़ दिया, तब, भला, पुत्रवत्सल पिता दशरथके शोकका कुछ अन्त होगा? जिस समय श्रीराम रथमें बैठकर

वनके लिये जाने लगे उस समय पुरवासियोंमें हाहाकार मच गया। लोगोंके नेत्रोंसे आँसुओंके चौधारे बह रहे थे। तथ्यवाक् महर्षि वाल्मीकि उस समयकी दशा कहते हैं कि लोगोंके नेत्रोंसे इतना आँसू बहा कि भूमि सब तर हो गयी। पुरवासियोंके पैरोंसे रज-का उड़ना बिल्कुल बन्द हो गया—

निर्गच्छति महाबाहौ रामे पौरजनाश्रुभिः।
पतितैरभ्यवहितं प्रणनाश महीरजः॥

साधारण पौरजनोंकी क्या कथा! संसारत्यागी, कर्मैकनिष्ठ ब्राह्मणतक श्रीरामचन्द्रको जाता हुआ देखकर उनके पीछे-पीछे हो लेते हैं। वे कहते हैं—'हे रामचन्द्र! हमारे इन सफेद बालोंको देखो, जो आपके जानेके दुःखमें भूमिपर लोटनेसे धूलि-धूसर हो रहे हैं। हमारे इन सफेद बालोंकी तरफ ही देखकर लौट चलो, राम! बहुत ब्राह्मणोंके यज्ञ समाप्तिके समय आपकी प्रतीक्षा करेंगे। यदि उनमें अपूर्णता रह जायगी तो इसका अपराध आपको लगेगा। अतएव इस धर्मके अनुरोधसे ही लौट चलिये'—

याचितो नो निवर्तस्व हंसशुक्लशिरोरुहैः।
शिरोभिर्निभृताचार महीपतनपांसुलैः॥
बहूनां वितता यज्ञा द्विजानां य इहागताः।
तेषां समाप्तिरायत्ता तव वत्स निवर्तने॥

'हे रामचन्द्र, देखो! आज पक्षी भी आहारके लिये जाना छोड़कर, और तो क्या, शरीरका हिलना-डुलनातक छोड़कर

शोकके मारे अपने वृक्षके कोटरहीमें बैठे सर्व प्राणिमात्रपर दया करनेवाले आपसे लौट चलनेके लिये याचना करते हैं'—

निश्चेष्टाहारसञ्चारा वृक्षैकस्थाननिष्ठिताः ।
पक्षिणोऽपि प्रयाचन्ते सर्वभूतानुकम्पिनम् ॥

फिर, भला, पिता दशरथके हृदयकी दशा तो क्या पूछते हैं? कुछ ही घण्टे बीते होंगे कि उनकी दशा बिगड़ने लगी । आधीरात जाते-जाते तो वे कौशल्यासे कहते हैं—

न त्वां पश्यामि कौसल्ये साधु मां पाणिना स्पृश ।
रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते ॥

'हे कौसल्ये ! तुम मुझे दिखायी नहीं दे रही हो । तुम मुझे हाथसे अच्छी तरह छुओ । मेरी दृष्टि तो रामके साथ-साथ चली गयी, जो अभीतक भी नहीं लौटी ।' हाय हाय ! जो पिता अपने पुत्रके वियोगमें थोड़े ही समयमें अपने नेत्रतक खो बैठता है उस पिताके वात्सल्यकी तुलना कहीं मिल सकेगी ? ऐसे पुत्रवत्सल पिता हर एकके भाग्यमें होंगे ? इसीलिये श्रीरामचन्द्र कहते हैं— 'मद्विधा वा पितुः पुत्राः—मेरे समान पिताके वात्सल्यभाजन सभी पुत्र नहीं होते ।'

राजा दशरथ राममयप्राण थे । हठपर चढ़ी हुई कैकेयीको उन्होंने साम, दाम, क्रोध आदि सभी उपायोंसे समझाया । जब किसी तरह भी नहीं मानी, तब झुँझलाकर कहा कि 'मालूम होता है, तुमको अब वैधव्यका योग है । मैं रामके वियोगमें कभी नहीं जी सकूँगा । मैं कहे देता हूँ कि यदि तुम अभिषेकके काममें विघ्न

डालोगी तो शीघ्र ही इस अभिषेक-सामग्रीसे राम मेरी और्ध्वदैहिक क्रिया करेंगे। तुम और तुम्हारे पुत्रका मैं हाथतक नहीं लगवाना चाहता'—

रामाभिषेकसंभारैस्तदर्थमुपकल्पितैः।
रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम्॥
सपुत्रया त्वया नैव कर्तव्या सलिलक्रिया।

श्रीरामके चले जानेपर जिस समय महलमें पड़े-पड़े राजा प्रलाप कर रहे थे उस समय भी उनके मुखसे यही निकला—'हे कैकेयी! तू अब पूर्णमनोरथ हो जा। अब विधवा होकर इस राज्यमें रहना। मैं तो रामके विना जीना नहीं चाहता'—

सकामा भव कैकेयि विधवा राज्यमावस।
न हि तं पुरुषव्याघ्रं विना जीवितुमुत्सहे॥

राजा आकाशकी तरफ देखके फिर प्रलाप करते हैं—

हा हन्त कृतान्त!
अनपत्या वयं रामः पुत्रोऽन्यस्य महीपतेः।
वने व्याघ्री च कैकेयी त्वया किं न कृतं त्रयम्॥

'हे क्रूर विधाता! हमको निःसन्तान तथा रामको दूसरे राजाका पुत्र, और कैकेयीको जंगलमें सिंहिनी क्यों न बनाया?'

राजाका जीवन श्रीरामचन्द्रके साथ-साथ चल रहा था। जैसे ही श्रीराम वनकी तरफ चले, राजा एकटक उनके रथकी तरफ देखते रह गये। जब रथकी धूलि भी दीखती बंद हो गयी तब मूर्च्छित-अवस्थामें महलमें लाये गये। उनका जीवनसूत्र इस

आशापर अटक रहा था कि अभी रामके साथ सुमन्त्र है। क़दाचित् राम उसीके साथ यहाँ लौट आवें। बस, कुहकिनी इस आशाके सहारे वे जी रहे थे। सुमन्त्र जिस समय अयोध्याके समीप पहुँचे उस समय शून्य, निःशब्द उस अयोध्याको देखकर वे डर गये। जो अयोध्यापुरी रात-दिन उत्साहमय, शब्दमय, मूर्तिमान् उत्सवमय बनी रहती थी, रातको भी जो एक तरहसे जागरूक ही रहती थी, आज वही इस प्रकार भयङ्कर और सूनी क्यों दीख रही है? सब सामग्री और राजासहित यह अयोध्यापुरी रामकी शोकाग्निसे कहीं दग्ध तो नहीं हो गयी?—

कच्चिन्न सगजा साश्वा सजना सजनाधिपा।
रामसन्तापदुःखेन दग्धा शोकाग्निना पुरी॥

जैसे ही सुमन्त्र नगरके द्वारमें घुसे और रामके रथका शब्द हुआ कि उस सूनी अयोध्यापुरीमेंसे निकल-निकलकर नर-नारियोंका झुंड उस रथकी तरफ दौड़ पड़ा। सब पूछते थे—'श्रीराम कहाँ हैं?' उन दीनोंकी उस विकल वेदनाकी उपेक्षा सुमन्त्रसे नहीं हो सकी। सबको श्रीरामका वृत्तान्त समझाकर ढाढस बँधाते थे। लोग विलाप कर रहे थे। हाय! सुमन्त्र यहाँसे रामको लेकर गये थे, किन्तु लौट रहे हैं बिना रामके। हाय! महारानी कौसल्याको वे क्या जवाब देंगे जो अपने प्यारे बछड़ेसे बिछुड़ी हुई गौकी तरह उस रामशून्य महलमें चारों तरफ घूम रही है?

राजा दशरथने सुमन्त्रका आना जैसे ही सुना कि उनके निष्प्राण देहमें मानो फिरसे प्राण आ गये। उसी समय उन्हें

महलमें लानेकी आज्ञा हुई, क्योंकि रामके पाससे आ रहे हैं न ? वहाँ सब काम बंद थे। श्रीराममात्रकी चर्चा चल रही थी। वाल्मीकि कहते हैं—

तदाजुहाव तं सूतं रामवृत्तान्तकारणात्।

राजा बोले—हे सुमन्त्र ! तुम्हारे दैन्यसे मालूम होता है, तुम भी रामको छोड़कर चले आ रहे हो—

शून्यः प्राप्तो यदि रथो भग्नो मम मनोरथः।
नूनं दशरथं नेतुं कालेन प्रेषितो रथः॥

'यदि रथ खाली आया है तो मेरा सब मनोरथ टूट गया। मालूम होता है, अब दशरथको लेनेके लिये कालने यह रथ भेजा है !' 'सुमन्त्र ! मुझको रामका सब वृत्तान्त कहो। वे वनमें कैसे रह रहे हैं ? हे सूत ! रामका बैठना, सोना, भोजन करना इत्यादि सब मुझसे कहो। जैसे ययाति साधुओंसे[1] जीते थे वैसे मैं इसीसे जीऊँगा'—

आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय।
जीविष्याम्यहमेतेन ययातिरिव साधुषु॥

पुत्रका दर्शन तो कहाँ, जो पिता उसके वृत्तान्तको सुनकर ही मरा हुआ जीता है, भला, उसके वात्सल्यकी तुलना कहीं मिलेगी ?

---

१ ययाति इन्द्रके शापसे जब स्वर्गसे गिरने लगे तब उन्होंने यही माँगा था कि मुझे साधु पुरुषोंमें डाल दो। ययाति उस साधुसमागममें स्वर्गसे भी अधिक सुखपूर्वक अपना जीवन बिताते थे।

सुमन्त्र धैर्य बँधानेके लिये श्रीरामका सब वृत्तान्त कहकर कहते हैं कि—जब श्रीराम लौटनेके लिये अनुमत नहीं हुए तब मैंने ही उनसे प्रार्थना की कि 'मेरी यह आत्मा आपके बिना अयोध्यामें प्रवेश करना नहीं चाहती । अतएव मुझे भी वनवासमें साथ ले चलनेकी आज्ञा दीजिये । हे राम ! इन घोड़ोंको तो देखो । इनकी क्या दीन दशा हो रही है । ये सदा मेरी आज्ञामें रहनेवाले हैं; परन्तु जब आपसे शून्य इस रथको लेकर जाऊँगा तब ये उसे कैसे ले जायँगे ?'

मम तावन्नियोगस्थास्त्वद्बन्धुजनवाहिनः ।
कथं रथं त्वया हीनं प्रवक्ष्यन्ति हयोत्तमाः ॥

श्रीरामने कहा कि 'हे सुमन्त्र ! मुझे पिताजीका बड़ा ध्यान है । मेरे विरहमें उनकी क्या दशा होगी, यह बड़ा सन्देहस्थान है । इक्ष्वाकुवंशी राजाओंका तुम्हारे समान कोई दूसरा हितैषी नहीं । अतएव राजा मेरा सोच न करें, ऐसा उपाय तुम करना'—

इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये ।
यथा दशरथो राजा मां न शोचेत्तथा कुरु ॥

मैं मन मारकर वहाँसे लौटा तो सही; परन्तु मेरा अन्तरात्मा श्रीरामके पीछे-पीछे जाने लगा । हाय ! मुझसे अधिक भाग्यवान् तो ये पशु घोड़े हैं जो रामके वियोगमें मुझसे अधिक विकल हो गये । बड़े-बड़े संकटोंमें, सम्मुख युद्धोंमें कभी इन्होंने मेरी आज्ञा नहीं उलाँघी । इशारेमात्रपर ये बड़े उत्साहसे आगे बढ़ते थे; परन्तु रामको वनमें छोड़कर लौटते समय ये घोड़े किसी तरह अयोध्याकी

तरफ आगे नहीं बढ़ना चाहते थे। इन्हें ज्यादा दबाता था, तो आँखोंसे गरम-गरम आँसू बहाकर अपनी दीनता दिखाते थे—

मम त्वश्वा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वर्त्मनि।
उष्णमश्रु विमुञ्चन्तो रामे सम्प्रस्थिते वनम्॥

राजाका शोक रामका वृत्तान्त सुनकर दूना उमड़ आता है। वे एकदम घबरा उठते हैं। कहते हैं—सुमन्त्र! यदि मैंने तुम्हारा कुछ भी भला किया हो तो तुम कृपा करके मुझे रामके पास पहुँचा दो। मेरे प्राण मुझे तकाज़ा कर रहे हैं। वे श्रीरामका दर्शन करके निकलना चाहते हैं—

सूत यद्यस्ति ते किञ्चिन्मया तु सुकृतं कृतम्।
त्वं प्रापयाशु मां रामं प्राणाः संत्वरयन्ति माम्॥

पुत्रके वियोगमें जिस पिताकी यह हालत है, भला, उसके वात्सल्यकी कुछ सीमा है? जिसको ऐसा वत्सलप्रकृति पिता मिला हो, भला, उस पुत्रका सौभाग्य साधारण समझा जा सकता है? इसीलिये श्रीरामचन्द्रके मुखसे महर्षि कहलाते हैं—'मादृशा वा पितुः पुत्राः।'

राजचर्याके प्रसङ्गमें श्रीरामचन्द्रने पहले कहा था कि 'राजाओंमें प्रायः यह देखा जाता है कि व्यसन पड़नेपर पूर्व वैरको स्मरण करके एकपर एक प्रहार करनेको उद्यत हो जाता है' कहीं इस कथनसे सुग्रीव अपने ऊपर सन्देह-शङ्का न समझ बैठें, इसलिये श्रीरामचन्द्र आगे कहते हैं—'सुहृदो वा भवद्विधाः', 'हे सुग्रीव! तुम्हारे सदृश मित्र सब नहीं होते।'

राजचर्यामें शत्रु भी अनेक हो जाते हैं तो मित्र भी बहुत बन जाते हैं; परन्तु मित्रके कार्यके लिये प्राणतकको कुछ नहीं गिननेवाले तुम्हारे सदृश मित्र सब नहीं हुआ करते। बालीके भयसे ऋष्यमूक पर्वतमें छिपे हुए सुग्रीव अबतक बड़ी दीनतासे काल बिता रहे थे। स्वजनोंसे मिलना कैसा, किष्किन्धाकी तरफ मुख करना भी उनके लिये मृत्युके समान था। अपनी प्राणप्रिया रुमासे मिलनेके लिये उनका हृदय अहर्निश तड़पा करता था, किन्तु दर्शनतक दुर्लभ था। किष्किन्धाधिपतिके अनुज होकर भी वे बड़े दुःखसे अपना समय काट रहे थे। दीन मनुष्य और-और दृष्टियोंसे चाहे दुखी गिना जाता हो, परन्तु वह भी रूखी-सूखी खाकर अपने कुटुम्बके साथ आनन्दसे रहता है। यहाँ राज्याधिकारी होनेपर भी राज्यसुखभोग तो कहाँ, अपनी प्रिय पत्नीका दर्शनतक दुर्लभ हो रहा था। किन्तु श्रीरामके अनुग्रहसे सुग्रीव जिस समय किष्किन्धाके राजा हो गये, उनके सब दुःख निवृत्त हो गये। कहाँ एक स्त्रीमात्रसे मिलनेके मनोरथ किया करते थे और कहाँ अब अनन्त सुन्दरियोंसे भरे अन्तःपुरके एकमात्र नायक हो गये। राजलक्ष्मी उनके आगे हाथ बाँधकर खड़ी हो गयी। इतने दिन जो दुःख भोगा था उससे सहस्रगुणित सुख सम्मुख उपस्थित थे। श्रीरामने भी सब कुछ सोच-समझकर वर्षाके चार मास उन्हें सुखभोगका समय दे दिया। शरत्काल आनेपर सुग्रीव अपने दूत भेजकर सीताका पता लगायें, यह बात निश्चित हो गयी।

बहुत कालसे उत्कण्ठित सुग्रीव राजसुख-भोगोंमें निलीन हो गये। बड़े मनोरथ करते-करते यह सुख बड़े कष्टसे प्राप्त हुआ था। बेचारे सुग्रीवका ही क्या दोष था ? मेनकामें आसक्त तपस्वी विश्वामित्रतकको दस वर्ष एक दिनकी तरह बीत जाते हैं। इधर श्रीरामचन्द्र जानकीके वियोगमें इस वर्षाके एक-एक दिनको बड़े कष्टसे गिन-गिनकर बिता रहे थे। जैसे ही शरत्काल आया और सुग्रीवके पाससे अबतक कोई सन्देश नहीं मिला तो श्रीराम-को सुग्रीवपर अत्यन्त क्रोध आया। आपने सुग्रीवके पास लक्ष्मण-को भेजा और कहलाया कि 'क्या तुम मुझको भूल गये ? क्या तुम क्रुद्ध हुए मुझको फिर सम्मुख युद्धमें देखना चाहते हो ? इन्द्रके वज्रके समान मेरी प्रत्यञ्चाका शब्द फिर सुननेकी साध है ?

घोरं ज्यातलनिर्घोषं क्रुद्धस्य मम संयुगे।
निर्घोषमिव वज्रस्य पुनः संश्रोतुमिच्छसि॥

'जिस रास्ते होकर वाली गया है 'न स संकुचितः'—वह नष्ट नहीं हुआ है, मौजूद है। यहाँ सब टीकाकारोंने 'संकुचित' पदका 'नष्ट' अर्थ किया है; किन्तु महर्षिने जिस स्वारस्यसे 'संकुचित' पदका प्रयोग किया है वह इस अर्थमें नहीं। श्रीराम 'संकुचित' पदसे यह सूचित करते हैं कि 'तुम यह समझकर निश्चिन्त मत रहना कि वाली मर चुका है, अब मुझे क्या डर है? नहीं नहीं, वह रास्ता इतना तंग नहीं कि अब दूसरा जा ही न सके। नहीं, जिसने वालीको मारा है वही तुम्हें भी उसी रास्ते होकर भेज सकता है। अपनी मर्यादामें बने रहो। वालीके रास्तेपर मत जाओ—

न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥

'याद रखना, पहले एक बाणसे अकेले वालीको ही मारा था; किन्तु जो तुम सत्यको उलाँघोगे तो तुम्हें बन्धु-बान्धवोंसहित मारूँगा ।' जिसको अग्निके साक्ष्यसे मित्र बना चुके थे उसके प्रति यह वाक्यप्रयोग, मैं समझता हूँ, कुछ कम उग्र नहीं है ।

फिर लक्ष्मण तो अभी नवयुवक थे । उन्हें तो क्रोध आ भी जल्दी ही जाता था । वे जिस समय किष्किन्धाके दरवाजेपर पहुँचे, उनकी चढ़ी हुई त्योरियाँ और उष्ण निःश्वास देखकर वीर वानर-लोग घबरा गये । लक्ष्मणने सुग्रीवके अन्तःपुरके पास पहुँचकर प्रत्यञ्चाका शब्द किया । उस भयङ्कर शब्दको सुनकर सुग्रीव घबरा उठा । उसने लक्ष्मणके क्रोधको शान्त करनेके लिये पहले ताराको भेजा, पीछे आप मिला । परन्तु इतनेपर भी लक्ष्मणके व्यङ्ग्यबाण कुछ कम तीव्र न थे । उन्होंने सुग्रीवसे कहा कि क्या तुमने मनुका पद्य सुना है—

गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥

अर्थात् 'तुम कृतघ्न हो ।' यही नहीं, वे आगे कहते हैं—

अनार्यस्त्वं कृतघ्नस्त्वं मिथ्यावादी च वानर ।

परन्तु सुग्रीव नतमस्तक होकर सब कुछ सुन लेते हैं । ताराद्वारा अपना अपराध क्षमापन कराते हैं । जब लक्ष्मणकी भृकुटि कुछ उतरने लगती है तब उनका भय कुछ कम होता है—

लक्ष्मणात्सुमहत्त्रासं वस्त्रं क्लिन्नमिवात्यजत् ।

वे इस समय किष्किन्धाके राजा थे। असंख्यात वानर उनके इशारेपर नाच रहे थे। वानर भी कैसे?–श्रीमारुतिके समान, जो समुद्र उलाँघकर लङ्काधिपतितकको श्रीरामचन्द्रका प्रभाव समझा आये थे। जब इतना बलसञ्चय उसके पास था और अपना कार्य भी सिद्ध हो चुका था, फिर राजसिंहासनस्थ होकर भी इस तरहके मर्मभेदी वचन सह जाना प्रत्येक राजाओंका काम नहीं। परन्तु सुग्रीव इन सबके उत्तरमें कहते हैं—

प्रणष्टा श्रीश्च कीर्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम्।
रामप्रसादात्सौमित्रे पुनः प्राप्तमिदं मया॥

'खोयी हुई लक्ष्मी और कीर्ति तथा यह पारम्परिक किष्किन्धाका राज्य, हे लक्ष्मण! मुझे श्रीरामचन्द्रकी कृपासे ही मिला है। मैं उन रामचन्द्रकी क्या सहायता कर सकता हूँ, जिनकी प्रत्यञ्चाके शब्दमात्रसे पर्वतोंसहित यह पृथ्वी डोल उठती है। मैं तो—

अनुयात्रां नरेन्द्रस्य करिष्येऽहं नरर्षभ।

'वे जिस समय रावणको मारने जायँगे उस समय पीछे-पीछे मैं भी चला जाऊँगा।'

प्राणपणसे सब तरहकी सहायता करता हुआ भी जो इस तरह अपनेमें विनीत भाव रखता है ऐसे मित्र क्या सर्वत्र सुलभ हैं? इसीलिये श्रीरामचन्द्र कहते हैं—'सुहृदो वा भवद्विधाः'–हे सुग्रीव! तुम्हारे समान मित्र भी सब नहीं होते।

सुग्रीवका पुनः विरोध

भगवान् श्रीरामचन्द्रने सेनापति सुग्रीवके नैतिक कथनका नीतिकी दलीलोंसे ही जिस समय खण्डन कर दिया, तब वे—

सहलक्ष्मण उत्थाय प्रणतो वाक्यमब्रवीत्।

'लक्ष्मणको साथ लेकर उठे और प्रणाम करके कहने लगे।'

श्रीरामचन्द्रमें असामान्य स्नेहके कारण अनिष्टकी शङ्कासे सुग्रीवने दो-दो बार विभीषणके स्वीकारका विरोध किया। धर्मकी, नीतिकी, स्नेहकी प्रायः सभी मर्यादाओंसे श्रीरामचन्द्रको विवश करना चाहा, जिससे वे किसी तरह भी विभीषणको बैरंग लौटा दें। ऐसा न हो कि वे इसे अपने दलमें मिला लें और यह (हम-लोगोंकी तो कोई चिन्ता नहीं,) स्वयं भगवान्‌का ही कहीं अनिष्ट कर बैठे। भगवान्‌ने भी दोनों बार इनका अच्छी रीतिसे समाधान कर दिया। स्नेहकी और धर्मकी दोनों रीतियोंसे सुग्रीवको अच्छी तरह हरा दिया। सेनापतिके पदपर होनेके कारण राज-नीतिके अनुसार भी जो-जो बाधाएँ उन्होंने उपस्थित की थीं उनका भी राजनीतिसे ही आपने अच्छी तरह खण्डन कर दिया। किन्तु स्नेह नहीं मानता था। श्रीराममें जो उनकी असामान्य प्रीति थी उसके कारण पद-पदपर उन्हें अनिष्टका भय लगा रहता था। इसीलिये श्रीरामके कथनसे वे निरस्त न हो सके। अतः तीसरी बार खड़े होकर वे फिर विभीषणके संग्रहमें घोर विरोध उपस्थित करते हैं।

ठीक है। यह मान लिया जा सकता है कि शरणागतवत्सल श्रीरामने विभीषणके स्वीकारमें जितनी बार अपना आग्रह प्रकाशित

किया उतनी ही बार सुग्रीवने अति स्नेहके कारण विरोध उपस्थित किया। किन्तु यह समझमें नहीं आया कि वे अबके तीसरी बार विभीषणके विरोधमें अपनी वक्तृता उपस्थित करते हुए लक्ष्मणको साथ लेकर यकायक उठकर खड़े क्यों हो गये। क्या अपनी असम्मति यहाँतक दिखाना चाहते थे कि—'लीजिये मेरा और लक्ष्मणका तो इसी घड़ी प्रणाम है। हम तो अब चरणसेवामें नहीं रह सकते।'

नहीं, ऐसा नहीं, इसका दूसरा तात्पर्य है, जो शरणागतिमें अत्यन्त आवश्यक है। 'प्रणतः' के साथ महर्षिने एक विशेषण यहाँ और दिया है 'महाप्राज्ञः'—अत्यन्त बुद्धिमान्। जो बुद्धिमान् होते हैं वे ऐसी 'हठकारिता' नहीं किया करते। यहाँ तो वे अपनी महाप्राज्ञताका परिचय दूसरे ही प्रकारसे दे रहे हैं। सुनिये—

सुग्रीवने देख लिया कि श्रीरामचन्द्रके आगे राजनीतिकी दलीलें एक भी नहीं चलतीं। वे एकके उत्तरमें इतनी युक्तियाँ उपस्थित करते हैं कि जिनका समाधान होना कठिन है। स्नेह और धर्मकी दुहाई भी काम नहीं आयी। श्रीरामचन्द्रने 'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्' इस एक ही पद्यमें, एक स्नेह और धर्म ही क्या, सभीको गौण मानते हुए स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया कि 'शरणागतभावसे चाहे कैसा भी दोषी मेरे पास आ जाय, मैं किसी प्रकार भी उसको नहीं छोड़ सकता। शरणागतको अभय देना मेरा 'व्रत' है।' कहिये, अब इसका क्या उत्तर दिया जाय? शरणागतिरूप एक ही गुणके कारण प्रपन्नके अनेकानेक प्रबल-से-प्रबल दोषोंतकको

भगवान् नहीं देखते। फिर राजनीतिके द्वारा दिखाये हुए दोषोंकी क्या बात? वानरसेनाके स्वामी किष्किन्धाधिपति सुग्रीव और कोसलनरेन्द्र भगवान् श्रीरामचन्द्रमें विभीषणके स्वीकार-विषयको लेकर परस्पर विनोदमय एक बड़ा भारी वाग्युद्ध चल रहा था। सुग्रीव अपनी विजयके लिये एक-से-एक बढ़कर युक्तिरूपी शस्त्रोंका प्रयोग कर रहे थे। भगवान् भी उन शस्त्रोंका तत्काल ही प्रतीकार कर देते थे। सुग्रीव तत्क्षण ही फिर उससे बढ़कर शस्त्र काममें लाते थे। किन्तु इस बार सुग्रीवके जवाबमें भगवान्‌ने जो शस्त्र काममें लिया उसका कोई जवाब ही नहीं। और सब शस्त्र-अस्त्रोंकी काट हो जाती है, किन्तु जिस समय ब्रह्मास्त्र छोड़ा जाता है फिर उसका कोई प्रतीकार नहीं। मारुतिपर मेघनाद अपने सब शस्त्र और अस्त्र छोड़ता रहा, अतुलपराक्रम हनुमान् भी उनका तत्काल ही प्रतीकार करते रहे। किन्तु जब उसने ब्रह्मास्त्र छोड़ा, तब हनुमान्‌ने देखा अब इसका समाधान नहीं। इच्छासे हो या अनिच्छासे, अब तो इसके वशीभूत होनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं।

पुत्रवधका अपराध करके भागते हुए अश्वत्थामाने अर्जुनपर अनेकानेक शस्त्रास्त्र छोड़े, अर्जुनने सबको काट डाला। किन्तु जिस समय ब्रह्मास्त्र छोड़ा, त्रिभुवन संतप्त हो उठा। अर्जुन घबरा गया। भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि अश्वत्थामाने इस समय ब्रह्मास्त्र चलाया है। इसका दूसरा प्रतीकार है ही नहीं। हाँ, इसका यदि कोई सामना कर सकता है तो यही। अर्थात् ब्रह्मास्त्रका जवाब ब्रह्मास्त्र ही है। बस, अर्जुनको ब्रह्मास्त्र चलाना पड़ा।

यहाँ भी यही बात है। पारिषदप्रवर सुग्रीवने देखा कि विभीषणके मैं जितने-जितने दोष दिखाता हूँ 'शरणागति' के आगे भगवान् उन्हें एकको भी नहीं ठहरने देते। भगवान्‌के इस दरबारमें 'शरणागति' का मुकाबिला करनेवाला कोई नहीं। स्वयं भगवान् जब श्रीमुखसे आज्ञा कर रहे हैं कि 'शरणागतको सम्मुख देखकर स्वयं मैं ही विह्वल हो जाता हूँ, बहुमानपूर्वक उसे छातीसे लगानेकी मेरी इच्छा हो उठती है, उसके दोषोंकी ओर दृष्टि ही किसकी जाती है,' तब दूसरा उपाय ही क्या रहा? शरणागतिका प्रतीकार यदि कोई है तो शरणागति ही। किन्तु इधर विभीषणकी शरणागतिपर स्वयं कोसलेन्द्र भगवान् श्रीरामचन्द्र डटे हुए हैं। इसलिये शरणागतिके उत्तरमें यदि एक शरणागतिका आश्रय भी लिया जाय तो भी काम न चलेगा। समान बल होनेके कारण दोनों शरणागति शायद बराबर डट जायँ। इसलिये दूने गोले-बारूद बिना काम नहीं चलनेका। इसलिये अब तो एक शरणागतिके उत्तरमें दो शरणागति सम्मुख रक्खी जायँ, देखें, भगवान् फिर इनका तिरस्कार कैसे करते हैं? इसीलिये भगवान्‌के परम-श्रेष्ठ, अनुगत, लघुभ्राता श्रीलक्ष्मणको साथ लेकर सुग्रीव उठ खड़े हुए और भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया कि—'हम दो सेवक भी आपकी शरण आये हैं। हमारी प्रार्थना भी सुनी जाय कि शत्रुपक्षीय विभीषणको आप कथमपि स्वीकार न करें।' देखें भगवान् इसकी अवहेलना कैसे कर सकते हैं? इसी आशयको लेकर महर्षिने कहा है—

महाप्राज्ञः सहलक्ष्मणः उत्थाय, प्रणतः वाक्यमब्रवीत्।

'बुद्धिमान् सुग्रीव लक्ष्मणको साथ लेकर उठे और प्रणाम करके वाक्य बोले।'

सुग्रीवने फिर भी वही कहा कि यह निशाचर अवश्य ही रावणका भेजा हुआ है। यदि इसका विश्वास किया जायगा तो अवश्य यह आपके साथ दगा करेगा। शायद आप अपने क्लेशोंकी परवा न भी करते हों, किन्तु आपकी भक्तवत्सलता जगत्प्रसिद्ध है। आप स्वयं चाहे दुःख पा लें, परन्तु अपने आश्रितका दुःख आप कभी नहीं देख सकते। इसलिये आप चाहे अपने साथ विश्वासघात होनेकी अधिक परवा न भी करें तो भी हमलोगोंका तो कुछ अनुरोध आप रक्खेंगे ही। इसलिये कहते हैं—

'विश्वस्ते मयि वानघ लक्ष्मणे वा महाबाहो' (प्रहर्तुमागतः)।—'विश्वासी मुझपर अथवा श्रीलक्ष्मणपर प्रहार करनेकी नीयतसे यह आया है।' यह जगत्प्रसिद्ध क्रूरकर्मा रावणका भ्राता है, इसे कैद कर लेना चाहिये। यही इस समय उचित है।—यह कहकर वाक्यकुशल सुग्रीव चुप हो गये।

तीन बार हो चुका। श्रीराममें अलौकिक स्नेहके कारण अनिष्टकी शङ्कासे सुग्रीव विभीषणका स्वीकार कथमपि नहीं चाहते। इसलिये वे बार-बार विरोध करते हैं। इधर श्रीरामचन्द्रजी अपनी भक्तवत्सलतापर, अपने दीनोद्धरण-व्रतपर डटे हुए हैं। वे भी सुग्रीवके कथनको कदापि स्वीकार करना नहीं चाहते। किन्तु तीसरी बार भी विभीषणके स्वीकारमें जब सुग्रीवने विरोध ही किया तब—

रामः तद्वाक्यं श्रुत्वा विमृश्य च शुभतरं वाक्यमुवाच।

'श्रीराम उस वाक्यको सुनकर और कुछ सोच-विचारकर अत्यन्त शुभ वचन बोले।'

सभी टीकाकारोंने विचारनेका यहाँ यही तात्पर्य निकाला है कि—'सुग्रीव जो बार-बार विभीषणके स्वीकारमें विरोध करते हैं उसका यही कारण है कि इनका मुझमें अत्यन्त प्रेम है। बस, प्रेमहीके कारण वे अस्थानमें भी अनिष्टकी शङ्का करके ऐसा हठ कर रहे हैं' यही श्रीरामचन्द्रने विचार किया। किन्तु मेरे विचारसे शरणागति-प्रसङ्गके अनुसार इसका दूसरा ही तात्पर्य मालूम होता है। सुग्रीवने राजनीतिके अनुसार, धर्मकी दृष्टिसे तथा अवसरको देखते हुए भी विभीषणके स्वीकारका दो बार विरोध किया। भगवान् श्रीरामचन्द्रने भी दोनों ही बार राजनीति और धार्मिक मर्यादासे भी विभीषणके स्वीकारका समर्थन किया, सुग्रीवको अच्छी तरह समझा दिया कि यह हमारी कोई हानि नहीं कर सकता। जब यह शरणार्थी होकर आया है तब अवश्य इसपर कोई आपत्ति ही आयी है। आपत्तिग्रस्त होकर, 'तुम्हारा हूँ' कहकर, जो कोई मेरे पास आता है उसको अभय देना यह मेरा दृढ़ व्रत है। अतएव इससे भय करनेका कोई कारण नहीं। यहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्रने व्यङ्ग्यमर्यादासे सुग्रीवको सूचित कर दिया कि दीनोंके उद्धारके लिये, दुष्टोंसे सताये हुओंको अभय देनेके लिये सर्वशक्तिमान् मेरा अवतार भूमण्डलमें हुआ है। अतएव मुझे अभयदीक्षाव्रतसे हटना कदापि उचित नहीं है। ठीक ही है, जब सर्वशक्तिमान् भगवान्‌ने ही अवतार लिया है तब उन्हें भय उत्पन्न करनेवाला है ही कौन ? किन्तु दोनों ही

बार भगवान्‌की इस अन्तर्हित शक्तिको सुग्रीव नहीं समझ सके। सप्ततालभेदनादि असामान्य कार्य देखकर भी भगवान्‌की मायामें विमुग्ध हो पड़े। उन्हें एक अनुपम वीरमात्र समझने लगे। इसीलिये—'निशाचर विभीषण प्राणश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रका कोई अनिष्ट न कर बैठे' इस शङ्कासे अति विह्वल होकर वे श्रीरामचन्द्रसे दैन्यपूर्वक प्रार्थना करते हैं कि 'इसको किसी तरह भी अपने दलमें न मिलाइये। यह निश्चित ही अनिष्ट करनेकी बुद्धिसे यहाँ आया है।'

भगवान् श्रीरामकी स्पष्ट आज्ञा

जब दो-दो बार हो चुका, व्यङ्ग्यमर्यादासे भगवान्‌ने सूचित भी कर दिया, तो भी भगवान्‌की उस अपरिमित शक्तिको सुग्रीव नहीं समझ सके, तब 'रामः विमृश्य', भगवान्‌ने सोचा कि अब साफ कहे बिना काम नहीं चलेगा। अपनी अपरिमेय शक्ति, अपना ऐश्वर्य सूचित किये बिना सुग्रीवको भरोसा नहीं आवेगा। उसको मेरे सामर्थ्यपर अभी सन्देह है। चाहता तो नहीं था कि मैं अपना ईश्वरभाव प्रकट करूँ, परन्तु अब कहे बिना शरणागत विभीषणके स्वीकारमें व्यर्थ विलम्ब हो रहा है। ये सब बातें विवश होकर भगवान्‌को सोचनी पड़ीं, इसीलिये महर्षिने कहा है—'विमृश्य'—'विचार करके।'

गीताके भगवान्‌ने भी शरणागतिके अधिकारी अर्जुनको जिस समय अपना सर्वसामर्थ्य, अनन्तवीर्य, अपनी विभूतियाँ अपने मुखसे कहीं उस समय उसने मान तो लिया, परन्तु कुछ सन्देहरेखा हृदयमें रही। भगवान्‌के विभूतियोगको सुनकर उसने कहा—

'एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर'—हे सर्वसमर्थ! आपने अपने स्वरूपको जैसा बतलाया वह ऐसा ही है। अर्जुन मुखसे कह तो गये, परन्तु भगवान्ने देखा कि इसके हृदयमें अभी कुछ 'किन्तु' बाकी है। आखिर अर्जुनका वह भाव इस प्रार्थनासे प्रकट हो ही गया कि—

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥

'अर्थात् हे भगवन्! मैं आपका वह सर्वशक्तियुक्त रूप देखना चाहता हूँ।' अस्तु, भगवान्को वहाँ विश्वरूप दिखाना पड़ा।

भगवान्ने देखा कि कुछ वैसा ही अवसर यहाँ भी आया हुआ है। 'द्विर्बद्धं' ही काफी होता है, किन्तु यहाँ तीन-तीन बार अच्छी तरह समझा देनेपर भी सुग्रीवको अभी मेरे सामर्थ्यके विषयमें सन्देह बना हुआ है। अब साफ़-साफ़ अपने मुखसे ही कहे बिना काम नहीं चलेगा। बस, यही विचार भगवान्को इस समय करना पड़ा, इसीलिये महर्षि यहाँ कहते हैं—'विमृश्य'।

अपना दिव्य प्रभाव प्रकट करनेमें कुछ सोच-विचार करके आप बोले—'यह जातिसे राक्षस हो और उसपर भी प्रकृतिसे चाहे दुष्ट हो या अदुष्ट, किन्तु यह क्या मेरा कुछ भी अनिष्ट करनेका सामर्थ्य रखता है? मैं पिशाच, दैत्य, यक्ष, अथवा एक यही राक्षस क्या, पृथिवीभरके सब राक्षस मिलकर चले आवें तो भी एक अङ्गुलिके अग्रभागसे सबको नष्ट कर सकता हूँ।'

अविकत्थन, दक्षिणनायकोंके मुकुटमणि मर्यादापुरुषोत्तम जो श्रीरामचन्द्र विनयमार्गका आदर्श स्थापित करते हुए सदा अपनेको

अकिञ्चित्कर कहते आये हैं, कुठार लेकर मारनेवालेके आगे भी मस्तक नवाकर कहते हैं—

.............................। कर कुठार आगे यह सीसा॥
जेहिं रिस जाइ करिअ सोइ स्वामी। मोहि जानि आपन अनुगामी॥

—वही अपने मुखसे गर्विष्ठ वाणी कैसे कहते हैं? इसका कारण यही है कि किसी तरह सुग्रीवादिको विश्वास हो, इसके लिये भगवान् अपना दिव्यभाव स्पष्ट अपने मुखसे कह देना चाहते हैं। तुम एक इस राक्षससे ही डर रहे हो; मैं राक्षस ही क्या दानव, पिशाच, यक्ष आदि सम्पूर्ण देवयोनियोंको केवल एक अङ्गुलिके इशारेसे ही मार सकता हूँ। तुम्हें यह गर्व होगा कि 'मेरी सहायताके बिना रामका कोई कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि लङ्काविजय अकेले आपसे न हो सका, तभी तो वानरसमूहका सेनापति बनाकर मुझे साथ लाये हैं।' यह अभिमान मत रखना। अपने आश्रित वानरसमूहके साथ तुम अलग बैठे-बैठे देखो, मैं अकेला इन सबको इशारेमात्रसे मार सकता हूँ। इसी व्यङ्ग्यको सूचित करनेके लिये यहाँ सम्बोधन दिया है—'हरिगणेश्वर!' हे वानर-सेनाके स्वामी! तुम्हारी किसी तरहकी सहायताके बिना अकेला मैं ही यावन्मात्र दैत्य, राक्षसादिको मार सकता हूँ।

यहाँ स्पष्ट ही श्रीमुखसे कह दिया कि मैं देवकार्यके लिये भूमण्डलपर आया हूँ; अब राक्षस ही क्या, दैत्यादि सभी विरुद्ध हो जायँ तो भी मुझे उनका नाश करना पड़ेगा। 'ठीक है, जब आपका यह अलौकिक सामर्थ्य है तब फिर हमलोगोंकी क्या

जरूरत है, और वानरसैन्यका ही फिर क्या होगा ?' यह शङ्का न हो, इसलिये आपने अपने वाक्यमें कहा है—'इच्छन्', यदि मैं चाहूँ तो। यदि मैं चाहूँ तो सङ्कल्पमात्रसे नष्ट कर दूँ, किन्तु मनुष्य और देवयोनिमात्रसे तुम अवध्य हो, यह वर रावणको दिया जा चुका है। इसलिये मैं अपने दिव्यभावको छिपाकर मनुष्यलीला करता हुआ ही रावणका दमन करना चाहता हूँ। इसीलिये मैं अपनी दिव्यशक्तिसे काम नहीं लेता। इसी आशयसे यहाँ 'हन्याम्' यह हेतुहेतुमद्भावमें 'लिङ्' कहा है। 'यदि मैं चाहता तो एक अङ्गुलिके अग्रसे मार देता, किन्तु यह नहीं चाहता।'

शरणागतरक्षणमें विलम्ब न हो, इसलिये सुग्रीवादिके विश्वासके लिये श्रीरामचन्द्र पूर्वोक्त वाक्य कह तो गये, किन्तु यह गर्वोद्धत मार्ग आपको हृदयसे सम्मत नहीं। आप तो अपने अधीनोंसे भी समानताका बर्ताव करनेवाले हैं। इसीलिये पूर्वोक्त वाक्यको मन्द करनेके लिये कहते हैं—शरणागतका रक्षा करना केवल मेरा ही धर्म नहीं, अपि तु विश्वभर इसे मानता है। और तो क्या, पशु-पक्षी भी अपने शरणागतको आश्रय देते हैं। इसी आशयसे आप आगे कहते हैं—

श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः।
अर्चितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः॥
स हि तं प्रतिजग्राह भार्याहर्तारमागतम्।
कपोतो वानरश्रेष्ठ किं पुनर्मद्विधो जनः॥

'यह आख्यायिका प्रसिद्ध है कि वृक्षरूप अपने घरमें आश्रयके लिये आये हुए अपकारक व्याधको भी कपोतसदृश

पक्षीने केवल आश्रय ही नहीं दिया, अपने शरीरके मांसतकसे उसका आतिथ्य किया। व्याध केवल जातिमात्रसे ही अपकार-कर्ता नहीं था, उसने कपोतकी प्रिय पत्नीतकको जालमें बाँध लिया था। किन्तु वह भी जिस समय उसके आश्रयमें शरणार्थी होकर आया, उसने बड़ी भक्तिसे उसको ग्रहण किया था। फिर मेरे सदृश क्षत्रियवंशजात मनुष्यका क्या यह धर्म नहीं है?'

यहाँ 'कपोतेन' से दिखाया कि वह तिर्यग्योनि होनेसे धर्माधिकारशून्य था। वह यदि ऐसा न करता तो भी उसे कोई दोषी नहीं कहता, किन्तु तो भी वह शरणार्थीपर इतना आतिथेय हुआ। भला, फिर हम मनुष्योंके लिये तो कहना ही क्या है? 'कपोतेन' इस एकवचनसे सूचित करते हैं कि वह अकेला था तो भी आतिथ्यसे विमुख न हुआ। हम तो बहुत-से ही नहीं, असंख्य सेनाको साथ लेकर आये हैं। उसने भार्याहरणके कारण घोर अपराधीके साथ भी यह सलूक किया था, यहाँ तो स्वयं विभीषण हमारा अपकारी भी नहीं। इस श्लोकमें 'शरण' पर भी महर्षिकी कुछ ध्वनि है। आप कहते हैं, कपोत तिर्यग्योनि पक्षी था। वह शरणागतधर्मका स्वाध्याय भी नहीं कर चुका था। न वह 'शरण' का वास्तविक अर्थ ही जानता था। अपने घरमें आश्रयके लिये यदि कोई आवे तो उसे अपनी तरह समझकर आराम देना, वह तो इतनामात्र समझता था। अर्थात् 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इन दो शरण-शब्दार्थोंमें केवल घरमात्रपर यदि उसे सङ्केताग्रह हो तो हो सकता है। वह भी परम्परासे, क्योंकि—

सोऽञ्जलिं शिरसा बद्ध्वा वाक्यमाह वनस्पतिम् ।
शरणं हि गतोऽस्म्यद्य देवतामिह वासिनीम् ॥

यों व्याधने वृक्षके प्रति ही आश्रयका वाक्य कहा था, न कि कपोतके प्रति । यहाँ विभीषण तो बड़े ऊँचे स्वरसे पुकार चुका है कि—'राघवं शरणं गतः ।' यहाँ स्पष्ट ही झलक रहा है कि वह मुझे रघुवंशी समझकर, मैं आश्रयदानमें समर्थ हूँ, यह दृढ़ विश्वास रखकर आया है । सो भी प्रत्यक्ष 'शरणागति' बुद्धिसे, क्योंकि 'राघवं शरणं गतः' में रक्षक अर्थ ही आपाततः अच्छा बैठता है । फिर कपोतसदृश पक्षी तो यहाँतक उसकी अभ्यर्थना करता है कि उसके शीतनिवारणके लिये अग्नि लाकर भी उसको सुख देता है । और हम तो केवल शरणार्थीकी ही नहीं, उसके दूर-दूरतकके सम्बन्धी, साथी, सँगातियोंकी भी क्या अच्छी पूजा कर रहे हैं जो कहते हैं—

बध्यतामेष तीक्ष्णेन दण्डेन सचिवैः सह ॥

कपोतने केवल सत्कार ही नहीं, 'स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः'—अपने शरीरके मांसतकको हाजिर करके भोजनके लिये प्रार्थना की ।' बाहरके कुछ आहार सामने रख दिये हों, अथवा अपना ही कुछ दूसरा सामान अर्पण किया हो, किंवा अपने शरीरका कुछ ही हिस्सा उसे भोजनके लिये दिया हो सो नहीं । महर्षि कहते हैं—'स्वैश्च मांसैः'—अपने सम्पूर्ण शरीरके मांसोंसे, जिस शरीरपर अङ्गोंको तो 'आत्मा'-बुद्धितक है । भला, अङ्ग ही क्यों, विज्ञतक 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—यह शरीर ही धर्मसिद्धिका उपाय

है—कहकर उसको इतना गौरव देते हैं, उस शरीरतकको अतिथि-के लिये दे डालना क्या शरभङ्ग ऋषिकी तरह बड़ी भारी तपस्या नहीं है? दूसरे श्लोकमें 'सः' पदसे कहते हैं कि वह—कपोत, जो पक्षी है, जिसे ईश्वरकी कृपासे हमारी तरह धर्मानुष्ठानयोग्य जाति नहीं मिली है। 'तम्' पदसे कहते हैं कि उस—व्याधको, जो जाति और स्वभावसे दोनों तरह तिरस्करणीय था। बल्कि 'पक्षिणां कालसम्मितः'—बेचारे पक्षियोंके लिये तो प्रत्यक्ष यमराज था। उसका भी उसने कितना आदर किया था? फिर वह तो यदृच्छया घूमता-फिरता हुआ, आसरा मिलनेकी आशासे इधर आ निकला था। यहाँ तो विभीषण लङ्कासे चलकर इसीके लिये दौड़ा आया है। फिर वह व्याध तो हृदयमें अनुताप भी नहीं लाया था, आनुकूल्यके वाक्य भी नहीं बोलता था, प्रत्युत बेचारे उसी कपोतकी भार्यातकका हरण करके उसको प्रत्यक्ष प्राणान्तक दुःखतक पहुँचा चुका था। विभीषणमें तो वह बात नहीं।

पाठक महोदय! जरा ध्यान दीजिये। भगवान् श्रीरामचन्द्र कितनी बड़ी गम्भीर बात कह रहे हैं। वे भार्याहर्ता व्याध और कपोतकी ही बात नहीं कहते, वे ध्वनिसे कह रहे हैं कि यदि सीताहरणका घोरापराधी रावणतक भी आवे तो भी 'शरणागति' धर्मकी तरफ देखते हुए हमें उसको भी आश्रय देना चाहिये। आश्रय ही नहीं, अपनी हानितक करके भी उसे सुखी करना चाहिये। कहिये, इस शरणागतवत्सलताकी भी कोई सीमा है? भगवान् श्रीरामचन्द्रका यह केवल हृदयगत विचारमात्र ही न था। वास्तवमें यदि अपने कर्तव्यपर पश्चात्ताप करके, अथवा,

श्रीरामचन्द्रसदृश पराक्रमीके आगे अब मेरे प्राणोंकी खैर नहीं, इस प्राणभयके कारण ही यदि रावण श्रीरामके पास आ जाता तो कोसलनरेन्द्र रघुवंशभूषण श्रीरामचन्द्र उसके सब अपराधोंको क्षमा करके अवश्यावश्य आश्रय देते, इसमें सन्देह नहीं। आगे चलकर स्वयं आज्ञा करेंगे ही—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

कहिये, त्रिलोकी ही नहीं, चतुर्दश भुवनोंमें भी ऐसी उदारताका कोई दूसरा दृष्टान्त मिलेगा ?

यहाँ 'वानरश्रेष्ठ' यह सम्बोधन भी कुछ दूसरी ही बात ध्वनित करना चाहता है। साहित्यवाले चाहे इसे 'गूढव्यङ्ग्य' भले ही कह दें, परन्तु श्रीरामचन्द्रकी लोकातिशायिनी उदारताको समझते हुए महर्षि इसे गूढ नहीं मानते। वे इस सम्बोधनसे एक वानरकी श्रेष्ठताका दृष्टान्त ध्वनित करते हैं। कथा यों है—

'कोई वानर किसी वृक्षमें स्थान बनाकर रहता था। दैवात् वह एक दिन क्या देखता है कि एक व्याध सिंहसे डरकर उसी वृक्षके पास दौड़ा आ रहा है। पीछे-पीछे सिंह भी चला आ रहा है। दयालुहृदय वानरको बड़ी दया आयी कि मेरे देखते-देखते, मेरे घरके ही नीचे यह मारा जाय, यह मेरे लिये बड़ा अनुचित है। अतएव वानरने बहुत जल्द उसे अपने वृक्षपर बुला लिया और आरामके साथ उसको आश्रय दे दिया। सिंह इस व्याधके अपकारोंसे झलाया हुआ था। उसने व्याधका पीछा

न छोड़ा । उसकी आशामें वह वृक्षके नीचे बैठ गया । मनमें झुँझलाता था कि वृक्षपर कैसे पहुँचूँ और इसे किस तरह खाऊँ ? जब यह उतरेगा तभी सँभालूँगा, इस बुद्धिसे वह उसीके नीचे बैठ गया । व्याधको वृक्षपर आश्रय देकर प्रसन्नचित्त उदार वानर तो सो गया । किन्तु सिंहसे डरे हुए व्याधको नींद कहाँ ? वानरके सो जानेपर सिंहने भेदनीति चलायी और वह व्याधसे बोला कि यदि तू इस सोते हुए बन्दरको नीचे डाल दे तो मैं इसे खा लूँ । तेरा पीछा छोड़ दूँ । सत्य है, रात-दिन पापकर्म करनेवालोंमें दया कहाँ ? व्याधने अपने बचनेके लोभमें आकर अपने शरणदाता, सोते हुए उस वानरको पेड़परसे ढकेल दिया । बन्दर नीचे पड़ते ही जग उठा । किन्तु सिंहने उसे नहीं छुआ । उसने कहा कि 'भाई ! मेरा तेरे साथ कोई वैर नहीं । तू दयालु है, जिसने सब पशुओंको अकारण मारनेवाले इस जातिवैरीको भी शरणागत समझकर आश्रय दिया । किन्तु इसकी नीचता देख । यह अपने शरणदाताका भी सँगाती न हुआ । अब मैं तुझे छोड़ता हूँ । तू अपने जातिवैरी और प्रत्यक्ष दगा करनेवाले इस शत्रुको नीचे गिरा दे । मेरा वृक्षपर चढ़नेका बस नहीं । तू इस सङ्कटमें पड़े हुए तेरे और मेरे ही क्या, जीवमात्रके वैरीको ऊपर जाकर बेखटके नीचे गिरा दे ।

'दयालु और उदारहृदय वानरसे यह क्रूर कर्म न बन सका । सिंह वानरके मनकी बात समझ गया । उसने झपटकर वानरको पकड़ लिया और कहा कि यदि तू ऊपर जाकर इसे गिरा दे तब तो छोड़ता हूँ, अन्यथा अभी तुझे मारे डालता हूँ । वानर दयालु तो था, किन्तु निर्बुद्धि थोड़े ही था ।

उसने सोचा कि यदि मैं अपने प्राण दे भी दूँ तो भी विशेष पुण्यका काम नहीं। मुझे मारकर सिंह फिर बेचारे व्याधके पीछे पड़ेगा, किन्तु मैं यदि जीवित रहूँगा तो मेरे आगे मेरे शरणागतको कोई सताये—यह नहीं हो सकता। अतएव किसी तरह अपने प्राण बचाने चाहिये। उसने कहा, अच्छी बात है, यदि इसके प्राणोंके साथ ही मेरे प्राणोंका बदला है तो मैं अभी इसको गिराता हूँ। यों कहकर वह वृक्षपर चढ़ गया। किन्तु शरणागतधर्मज्ञ उस वानरने उस व्याधसे कुछ न कहा। बल्कि बदला लेनेकी शङ्कासे डरे हुए उस किरातको धैर्य दिया कि मैं प्राण जानेपर भी तुम्हारा अनिष्ट नहीं करूँगा, तुम मेरे शरणागत हो।'

अहा! जब साधारण वानरतक अपने हृदयमें इस तरहका उदार भाव रखता है तब तुम तो सब वानरोंके सेनापति हो, सबमें श्रेष्ठ हो। तुम्हारी उदारताका क्या कहना है! भला जब तुम्हीं इतने ऊँचे विचार रखते हो तो फिर रघुवंशी मुझे ही शरणागतको त्याग करनेकी सलाह तुमसे दी जा सकेगी? जिन रघुवंशियोंने शरणागतरक्षाका झंडा दुनियाभरमें फहरा रक्खा है। महाराज दशरथने कहा था—

षष्टिर्वर्षसहस्राणि लोकस्य चरता हितम्।
पाण्डुरस्यातपत्रस्य छायायां जरितं मया॥

'साठ हजार वर्षपर्यन्त लोगोंका निरन्तर हित करते हुए इस निष्कलङ्क शुभ्र राजछत्रकी छायामें मुझे भी आज सफेदी आ गयी है—मैं बूढ़ा हो गया हूँ।' आह! उन्हीं दशरथका पुत्र मैं

हूँ । 'रामो विग्रहवान् धर्मः'—श्रीराम मूर्तिमान् धर्म हैं, यह दुनियाभरमें प्रसिद्ध हो रहा है ।

मर्यादानां च लोकस्य कर्ता कारयिता च सः ।

'वह रामचन्द्र लोकमर्यादाओंकी स्वयं रक्षा करते हैं तथा दूसरोंसे उनका पालन कराते हैं', यह सब लोग कहा करते हैं । अब यदि मैं ही शरणागतकी उपेक्षा करूँगा तो फिर लोग मुझे क्या कहेंगे ? मैं स्वयं दूसरोंसे अनुरोध करनेवाला हूँ कि—

सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नृपाणां
काले काले पालनीयो भवद्भिः ।

'यह धर्मकी पैज सब राजाओंके द्वारा समानतया रक्षणीय है ।' मैं स्वयं शरणागतका त्याग करके, भला, इन अक्षरोंके बोलनेका अधिकारी रह जाऊँगा ? ठीक है । आप कपोतके दृष्टान्तसे विभीषणको स्वीकार करेंगे यह तो समझमें आ गया; किन्तु धर्मज्ञ और विवेकी होकर आप तिर्यग्योनि कपोतका अनुकरण करें, यह कहाँतक ठीक है ? कपोतने अज्ञानसे ही तो ऐसा आचरण किया होगा ? इसमें शास्त्रकी सम्मति कहाँ है ? ऐसी आशङ्का न हो, इसलिये कण्डु मुनिकी गाथा चतुःश्लोकीको प्रमाणरूपसे उपस्थित करते हुए आप कहते हैं—

'धर्मिष्ठ और सत्यवादी महर्षि कण्डुने कहा है कि—जो दीन होकर अपने पास शरणकी याचना करता है वह चाहे शत्रु ही क्यों न हो, दयारक्षाके अनुरोधसे उसका अहित कभी न करे । वह चाहे पीड़ित हो चाहे गर्विष्ठ हो, वैरी भी यदि शरण आवे तो

अपने प्राणोंका भी त्याग करके उसकी रक्षा करनी चाहिये। जिसके पास शरणार्थी शरणके लिये जाता है और वह शरण्य भयसे, मोहसे किंवा कामसे यदि अपनी शक्तिभर उसकी रक्षा न करे तो उसको नारकीयोंसे भी अधिक पाप होता है। जिस शरण्यके देखते-देखते शरणागतका अनिष्ट होता है वह शरणागत उस शरण्यके सम्पूर्ण पुण्योंको क्षय करके वहाँसे जाता है। यों शरणागतके त्यागमें महान् दोष है। यहाँ तो अपकीर्ति और बलवीर्यादिका नाश होता है तथा आगे नरककी प्राप्ति होती है। अतएव मैं कण्डुके वचनका पालन अवश्य करूँगा, जो केवल धर्मानुकूल ही नहीं, यहाँ यश और आगे स्वर्गको देनेवाला है।' (यु० का० सर्ग १८ श्लो० २७–३२)

अथवा इसमें शास्त्रसम्मति आदिके खोजनेकी जरूरत ही क्या है ? आरम्भसे ही मेरे हृदयका यह सङ्कल्प हो गया है कि आश्रयके लिये जो मेरे पास आ जाता है उसको मैं सब संकटोंसे निर्मुक्त कर देता हूँ। बस, इसी अपनी दयालुताकी दीक्षाको दुनियाभरमें घोषित करनेके लिये श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

शरणागतिसिद्धान्तका यह अन्तिम निर्णय है। विभीषणको शरणमें लेनेके लिये अनेक उपपत्तियाँ दी गयी हैं और दी जा सकती हैं, किन्तु यह उपपत्ति सर्वोपरि है। इसका उत्तर नहीं। अथवा यों कहिये कि सम्पूर्ण शरणागतिका यही निचोड़ निकलता

है। आर्त विभीषणने 'निवेदयत मां क्षिप्रम्' के द्वारा जो अपनी शरणागतिकी अर्जी बड़ी आशासे श्रीरामदरबारमें भेजी थी उसपर इसी श्लोकमें चरम विचार है। अर्थात् 'निवेदयत मां क्षिप्रम्' श्लोकसे शरणागतिका बयानदावा, फिर विभीषणकी शरणागतिपर अङ्गद, शरभ, जाम्बवान् प्रभृति जूरियोंकी बहस, इसके पीछे 'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्' इस श्लोकके द्वारा सच्चे न्यायालयके हाकिम श्रीरामने दलीलें देकर अपनी इच्छा प्रकट की है। इसके अनन्तर खूब बहस-मुबाहिसा होनेके बाद 'सकृदेव प्रपन्नाय' इस पद्यमें श्रीरामने शरणागतिपर अन्तिम फैसला दे दिया है। अतएव इस श्लोकका महत्त्व सहज ही सबकी समझमें आ सकता है। इस श्लोकको शरणागतिका सार समझकर विशेष लक्ष्य होना आवश्यक है। इस श्लोकका अर्थ प्रसङ्गानुसार यद्यपि पहले भी आ चुका है, तथापि प्रसङ्गसङ्गतिके लिये यहाँ फिरसे लिखकर विशेष विचार किया जायगा।

'सकृदेव' श्लोकका भाव

इस श्लोकके पदोंका अन्वय अनेक प्रकारसे होता है, अतएव अर्थमें भी बहुत कुछ भेद हो सकता है। किन्तु सामान्यतया इसका अन्वय और अर्थ रामायणशिरोमणि टीकाने यह किया है कि—'सकृत्—एक बार भी 'तवास्मीति याचते' (मैं तुम्हारा हूँ, यह कहते हुए) 'प्रपन्नाय' (शरणागतके लिये) मैं 'सर्वभूतेभ्यः अभयं ददामि' (भयकारणीभूत सर्वप्राणियोंसे अभय दे देता हूँ), 'एतत् मम व्रतम्' (यह मेरा निर्हेतुक सङ्कल्प अथवा स्वभाव) है।'

यहाँ पहले 'ददामि' इस वर्तमानार्थक 'लट्' के तटको ही देखकर विचारकी गाड़ी अटक जाती है। भगवान् यहाँ अपने व्रत या सङ्कल्पको समझा रहे हैं। व्रत और सङ्कल्प पहलेसे निश्चित किया जाता है। उस समय अभयदानका याचक सम्मुख नहीं रहता। ऐसी हालतमें या तो वहाँ भविष्यत् अर्थका 'लृट्' प्रयोग करके 'अभय दान दूँगा' यह बोलना होता है अथवा 'दद्याम्' यह 'लिङ्' उचित होता है। फिर यह 'ददामि' क्यों? ठीक है। 'ददामि' इस दानकालिक वर्तमानतासे आप सूचित करते हैं कि अभयदान देना मेरा नित्य सत् स्वाभाविक धर्म है। इसीलिये 'एतन्मम व्रतम्'—अर्थात् नित्यपरिगृहीत और नित्य ही मुझमें रहनेवाला यह मेरा धर्म हो गया है। शास्त्रीय झपट्टेसे बचाकर खुलासा अर्थ यों समझिये कि भगवान्का अभयदान दो प्रकारका है—एक तात्कालिक (वर्तमान-कालिक), दूसरा आत्यन्तिक। वर्तमानकालिक अभयदान वह होता है कि किसी डरसे भागकर शरणार्थी भगवान्के पास आता है और भगवान् उस वर्तमान भयसे उसे अभय दे देते हैं। और संसारमें आने-जानेके भयसे बचा देना आत्यन्तिक अभयदान है। भगवान् अपने शरणागतके लिये इन दोनों तरहके अभयदानकी प्रतिज्ञा करते हैं। विभीषणको भगवान् तात्कालिक अभयदान तो यह देते हैं कि उसे रावणके भयसे बचा लेते हैं, और आत्यन्तिक यह देते हैं कि फिर दुनियाके यावन्मात्र भय ही उसके पास न फटकने पावें, ऐसा 'अपवर्ग' उसे दे देते हैं। इसी आशयसे सदा

वर्तमानताकी सूचना करते हुए आपने यहाँ कहा है कि—
'अभयं ददामि ।'

कितने ही साम्प्रदायिक इस तरहकी 'शरणागति' में ऊपर कहे हुए दोनों प्रकारके अभयदान एक साथ देना नहीं मानते । वह अर्थ करते हैं कि—'प्रपन्नाय आत्यन्तिकमभयं ददामि, तवास्मीति याचते च तात्कालिकमभयं ददामि ।' उनकी उपपत्ति है कि यहाँ दो अर्थोंका समुच्चय करनेवाला 'च' कहनेसे ये दो कोटियाँ अलग-अलग सिद्ध होती हैं । 'मैं तुम्हारा हूँ, यह कहनेवाले 'प्रपन्नाय' शरणागतको मैं अभय दे देता हूँ' यदि यही अर्थ होता तो फिर बीचमें 'च' की डाट देनेकी क्या जरूरत थी ? अतएव स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् 'प्रपन्नाय' और 'तवास्मीति याचते' में दो कोटि पृथक्-पृथक् मानते हुए इन दोनोंका समुच्चय करनेके लिये बीचमें 'च' (संयोजक अव्यय) डालते हैं ।

अब उनके मतानुसार 'प्रपन्न' का अर्थ समझना बाकी रहा । 'पद्' धातुका गति अर्थ है । गत्यर्थक धातुओंको ज्ञानार्थक भी माना गया है । अतः 'पत्ति' का प्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञान अर्थ हुआ । फिर 'पत्ति' के साथ यहाँ 'प्र' और जोड़ा गया है । 'प्र' का अर्थ होता है 'प्रकर्ष' । प्रतिपत्तिमें प्रकर्ष है उसकी निरन्तरता । अर्थात् 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंसे जो भक्त अपनी आत्मामें ही भगवान्‌का आरोप कर लेता है ऐसी 'प्रपत्ति' करनेवाले ब्रह्मज्ञानीके लिये भगवान् आत्यन्तिक अभय देते हैं । भगवान्‌ने गीतामें कहा भी है—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्', अर्थात् भक्त जिस तरह

भगवान्में अभेदकी भावना करता है उस तरह भगवान् भी उसको अपनेसे अभिन्न समझते हैं। उनके मतसे यही 'प्रपन्न' का यहाँ अर्थ है और वही भगवान्के आत्यन्तिक अभयदानका पात्र है।

दूसरी कोटि है 'तवास्मीति च याचते।' जिस भक्तका अभी औपाधिक ज्ञान नष्ट नहीं हुआ है, 'मैं सेवक हूँ आप मेरे सेव्य हैं', 'मैं शिष्य हूँ आप गुरु हैं', 'मैं रक्षा करनेका पात्र हूँ आप रक्षक हैं' इस तरहकी उपासना करता हुआ जो भगवान्का आश्रय लेता है उसे भगवान् तात्कालिक अभय अर्थात् जिससे उसे डर हुआ है उससे अभय दे देते हैं। तात्पर्य यहाँ यह है कि उस अधिकारीकी 'मैं और दूसरा' यह द्वैतभावना नष्ट नहीं हुई है। 'द्वितीयाद्धि भयं भवति' इस न्यायसे भय दूसरेसे ही होता है। और भगवान्को शरणागतिके कारण रक्षा करना आवश्यक हुआ। अतः—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

'जो भक्त मेरा जिस भावनासे आश्रय लेते हैं मैं उसी तरह उनसे पेश आता हूँ', इस कथनके अनुसार यहाँ भक्त 'मैं और दूसरा' यह अभ्यास रखता हुआ अभयके लिये भगवान्का आश्रय करता है अतएव भगवान् भी 'सर्वभूतेभ्यः' द्वितीयत्वेन अध्यस्त सब प्राणिमात्रसे उसे भय न हो, यह अभयदान दे देते हैं।

ठीक है। प्रमाणोंका जाल डालकर बालकी खाल यहाँ जरूर खींची गयी है, किन्तु जिस प्रकरणमें यह कहा गया है उसके अर्थसे बहुत खींचातानी करनेपर भी यह पद्य नहीं जुड़ेगा। आखिर खींचातानीमें बेचारे बालकी खाल ठहरने ही कहाँ लगी थी।

साफ़ बात तो यह है कि भगवान् विभीषणकी शरणागतिके प्रसङ्ग-में 'संकल्प' वाक्य आज्ञा करते हैं। अब आप ही देख लीजिये, प्रधान प्रसङ्ग शरणागतिका है या ब्रह्मज्ञानीको मुक्ति देनेका? फिर शरणागतिरूप सरस हरिभजनके समय 'तत्त्वमसि' का 'कपास ओटना'[१] कैसे जुड़ सकेगा? अतएव इस पद्यके अर्थको फिरसे सँभालना होगा।

आइये, पहले प्रसङ्गकी संगति मिला लीजिये। 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' के अनुसार किसी बातको दो बार दृढ़ कर देना ही काफ़ी होता है, किन्तु जब तीन-तीन बार सुग्रीवने विभीषणको आश्रय देनेका घोर विरोध किया तब तीसरी बार अनिच्छा होनेपर भी भगवान् श्रीरामने अपना दिव्य प्रभाव प्रकट किया और सुग्रीवको विश्वास दिलाया कि विभीषण और रावण तो क्या, यावन्मात्र दिव्य योनितक मेरा अनिष्ट करनेकी शक्ति नहीं रखते। अतः भयके कारण तो इसका त्याग करना ठीक नहीं। दूसरे—शरण आयेकी रक्षा करना, यह धर्म सदासे चला आया है। पशु-पक्षीतक इस आवश्यक कर्तव्यके कायल हैं। इसमें आर्ष वचन प्रमाणमें भी दिये। सब कुछ कहकर अन्तमें शरणागतकी रक्षाके विषयमें अपने चरम निश्चयरूपसे भगवान् कहते हैं—'सकृदेव प्रपन्नाय०'।

इसे और भी विशद करके कहना अच्छा होगा। शरणागत-की रक्षाको भगवान् धर्म ही नहीं, परम धर्म बतलाते हैं; किन्तु इसमें प्रमाण दिये बिना प्रधान प्रतिवादी वानरश्रेष्ठ केवल सुग्रीव

---

१ 'आये थे हरिभजनको, ओटन लगे कपास।'

ही नहीं, नरश्रेष्ठ और भी कई शास्त्रार्थी जीव माननेको तैयार नहीं। धर्मप्रमाणोंको महर्षि याज्ञवल्क्य गिनाते हैं—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥

'श्रुति, स्मृति, शिष्टाचार, अपने आत्माके लिये हितकारक और सच्चे संकल्पसे उत्पन्न हुआ आत्ममनोरथ—ये पाँच धर्मके मूल हैं।' भगवान् श्रीरामचन्द्र शरणागतरक्षारूप इस परम धर्ममें इन पाँचों प्रमाणोंको उपस्थित कर रहे हैं। 'तस्मादपि वध्यं प्रपन्नं न प्रतिप्रयच्छन्ति' इत्यादि श्रुतिप्रमाण भी दिये। फिर—

ऋषेः कण्वस्य पुत्रेण कण्डुना परमर्षिणा।
शृणु गाथां पुरा गीतां……………………॥

—इत्यादि आर्ष गाथारूप स्मृतिप्रमाण दिया। शरणागतरक्षा सदासे चली आयी है, कपोतादितक भी उसका पालन करते हैं, यों पारम्परिक शिष्टाचार दिखलाया। 'क्रूरस्वभाव भाईसे सताये हुए विभीषणको यदि आश्रय दिया जायगा तो उपकृत हुआ वह हमारी सहायता ही करेगा, अनिष्ट नहीं।' यों स्वप्रियत्व साधन किया। इस प्रकार शरणागतरक्षामें चार प्रमाण तो अबतक दिये जा चुके। अब पाँचवाँ प्रमाण रहा 'सम्यक्सङ्कल्पजः कामः।' उसीके लिये 'सकृदेव प्रपन्नाय' इस श्लोकसे भगवान् अपना सार्वदिक सत्यसंकल्प प्रमाणत्वेन उपस्थित कर रहे हैं। अर्थात् मेरे सच्चे अन्तःकरणका सदासे यह दृढ़ संकल्प रहता आया है कि प्रपन्न (शरणागत) को यावन्मात्र भयकारणोंसे अभयदान दूँ। मैं इसको

अपना एक आवश्यक व्रत समझता हूँ। अब कहिये—पाँचों प्रमाणोंने मिलकर जब पूरा 'पंच-फैसला' कर दिया तब शरणागत-रक्षाको धर्म ही नहीं, परम धर्म माननेमें आपत्ति किस तरह हो सकती है? अस्तु, यह तो हुई प्रसङ्गसङ्गति। अब अर्थपर आइये—

आपको यदि 'तवास्मीति' से 'तत्त्वमसि' का ही तत्त्व निकालना है तो पद्यका अर्थ यों करना होगा। सुनिये—यहाँ 'प्रपन्नाय' से उपायकथन है और 'तवास्मीति याचते' से फलविशेष-की प्रार्थना है। अर्थ यह हुआ कि प्रपन्न होकर, यानी भजनादि उपाय करता हुआ जो 'तवास्मि' अर्थात् मैं आपका ही एक अंश हूँ, यों तच्छेषवृत्तिलक्षणरूप सायुज्यादि फल माँगता है, भगवान् कहते हैं, उसको मैं 'सर्वभूतेभ्यो भयहेतुतया शङ्कितेभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यः'—जिन-जिनसे भयकी शंका हो सकती है उन-उन सब प्राणियोंसे, 'अभयं ददामि' अभय दे देता हूँ। अभयका अर्थ है भयका आत्यन्तिक अभाव, अर्थात् मोक्ष। 'अथ सोऽभयं गतो भवति', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'—जो ब्रह्मानन्द-का आस्वादन कर लेता है उसे फिर किसीसे भी भय नहीं रहता इत्यादि स्थलोंमें भयाभावसे स्पष्ट ही मोक्षका तात्पर्य है। क्योंकि जिस अभयको ब्रह्मविद्याके अनन्तर मिलनेवाला फल बताया जा रहा है वह 'मोक्ष' के सिवा और क्या हो सकता है?

सच पूछिये तो यह अर्थ भी शरणागतिप्रसङ्गसे कुछ दूर हट जाता है। अतएव प्रसङ्गानुगत अर्थ करना उचित होगा—'सकृदेव' का अर्थ है केवल एक बार ही। 'प्रपन्नाय' का अर्थ करते

हुए पूर्वोक्त पक्षमें जिस तरह 'पद्' धातुका ज्ञान अर्थ माना गया है उसी तरह यहाँ भी वही अर्थ है। अतएव प्रकृष्ट ज्ञानसे प्रयोजन हुआ 'मानसी' प्रपत्ति, और 'तव अस्मि इति याचते' से, मैं तुम्हारा हूँ इस याचनासे 'वाचिकी' प्रपत्ति दिखलायी है। खुलासा अर्थ यह हुआ कि जो एक बार भी 'मानसी' शरणागति अर्थात् मनके द्वारा ही भगवान्‌का आश्रय लेता है, अथवा 'मैं तुम्हारा हूँ' यों कहकर 'वाचिकी' प्रपत्ति अङ्गीकार करता है, उन दोनोंको ही मैं सर्वप्राणिमात्रसे अभय दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है।

स्वतन्त्र दो कोटि न मानकर शरणागतिमें ही दो कोटि मानी गयी हैं। अर्थात् एक मानसी प्रपत्ति और दूसरी वाचिकी। 'प्रपन्नाय' अर्थात् मानस प्रपत्ति स्वीकार करनेवालेको, 'च' (और) 'तवास्मीति याचते'—मैं तुम्हारा हूँ, कहकर वाचिक प्रपत्ति स्वीकार करनेवाले, दोनोंको ही मैं अभय देता हूँ। इस प्रकार अर्थ करनेसे 'च' के लिये जो पंचायत खड़ी हुई थी वह भी शान्त हो जाती है। भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य दोनोंमेंसे किसी भी प्रकारकी 'प्रपत्ति' स्वीकार करता है उसे मैं सब प्रकारके भयोंसे छुड़ा देता हूँ।

गजेन्द्रका बल जिस समय जलमें न चल सका और प्रबल ग्राह उसे अतल जलमें खींच ले जाने लगा उस समय आत्मरक्षाका उसको कोई उपाय न दीखा। तिलमात्र सूँड़ बाहर रह गयी थी, अतएव मन-ही-मन भगवान्‌के शरणागत होता है कि हे भगवन्! अब आप ही सहायक हैं। शरणागतवत्सल भगवान्

शीघ्रताके कारण गरुड़को भी पीछे छोड़कर तत्काल वहाँ पधारते हैं और गजेन्द्रका उद्धार करते हैं।

कितने ही यहाँ यह शंका कर सकते हैं कि यहाँ केवल मानस प्रपत्ति ही नहीं, वाचिक प्रपत्ति और भगवान्‌की सेवामें उपायन निवेदन करना भी तो वर्णित है। स्पष्ट ही तो कहा है—

उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते।

—सूँड़से एक कमल ऊँचा करके वह बड़े कष्टसे बोला—'हे जगत्‌के स्वामी नारायण! मैं आपको प्रणाम करता हूँ।' किन्तु भगवान् तो—

एवं व्यवसितो बुद्ध्या समाधाय मनो हृदि।

—जिस समय उसने मनमें ही भगवान्‌का स्मरण किया था उसी समय वैकुण्ठसे रवाना हो गये थे। तभी तो इतनी शीघ्रतासे पहुँच सके। अस्तु, यदि यह शुद्ध मानस प्रपत्ति नहीं मानी जाती हो तो और लीजिये।

कालियने भगवान्‌को साधारण मनुष्यमात्र समझकर उनसे गर्व किया, उनकी आज्ञानुसार वह श्रीयमुनाको छोड़कर बाहर न गया। बस, तत्काल ही भगवान्‌ने उसके फणोंपर चढ़कर वह ठोकर दी कि अक्ल ठिकाने आ गयी। प्रकाशमें वह नाच था, किन्तु कालियके लिये प्रलयताण्डवसे कम न था। श्रीशुक कहते हैं—वह यावन्मात्र ताण्डवोंसे विचित्र ताण्डव था, जिसकी एक-एक ठोकरमें कालियसदृश क्रूरकर्माको भी काल सम्मुख दिखायी

देने लगा, वह नाच क्या सामान्य था ? प्रसिद्ध है गँवारकी अक्ल सिरमें होती है। जैसे ही मस्तककी मरम्मत हुई कि घबरा उठा—

तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रो
रक्तं मुखैरुरु वमन्नृप भग्नगात्रः।
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं
नारायणं तमरणं मनसा जगाम॥

भगवान्‌के उस विचित्र ताण्डवसे उसके फणोंकी एक-एक नस ढीली और चूरमूर हो गयी। मुखसे रक्त बहने लगा। फण ही नहीं, उसका प्रत्येक अङ्ग टूटा जा रहा था। उस समय वह चराचरनायक उन्हीं भगवान् नारायणकी शरण गया। किस प्रकार ? 'मनसा जगाम—मनके द्वारा।' ठोकरपर ठोकरोंके कारण मुखसे 'चूँ' करनेका भी अवकाश न था, फिर प्रणामादिकी तो कथा ही क्या है ? अतएव 'मनसा अरणं (शरणम्)जगाम' स्पष्ट ही तो मानस शरणागति यहाँ है। फल भी उसका प्रत्यक्ष देख लीजिये। भगवान्‌ने तत्काल उसे अभय दे दिया। आपने कहा कि—'तुम जिसके डरसे रमणक द्वीप छोड़कर यहाँ छिपे हो उस गरुड़से अब तुमको भय नहीं। तुमपर मेरे चरणोंकी छाप पड़ चुकी, अब तुमको वह नहीं खा सकता।'

द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः।
यद्भयात्स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पदलाञ्छितम्॥

यहाँ भी कदाचित् शंकाका अवसर मिल सकता है कि कालियने आगे चलकर वाचिक स्तुति भी तो की थी। नागपत्नियोंकी स्तुति तो प्रत्यक्ष है ही, तो और लीजिये—

जिस समय भगवान् राम-कृष्ण गोचारणके लिये वनमें पधारे और गोपोंने आपसे क्षुधाकी शिकायत की कि हमें भूख सता रही है उस समय श्रीरामने आज्ञा की कि समीपमें ही ब्राह्मण यज्ञ कर रहे हैं, वहाँ यज्ञवाटमें जाकर मेरे आनेकी सूचना करो, वे अवश्य तुमको यथोचित भोजन देंगे। परन्तु कर्माभिमानी उन ब्राह्मणोंने गोपोंकी प्रार्थनापर कान न दिया। इधर गोप तो 'दण्डवत्पतिता भुवि'—भूमिमें साष्टाङ्ग प्रणाम करके अन्नके लिये प्रार्थना कर रहे हैं, उधर उन 'बालिशा वृद्धमानिनः'—मूर्ख होनेपर भी अपनेको बहुत बड़ा माननेवालोंने जब 'हाँ', 'ना' का कुछ जवाब न दिया—

न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परंतप।

—तब निराश होकर वे लौट आये। श्रीकृष्णने गोपोंको दुबारा फिर भेजा कि 'जाओ, अबके ब्राह्मणपत्नियोंके पास जाओ, और मेरा नाम लेकर भोजनके लिये कहो।' स्त्रियोंने जैसे ही भगवान्का आगमन सुना कि विविध प्रकारकी भोज्यसामग्री पात्रोंमें लेकर 'प्रियम् अभिसस्रुः' अपने प्राणप्रिय भगवान्के अभिमुख चलीं। क्योंकि 'नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः'—सदा भगवान्के दर्शनकी उन्हें प्रबल उत्कण्ठा लगी रहती थी। उनके जानेके समयकी श्रीशुकदेवजीने उपमा दी है—'समुद्रमिव निम्नगाः', नदियाँ जिस तरह समुद्रके अभिमुख जाती हैं। समुद्रकी तरफ नदियोंका जाना स्वाभाविक है और वह रोका भी नहीं जा सकता। क्योंकि 'निम्नगाः'—ढलावकी तरफ जाते हुए जलप्रवाहको रोकनेकी किसको ताकत है? उनको उनके पति-भ्रातादि सम्बन्धियोंने

रोका भी था, किन्तु 'भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः', बहुत समयसे गुणानुवाद सुनते रहनेके कारण उनका अन्तःकरण उनके पास न रहकर भगवान्‌में बस चुका था। अतएव वे भगवान्‌की शरणमें गयीं और बोलीं—आपके शरण आनेमें बाधक हुए समस्त बान्धवोंको 'अतिलङ्घ्य' उल्लङ्घन करके आपके चरणोंसे प्रसादी की हुई तुलसीमालाको अपने केशपाशोंमें धारण करनेके लिये 'तव पादमूलं प्राप्ताः'–आपके चरणोंकी शरणमें हम आयी हैं। यों प्रत्यक्षरूपसे शरणागत होती हैं।

किन्तु उनमेंसे किसी स्त्रीको उसके पतिने मकानमें बंद कर दिया और भगवान्‌के पास जानेसे रोक दिया। वह भगवान्‌के गुण सुन-सुनकर, उनकी अलौकिक रूपमाधुरीका हृदयमें ध्यान कर-करके उनमें पहलेहीसे एकान्त अनुरक्त हो चुकी थी। इस समय प्रत्यक्ष शरण जानेसे जैसे ही वह रोकी गयी, वैसे ही उसने अपने हृदयमें स्थित भगवान्‌की मानसिक शरणागति स्वीकार की। अपने अन्तःकरणमें ही भगवान्‌को आत्मनिवेदन कर दिया कि 'हे भगवन्! मैं इस भौतिक शरीरद्वारा आपकी शरण आनेमें असमर्थ हूँ। किन्तु अब आपके सिवा मेरी कोई गति नहीं। मैं आपके शरण हूँ।' बस, भगवान्‌ने उसकी 'मानस प्रपत्ति' स्वीकार करके उसे अपनी शरणमें ले लिया और सदाके लिये अभय दे दिया—

हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्॥

एक ही नहीं, मानस प्रपत्तिके ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ भगवान्‌ने अपने शरणागतको अभय दिया है।

वाचिक शरणागति तो स्थान-स्थानपर देखी जाती है। प्रायः प्रत्येक भक्तने ही भगवान्‌की स्तुति करके शरणयाचना की है, किन्तु उन सबमें कुछ-कुछ मनका भी सम्बन्ध है। परन्तु वाणीमात्र सुनकर जिसको भगवान्‌ने शरणमें लिया हो उनमें सर्वतः प्रधान अजामिल है। शरणागति कैसी, केवल अपना नाममात्र सुनकर भगवान्‌ने उसे अभय दे दिया। वह घोर पापी था। 'नष्ट-सदाचारः' दुनियामें अच्छे आचरण जो कुछ भी हो सकते हैं उसके यहाँ सब आकर नष्ट हो चुके थे। वृद्ध माता-पिता और साध्वी स्त्रीको उसने परित्याग कर दिया था। शूद्राको स्त्री बनाकर नीच कर्तव्योंसे वह अपनी आयु बिताता था। सो भी थोड़े-बहुत नहीं, अपने जीवनके अट्ठासी वर्ष खो चुका था। पुत्र-कलत्रादिमें ऐसा लीन था कि रात्रि-दिन उनकी ही भावना करते बीतता था। इस ढलते दिनमें जैसे ही उसकी आँखें मिचने लगीं, नरकोंमें ले जानेके लिये यमदूतोंने उसे पकड़ा। उनकी भयङ्कर आकृति देखकर वह एकदम घबरा गया। और तो कुछ न बना, वह अपने उस बालक पुत्रको पुकार उठा—'नारायण'। बस, शरणागति पीछे होगी, अपना नाममात्र सुनकर ही भगवान्‌ने उसको समस्त भयोंसे छुड़ा दिया। भगवान्‌के पार्षद प्रत्यक्ष वहाँ आते हैं और उसको यमपाशसे छुड़ाकर सर्वदाके लिये अभय दे देते हैं। इसीलिये भगवान् श्रीरामचन्द्र यहाँ आज्ञा करते हैं कि जो मन अथवा वचनके द्वारा एक बार भी मेरे अभिमुख हो जाता है उसे सर्वथा मैं अभय कर देता हूँ।

'वाह वा! यह तो बड़े सुभीतेका अर्थ बतलाया पण्डितजी! यज्ञ-यागादिके बड़े लंबे-चौड़े झगड़ोंसे बचा दिया। रात-दिनके अग्निहोत्रसे शरीर काला पड़ जाता है, परन्तु तो भी जरा-सा कर्मवैगुण्य होते ही सब किया-कराया चौपट हो जाता है। इतने दिनका परिश्रम बरबाद होकर फिर वही पहला दिन सामने आ जाता है। यही क्यों, तीर्थ, व्रत, नियम, उपवास आदिमें क्या कम परिश्रम है? एक दिनके उपवासमें ही लोगोंको दिनमें तारामण्डल दीखने लगता है। फिर महीनों 'अब्भक्षो वायुभक्षः' रहना क्या सहज है? पुण्याहवाचनके समय 'अवनिकृतजानुमण्डलः' भूमिमें घुटना टेककर थोड़ी-सी देर कर्मकाण्डका छोटा-सा नियम पालन करना पड़ता है। सो भी मस्तकपर कलश चढ़ाते हैं, प्रणाम करते हैं, उतनी-सी देर। इतनी ही देरमें लोगोंको बाँयटे-से आने लगते हैं, फिर भला जो ध्यान-आसनादिकी अनेक मुद्राएँ निरन्तर साधन किया करते हैं उनके काठिन्यको तो सोचिये। यह हुआ कर्ममार्गका विचार। अब आइये ज्ञानमार्गमें। दुनियाके यावन्मात्र पदार्थोंसे निर्वेद (विरक्ति) होकर 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' जहाँ वाणी और मनतककी पहुँच नहीं, बेचारे चक्षुरादि इन्द्रियोंकी तो कथा ही क्या, उस ब्रह्मकी भावनामें लीन हो जाना क्या यों ही है? लोग आजन्म 'तत्त्वमसि' की एकवाक्यता करते रहे हैं, परन्तु परिणाममें जाकर सब निस्तत्त्व रह गया है। यों तो मुखसे 'सोऽहम्' का चाहे पुरश्चरण ही करते रहें, परन्तु वास्तवमें ब्रह्ममय हो जाना क्या सबके भाग्यमें है? ब्रह्मरूप हो जानेकी बात तो जाने

दीजिये, परन्तु देह और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं इसको सच्ची तरहसे अमलमें लाना ही, कहिये, कितनोंसे बन पड़ता है? परन्तु आपने तो बड़ा सीधा रास्ता निकाल दिया। या तो मनमें भगवान्‌का ध्यान कर लिया या मुखसे कह दिया कि मैं तुम्हारा हूँ। बस, सारे झंझटोंसे बच जायँगे। हम लाख भी दोष करें, भगवान् फिर उधर दृष्टि ही न देंगे। हमको निर्भय कर देंगे।'

ठीक है। आपने यज्ञ-यागादि, तपस्या, ब्रह्मज्ञान आदि सबसे भगवान्‌की शरणागतिको सरल समझ लिया, और सन्तोष भी कर लिया, यह बहुत अच्छा हुआ। परन्तु जरा मार्मिक विचार कीजिये तो आपको मालूम हो जायगा कि यह उन सबकी अपेक्षा कठिन है या सरल। शरणागति तो आगेकी बात है, भगवान्‌के अभिमुख हो जाना ही विरलोंके भाग्यमें होता है। जो प्रकृतिसे ही दैवजीव हैं और जिनपर भगवान्‌का अनुग्रह होता है वही दुनियामें रहते हुए भी उसे पीठ देकर भगवान्‌के अभिमुख होते हैं। भक्त बनायेसे नहीं बनता। 'ठोक-पीटकर वैद्यराज' चाहे बन जाय, पर भगवदनुगृहीत भक्त हो जाना हाथकी बात नहीं। भगवान्‌की इच्छा और कृपाकी बात है। प्राक्तन अच्छे संस्कारके बिना लाख सिखानेपर भी भगवान्‌की ओर आदमी सहजमें मुड़ नहीं सकता। भक्त उद्धवको बाल्यावस्थामें कौन तालीम देने बैठा था कि तुम भक्त बनो। परन्तु उनका मानसिक प्रवाह आरम्भसे ही भगवान्‌के अभिमुख था। और बालक रास्तेमें नाना तरहके खेल खेलते, परन्तु वे खेल भी भगवान्‌के ही करते। माँ कहती—'बेटा! बहुत देर हो गयी, अब कलेवा कर लो।' खेलमें

मस्त हुए वे कहते—'वाह ! तुम देखती नहीं, अभी ठाकुरजीको नहलाया है । शृङ्गार करके फिर कलेवा करूँगा ।' अहा ! धन्य है वह भाग्यवान् बालक, और वन्दनीय है उसकी जननी माता, जिसका पुत्र भगवान्‌की क्रीडामें अपने आपको भी भूल जाता है । बालक भगवान्‌की सेवाके खेलमें ऐसा लीन है कि दूसरी तरफ न उसकी दृष्टि है, न चित्त । जब वह अपनेको ही भूला हुआ है तब कलेवा कैसा ?

इसे आप भक्तिके गौरवके लिये बनायी हुई बात न समझें, बालकका स्वभाव ही है कि वह जिसमें लीन होता है फिर सबको भूल जाता है । रोते हुए, और तो क्या, शरीरमें जिसके कुछ वेदना हो ऐसे भी बालकको आप खिलौना देकर उसमें कैसा लीन कर देते हैं ? बस, उद्धव भी अपने खेलमें एकदम तन्मय हैं । शृङ्गार कर लेनेके बाद फिर आगेकी सेवा शुरू हो जाती है, कलेवा भूल जाते हैं । घरके काम-काजमें लगी हुई बेचारी माता आकर देखती है—कलेवा पड़ा-पड़ा सूख रहा है । पुत्र-स्नेहसे विह्वल होनेके कारण उसकी आँखसे आँसू बहने लगता है, वह गद्गद होकर कहती है—'बेटा ! दुपहर होता आया, अभीतक तैंने कुछ नहीं खाया । और बालक तो दो-दो, तीन-तीन बार खा-पी चुके ।'

जो जन्मसे ही इस तरह भगवान्‌की तरफ लौ लगाये उत्पन्न होते हैं उन्हींको भगवान्‌की शरणागतिबुद्धि होती है । यह बात बिल्कुल, सोलहों आने सत्य है कि शरणागत हो जानेपर भगवान्

दीजिये, परन्तु देह और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं इसको सच्ची तरहसे अमलमें लाना ही, कहिये, कितनोंसे बन पड़ता है? परन्तु आपने तो बड़ा सीधा रास्ता निकाल दिया। या तो मनमें भगवान्‌का ध्यान कर लिया या मुखसे कह दिया कि मैं तुम्हारा हूँ। बस, सारे झंझटोंसे बच जायँगे। हम लाख भी दोष करें, भगवान् फिर उधर दृष्टि ही न देंगे। हमको निर्भय कर देंगे।'

ठीक है। आपने यज्ञ-यागादि, तपस्या, ब्रह्मज्ञान आदि सबसे भगवान्‌की शरणागतिको सरल समझ लिया, और सन्तोष भी कर लिया, यह बहुत अच्छा हुआ। परन्तु जरा मार्मिक विचार कीजिये तो आपको मालूम हो जायगा कि यह उन सबकी अपेक्षा कठिन है या सरल। शरणागति तो आगेकी बात है, भगवान्‌के अभिमुख हो जाना ही विरलोंके भाग्यमें होता है। जो प्रकृतिसे ही दैवजीव हैं और जिनपर भगवान्‌का अनुग्रह होता है वही दुनियामें रहते हुए भी उसे पीठ देकर भगवान्‌के अभिमुख होते हैं। भक्त बनायेसे नहीं बनता। 'ठोक-पीटकर वैद्यराज' चाहे बन जाय, पर भगवदनुगृहीत भक्त हो जाना हाथकी बात नहीं। भगवान्‌की इच्छा और कृपाकी बात है। प्राक्तन अच्छे संस्कारके बिना लाख सिखानेपर भी भगवान्‌की ओर आदमी सहजमें मुड़ नहीं सकता। भक्त उद्धवको बाल्यावस्थामें कौन तालीम देने बैठा था कि तुम भक्त बनो। परन्तु उनका मानसिक प्रवाह आरम्भसे ही भगवान्‌के अभिमुख था। और बालक रास्तेमें नाना तरहके खेल खेलते, परन्तु वे खेल भी भगवान्‌के ही करते। माँ कहती—'बेटा! बहुत देर हो गयी, अब कलेवा कर लो।' खेलमें

मस्त हुए वे कहते—'वाह ! तुम देखती नहीं, अभी ठाकुरजीको नहलाया है। शृङ्गार करके फिर कलेवा करूँगा।' अहा ! धन्य है वह भाग्यवान् बालक, और वन्दनीय है उसकी जननी माता, जिसका पुत्र भगवान्की क्रीडामें अपने आपको भी भूल जाता है। बालक भगवान्की सेवाके खेलमें ऐसा लीन है कि दूसरी तरफ न उसकी दृष्टि है, न चित्त। जब वह अपनेको ही भूला हुआ है तब कलेवा कैसा ?

इसे आप भक्तिके गौरवके लिये बनायी हुई बात न समझें, बालकका स्वभाव ही है कि वह जिसमें लीन होता है फिर सबको भूल जाता है। रोते हुए, और तो क्या, शरीरमें जिसके कुछ वेदना हो ऐसे भी बालकको आप खिलौना देकर उसमें कैसा लीन कर देते हैं ? बस, उद्धव भी अपने खेलमें एकदम तन्मय हैं। शृङ्गार कर लेनेके बाद फिर आगेकी सेवा शुरू हो जाती है, कलेवा भूल जाते हैं। घरके काम-काजमें लगी हुई बेचारी माता आकर देखती है—कलेवा पड़ा-पड़ा सूख रहा है। पुत्र-स्नेहसे विह्वल होनेके कारण उसकी आँखसे आँसू बहने लगता है, वह गद्गद होकर कहती है—'बेटा ! दुपहर होता आया, अभीतक तैंने कुछ नहीं खाया। और बालक तो दो-दो, तीन-तीन बार खा-पी चुके।'

जो जन्मसे ही इस तरह भगवान्की तरफ लौ लगाये उत्पन्न होते हैं उन्हींको भगवान्की शरणागतिबुद्धि होती है। यह बात बिल्कुल, सोलहों आने सत्य है कि शरणागत हो जानेपर भगवान्

उसके सब अपराध क्षमा कर देते हैं और उसको अभय (मोक्ष) दे देते हैं । किन्तु दुनियासे मुँह मुड़ जाना और भगवान्‌की तरफ मुख हो जाना यही तो कठिन है । यह क्यों, सब जानते हैं और नाना तरहकी समालोचनाएँ भी किया करते हैं कि कलियुगमें नाम-जपसे ही मुक्ति हो जाती है; परन्तु आप ही देख लीजिये, नाम-जपपर पूर्ण विश्वास करके इस सहज नुसखेसे कितने आदमी फायदा उठाते हैं ? हमारे शरीरमें घोर रोग रहता है, उसके कारण हम बड़ी-बड़ी तकलीफें उठाते हैं, परन्तु छोटा-सा उपाय हमसे नहीं हो पाता । पड़ोसीकी बतायी हुई साधारण-सी दवा लाकर न घोटी जाती है और न पीयी ही जाती है । रोगमें छटपटाते रहते हैं । बतलानेवालेने कहा है कि कौड़ियोंकी दवा है और हम भी जानते हैं कि बड़ी सीधी-सी बात है; परन्तु फिर भी न हमसे दवा होती है, न रोग जाता है । बात यह है जब भगवत्कृपा होगी, तभी हमसे सीधे-से-सीधे उपाय भी बन आयँगे, अन्यथा हम विचार ही करते रह जायँगे और समय निकल जायगा ।

जन्मदरिद्रका दृष्टान्त सुना ही होगा—एक मनुष्य बड़ा दरिद्र था, उसके कारण बहुत दुःख पाता था । घर और वंशका वह अच्छा था, परन्तु भीतर जो उसकी नाजुक दशा थी उसको वही जानता था । उसके उस दारुण दुःखको देखकर एक परमदयालु सिद्ध दयार्द्र हो पड़े । चुपचाप उसे बुलाकर अपनी झोलीसे पत्थर-का एक टुकड़ा देकर कहा कि ले, इस पत्थरको ले जा, लोहेके लगा देना । वह सोना हो जायगा । तू इस उपायसे अपनी दरिद्रताका

दुःख मिटा ले। किन्तु चार महीनेके बाद मैं जब लौटूँगा तो यह पत्थर लेता जाऊँगा।

ये घरमें आये और बड़े प्रसन्न हो रहे थे कि अब अपनी दरिद्रतासे छुटकारा पा गये! एक दिनमें ढेर-के-ढेर लोहेके इसे छुआ देंगे। बस, फिर क्या है, जन्मभरके लिये छुट्टी हो गयी। आप प्रतिदिन लोहेका भाव पूछते रहे। अभी महँगा है; क्या जल्दी है, चार महीने पड़े हैं। एक दिनमें तो सोनेसे घर भरा जाता है। बस, रोज भाव पूछते-पूछते ही चार महीने बीत गये। यह सोच रहे थे कि आज चार महीने हुए हैं। क्या साधूजी अंग्रेजी टाइम थोड़े ही साधते हैं। दो-चार दिनमें आयेंगे तबतक लोहा लाकर दरिद्रताको दूर भगाये देते हैं। संयोगकी बात है, ठीक चौथा महीना समाप्त होते ही उसी दिन साधु आये और उन्होंने कहा कि कहाँ है वह पत्थर? अब ये क्या कहते। घरमें सब कुछ ढूँढ-ढाँढनेपर भी उस समय छोटी-छोटी दो लोहेकी कीलें ही मिलीं जिन्हें ये पत्थरसे लगा पाये। बाकी फिर वैसे-के-वैसे ही।

आप देखिये, कितना सरल उपाय था। बस, लोहेपर पत्थर छुआ देना ही तो था। कीमिया करनेके लिये, इमीटेशन बनानेके लिये कितनी फूँका-फाँकी करनी पड़ती है; परन्तु इसमें तो हाथ हिला देनेभरकी देर थी। किन्तु वह भी उस जन्मके भाग्यवान्से हुआ? सरल-से-सरल उपाय भी हुआ तो क्या गर्ज, उसका बन आना तो शर्त है। नामी हकीमकी अक्सीर दवा दामनकी दामनमें बँधी रह जाती है और हमारा दम निकल जाता है।

बस, यही खेल यहाँ होता है। हम भक्तिग्रन्थ खूब पढ़ लेते हैं। शास्त्रज्ञान खूब हो जाता है। हजारों बार हमारी आँखोंके नीचे होकर यह लेख निकल जाता है कि भगवान्‌की शरणागति हो जानेपर मनुष्यको कोई भय नहीं रहता, परन्तु इस शरणागतिके अभिमुख आजतक नहीं होते। तीर्थस्थानोंमें देखा है, पास ही सिद्ध-पीठ देवमन्दिर है, परन्तु वहाँ नहीं जाया जाता। और हजार काम दूर-दूरके हमसे बन आते हैं; परन्तु देवदर्शनके लिये नित्य विचार ही करते रहते हैं, जा नहीं पाते।

असल बात यह है कि हम चाहे अपने मनमें चाहा करें, क्या होगा? जब भगवान् चाहेंगे तभी हम दुनियासे मुड़ेंगे और भगवान्‌के अभिमुख हो सकेंगे। और भगवान् भी तभी चाहते हैं जब हमारा दृढ़ अनुराग और सच्ची भावना देख लेते हैं, हमें उसका पात्र समझ लेते हैं। आप ही देख लीजिये कि जिस समय हम भगवान्‌की तरफ मुड़े और भगवान्‌ने हमें अङ्गीकार कर लिया, फिर क्या हमें कुछ अप्राप्य रह जायगा? एक पुरुषार्थ क्या, चतुर्वर्ग हमारे पीछे-पीछे चलेंगे। भगवान् हमारे वशीभूत हो जाते हैं। तब इतना बड़ा उच्च अधिकार देनेके लिये भगवान् क्या कुछ नहीं सोचें-समझेंगे?

असल तो यह है कि शरणागत हो जानेपर हमारा सब भार भगवान्‌पर ही हो जाता है। जहाँ हम भगवान्‌की शरणमें गये और 'मैं आपका हूँ' यह निवेदन किया, वहींसे हमारी सब चिन्ताएँ भगवान्‌पर ही जा पड़ती हैं। हम निश्चेष्ट हो जाते हैं,

हाथ-पैरतक नहीं हिलाते। सब कुछ हमारे लिये भगवान् ही करते हैं। चाहे हम अपने हृदयमें न भी सोचें, परन्तु भगवान्‌का यह व्रत है कि जो मुझमें आत्मार्पण कर देते हैं उनका योगक्षेम मैं करता हूँ। आप किसी सज्जनके यहाँ पाहुने होते हैं तब आप घरसे अधिक आरामकी आशा नहीं कर सकते। न अपने आराम-के सब सामानकी चिन्ता ही करते हैं। दूसरेके स्थानपर जाकर हमें जैसा भी सुभीता मिल जाता है, हम सन्तोष कर लेते हैं, मुखसे नहीं कहते। परन्तु जैसे ही आपका डेरा उनके मकानमें हुआ कि उनको उसी समयसे आगे-से-आगे आरामका इंतजाम करना पड़ता है। वे बेचारे सोते-सोते भी किसी बातकी याद आनेपर चौंककर उठ बैठते हैं, और नौकरको बुलाकर कहते हैं—'अरे भाई शामके लिये उनके वास्ते सवारीका प्रबन्ध करना मैं भूल गया। शायद वे 'रामनिवासबाग' देखने जायँगे।' कहिये, साधारण ज्ञान रखनेवाला आरामतलब मनुष्यतक अपने प्राघूणिक-की इतनी चिन्ता रखता है कि अपना खाना, पीना, सोनातक किरकिरा कर देता है। बहुत-से इसी क्लेशके कारण किसी प्राघूणिकको अपने खास रहनेके स्थानमें नहीं ठहराते। दूसरे मकानमें टिकाते हैं, जिसमें कुछ कमी भी रह जाय तो अपनी इतनी जिम्मेवारी नहीं रहती; कुछ जरूरत होनेपर प्राघूणिक अपने-आप भी प्रबन्ध कर लेता है। और हमें यह कहनेका अवसर भी रहता है कि आपने कहलाया क्यों नहीं, तत्काल प्रबन्ध कर दिया जाता। आजकल तो खैर पाहुनोंके लिये होटल-का द्वार खुला है। केवल बिल चुका देना पड़ता है। किन्तु

जिन आतिथेयोंके यहाँ अतिथिका पैंड-पैंडपर ध्यान रक्खा जाता है उनकी चिन्ता वही जानते हैं। फिर अतिथि तो कुछ कालके ही लिये आता है और सब बोझ हमपर रखना भी नहीं चाहता, परन्तु शरणागतका तो सब बोझ भगवान् अपने ऊपर समझते हैं। फिर आप ही देख लीजिये, सहसा इतना बड़ा अधिकार न तो हमें मिल ही सकता है और न बिना सोचे-समझे भगवान् ही हमें अभिमुख कर सकते हैं।

साफ़ बात तो यह है कि यदि हमें भगवान्‌का माहात्म्य कुछ भी मालूम है, हमारी उनमें कुछ भी भक्ति है और हृदयमें उनके प्रति कुछ भी प्रेम है तो लाख तकलीफ़ उठाकर भी हम भगवान्‌की भक्ति करेंगे। लोग विघ्न डालेंगे,हमें तकलीफ़ पहुँचायेंगे और हम उन विघ्न-बाधाओंको हटाकर तकलीफ़ोंको सहकर भी भगवान्‌की तरफ ही जायेंगे। हम अपने आरामको और उपायोंकी सरलताको नहीं देखेंगे। हम देखेंगे अपने ध्येयको। हमको भगवान्‌की तरफ भावना है और उनसे मिलनेकी चटपटी है तो लाख दुःख सहकर भी हम उनके मिलनेके उपाय करेंगे। इसके विरुद्ध—दूसरी तरफ जानेमें अनेक आरामके लालच भी दिये जाते होंगे तो भी हम उस ओर नज़र-तक नहीं डालेंगे। जिसकी तरफ जिसकी लगन लग जाती है वह आरामको नहीं देखता। वह तो उसकी प्राप्तिपर लक्ष्य रखता है। किन्तु जो आराम देख रहा है उसकी लगन सच्ची नहीं, उसकी लगन तो सरलतापर है। मान लीजिये आपको सुवर्णकी जरूरत है, आप उसके लिये कहाँ-कहाँ जायँगे, कितने-कितने कष्ट उठायेंगे। हम कहेंगे, 'भाई! इतना दुःख क्यों उठाते हो। लो, उसके स्थान-

में यह पत्थरका टुकड़ा ले लो।' तो क्या आप मान जायँगे? पत्थरके मिलनेमें कोई श्रम नहीं, परन्तु हम श्रम करके भी लेते हैं सोना। क्योंकि हमको जरूरत तो उसकी है।

बस, इसी तरह जो सच्चे श्रेयःकामुक हैं वह अपने श्रेय और ध्येयकी ओर ही दृष्टि रखते हैं, उपायकी सरलतापर लट्टू नहीं होते। चाहे हमें कितनी ही तकलीफ़ें मिलें, कितना ही परिश्रम करना पड़े; परन्तु हमें वास्तविक सत्य सुख, सच्चा जो हमारा प्राप्तव्य है वही मिलना चाहिये। उसकी प्राप्तिके लिये चाहे कठिन-से-कठिन जप, तप, यज्ञ, दान, उपवासादि करने पड़ें, चाहे तीर्थ-तीर्थ घूमना पड़े, परन्तु प्राप्त करना हमें वही है। हमारी दृष्टि हमारे प्राप्तव्यपर है, सरलतापर नहीं। जो यज्ञ, याग, तपस्यादिको कठिन समझकर सरलताको टटोलते हैं, मालूम होता है, वे अपने प्राप्तव्यपर दृढ़ नहीं हैं। मजनूको अपनी प्रेयसी लैलापर इतना प्रेम था कि उसकी प्राप्तिके लिये उसे कोई कैसी भी कठिनाईका काम बताता तो वह उसकी प्राप्तिकी उमंगमें उसे प्रसन्नचित्तसे करने लगता। किसी दुष्टने कुएँको दिखाकर कहा कि तुम्हारी लैला इसीमें छिपी हुई है, तुम उसे पा सकते हो, फिर क्या था, वह अपनी तकलीफ़ोंका वादाबर्द किये बिना ही तत्काल उसमें कूद पड़ा।

जो यह कहते हैं कि अमुक उपाय कठिन है, यह सरल है, वह अपने लक्ष्यपर ही दृढ़ नहीं। यदि कोई उपाय सरल हो और उसके द्वारा उनकी चाही हुई चीज़से दूसरी चीज़ मिलेगी तो क्या

वह ले लेंगे ? और यदि अपनी चाही चीजके लिये उन्हें कठिन परिश्रम करना पड़ेगा तो छोड़ देंगे ? इसलिये सरलताकी बात तो विचारपूर्ण नहीं। सच्चे भक्त और भगवान्के प्रेमियोंको तो चाहे कितना भी कठिन उपाय और परिश्रम करना पड़े, उन्हें इसकी कोई परवा नहीं, उन्हें तो प्रयोजन है भगवान्से। उनका प्राप्तव्य, उनका लक्ष्य, उनका प्रेष्ठ, जहाँ होगा उसी ओर वे अभिमुख हो जायँगे। परन्तु वे उसीके द्वारा उसे पाना चाहते हैं, अर्थात् उनका उपेय भी वही और उपाय भी वही। अतएव उसको पानेके लिये वे उसीके शरण आते हैं, दूसरी ओर चाहे कितनी ही सरलता हो उनकी नज़र नहीं जाती। बस, समझ लीजिये, ऐसे ही भक्तोंकी यह बात है और वही 'प्रपत्ति' के अधिकारी भी हैं।

अब रही यह कि जैसा लोग समझते हैं 'प्रपत्ति' क्या उतनी सरल है ? जो जन्मसे ही भगवान्का अनुराग लिये उत्पन्न होते हैं अथवा जिन भक्तोंको शापादिके कारण साधारण कुटुम्बमें जन्म मिला है उनके विषयमें तो पहले कह आये हैं, उनकी बात तो जाने दीजिये। किन्तु अन्य पुरुषोंका भगवान्के अभिमुख होना और उनकी भक्तिमें लीन हो जाना क्या सहज ही है ? शैशवसे ही संसारी प्रवाह एकके अनन्तर एक ऐसा चलता है कि मरते दमतक मनुष्यको अवकाश नहीं लेने देता। चौदह-पन्द्रह वर्ष-तककी बाल्यावस्था तो अज्ञान दशा गिनी जाती है। परन्तु यौवनका आरम्भ जैसे ही होता है और मनुष्य विवाह करके गृहस्थाश्रममें जैसे ही प्रवेश करता है वैसे ही वह धनैषणा-

पुत्रैषणादिके चक्करमें ऐसा पड़ता है कि इनके सिवा दूसरी ओर ताकनेका ही अवसर नहीं मिलता। प्रथम तो स्त्री और धन यही इतने आसक्तिकर्ता और प्रतिबन्धक हैं कि इनकी मायामें पड़कर मनुष्यको दूसरा ज्ञान ही नहीं रहता। दुनियाके वैज्ञानिकोंने जिसकी दृष्टिमें ही इतना भयंकर असर बतलाया है कि उसके पड़ते ही जादूकी तरह आदमी खिंच जाता है, उस स्त्रीके मोहसे अलग होना क्या सहज है? अज्ञोंकी बात तो जाने दीजिये, किन्तु जो लोक और शास्त्र दोनोंमें पण्डित हैं वे भी ऐसे सपाटेमें आते हैं, उनतकको अपना भान नहीं रहता, फिर दूसरोंकी क्या कथा। प्रत्युत लोगोंका तो यहाँतक कहना है कि समझदार लोग ही ज़्यादा चक्करमें पड़ते हैं। किसीने कहा है—

अज्ञास्तरन्ति पारं विज्ञा विज्ञाय मज्जन्ति।
कथय कलावति! केयं तव नयनतरङ्गिणीरीतिः॥

'अजान आदमी चाहे पार उतर जायँ, परन्तु विज्ञ लोग जानते हुए भी उसमें डूब जाते हैं। अतएव हे अद्भुतकलाशालिनी! बतलाओ, तुम्हारी इस नयननदीकी यह क्या नयी रीति है [नदीमें उसकी थाह या तैरना नहीं जाननेवाले डूब जाते हैं और जानकार पार उतर जाते हैं, किन्तु यहाँ विपरीत है]?'

साधारण ज्ञानियोंकी तो क्या चलायी, जगत्प्रसिद्ध प्रभावशाली विश्वामित्र आदि ऋषितक इस फंदेसे नहीं बच पाये। जो ऋषि सङ्गसे बचनेके लिये जंगलमें चले गये, इन्द्रियोंको क्षीणबल करनेके लिये केवल दर्भके अङ्कुरमात्र भोजन करते थे

उन्हें भी इस जादूने ऐसा घड़ेमें लिया कि आजतक क़ैदसे नहीं छूटे। कालिदास कहते हैं——

पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्ति-
श्चरन्मृगैः सार्द्धमृषिर्मघोना।
समाधिभीतेन किलोपनीतः
पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥

'दर्भाङ्कुरमात्र भोजन करके मृगोंके साथ विचरनेवाले शातकर्णि ऋषिको समाधिसे डरे हुए इन्द्रने पाँच अप्सराओंके यौवनरूपी कूटयन्त्रमें क़ैद कर लिया।'

धनकी मायाको सब लोग जानते हैं। 'निन्यानवेका फेर' दुनियामें प्रसिद्ध है। यह वह मदिरा है जिसके हाथमें आते ही आदमी नशेमें बेहोश हो जाता है। बिहारी कहते हैं—

कनक कनकसों सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात है, यह पाये बौराय॥

बात तो यह है कि कान्ता और कनक,—भवसागरके दो भयंकर भँवर हैं। इनमें पड़े पीछे आदमीकी तो क्या कथा, बड़े-बड़े ज्ञानके जहाज़ भी डूब चुके हैं। ठीक ही तो कहा है—

वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च।
तासु तेष्वप्यनासक्तः साक्षाद् भर्गो नराकृतिः॥

'विधाताने कान्ता और कनक, दो प्रकारके भयानक चक्र बनाये हैं। इनमें अनासक्त रहकर जो बच जाता है उसे नरके रूपमें साक्षात् शिव समझना चाहिये।' जब दो ही चक्रोंका यह

हाल है तब मनुष्यके पीछे तो ग्यारह चक्करोंका सामान हरदम साथ रहता है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और सबके नेता मनीराम, इस तरह ये ग्यारहों भयंकर रुद्र समयपर वह रौद्र रूप धारण कर लेते हैं कि मनुष्य सदाके लिये आपत्तियोंमें फँस जाता है। मनुष्यकी इन्द्रियलालसा और मस्ती थोड़े दिनकी होती है, किन्तु उसका स्थायी परिणाम सदाके लिये उसे हीन कर डालता है। ज्ञानियोंने कहा है—

कतिपयदिवसस्थायिनि मदकारिणि यौवने दुरात्मानः।
विदधति तथापराधं जन्मैव वृथा यथा भवति॥

'चंद दिनके पाहुने, किन्तु नशीले इस यौवनमें अज्ञानी लोग वह अपराध कर बैठते हैं जिससे जवानी ही क्या, उनका सम्पूर्ण जन्म ही व्यर्थ हो जाता है।' एक आपत्ति हो तो उसका उपाय किया जाय, परन्तु चारों तरफसे जहाँ खींचा-तानी मची हो वहाँ बेचारा मनुष्य क्या कर सकता है। परमहंसशिरोमणि भगवान् शुक कहते हैं—

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥

'एक ओर जिह्वा खींचती है तो दूसरी तरफ तृष्णा, इधर कामेन्द्रिय खींच ले जाना चाहती है तो कभी त्वचा और पेटका प्रश्न प्रबल हो उठता है। उससे बचता है तो कर्णेन्द्रियके द्वारा

खींचा हुआ दूर बह जाता है। वहाँसे बचने भी नहीं पाता है कि थोड़ी ही देरमें सुगन्धकी डोरीसे दूसरी ही तरफ खिंच जाता है। इधरसे अभी छुटकारा भी नहीं हुआ कि ये चपल आँखें दूसरी ही ओर ढकेल ले जाती हैं। जिस तरह एक घरवालेके कई स्त्रियाँ हों और वे जिस तरह उसकी खींचातानीमें अच्छी तरह मरम्मत करती हैं वही दशा इस मनुष्यकी है।' महर्षि व्यास तो खींचातानी भी नहीं कहते, वह तो कहते हैं 'लुनन्ति'। एक शरीर हो और उसको खींचनेवाली दो-चार नहीं 'बह्वयः' बहुत-सी। सो भी कौन? 'सपत्न्यः!' सौतें, जिनका बैर जगत्प्रसिद्ध है। बस, फिर वहाँ छिन्न-भिन्न होनेमें क्या कसर है? प्रत्येक चाहती हैं कि समूचे गृहपतिको मैं ले जाऊँ। अतएव बड़े जोरके साथ चारों ओरसे 'रस्से खींचनेकी कसरत' हो रही है। अब कहिये, टुकड़े होनेमें कुछ बाकी रहेगा? इसी कारण तो व्यासजीके अक्षर हैं—'लुनन्ति'।

इस खींचातानीके मैदानमें दिमागको सही-सलामत रखकर भगवान्‌के आगे अभिमुख होना, सच कहिये, क्या सीधी बात है? यदि किसी तरह सत्सङ्गके कारण इस चक्करसे छुटकारा भी मिला और भगवत्प्राप्तिके लिये साधना भी आरम्भ की तो अनेक विघ्न ऐसे आते हैं कि जिनके कारण साधन होना कठिन ही नहीं, असम्भव-सा हो जाता है। यदि उस घाटीको भी उलाँघकर साधन-में लगा ही रहा तो प्रथम नाना देवता ही उसकी मतिको व्यामुग्ध कर देते हैं, जिससे वह स्वर्गादिके सुख, भोग, साम्राज्य, मन्वन्तरायु आदिके लालचमें पड़कर शरणागतितक पहुँचता ही नहीं। बच्चे-

को हम जिस तरह चमकीले खिलौनोंसे भुला लेते हैं इसी तरह देवता लोग भगवच्छरणागतिके लिये दृढ़निश्चय हुए साधककी मतिको डुला देते हैं। और तो क्या, ध्रुव, प्रह्लाद-सदृश भगवद्भक्तोंतकपर ये देवता लोग अपनी करतूत चलानेमें नहीं चूकते। भगवान्के अनुगृहीत बालभक्त ध्रुवतक देवताओंके प्रलोभन-में पड़ जाते हैं। वे तक पश्चात्ताप करते हैं कि 'हाय! महर्षि नारदने मुझे पहले ही चेता दिया था कि देवता तुम्हारी मतिको बिगाड़ेंगे, परन्तु तुम दृढ़ रहना। भगवान्के सिवा कुछ मत चाहना। परन्तु हतभाग्य मैंने परात्पर नारायणके पास पहुँचकर भी 'अन्तवत्'—जिनका कभी-न-कभी अन्त होता है, ऐसे पदार्थ स्वीकार कर लिये!'

और तो और, स्वयं भगवान् पहले भक्तको चक्करमें डालते हैं। उसे यथेच्छ वरदान देकर अपनी भक्ति देना और अपनी शरणमें लेना बचा लेते हैं। महाभागवत प्रह्लादसे बढ़कर भगवत्कृपा किसपर हुई होगी, जिनके वचनको सत्य करनेके लिये अचेतन—अस्थान—खंभेमें भगवान्को प्रकट होना पड़ा। आपको अपने भक्तका अनिष्ट करनेवाले असुरपर इतना क्रोध आया कि ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि देवता, ऋषि, पित्रीश्वर आदि सभीने स्तुति करके आपका क्रोध शान्त करना चाहा, परन्तु न हो सका। उनकी साक्षात् प्रेयसी श्रीलक्ष्मीजी भी भगवान्को अनुकूल न कर सकीं। हद हो गयी। जहाँ प्राणप्रिया श्रीलक्ष्मी भी अकृतकार्य हो रही हैं वहाँ उनसे बढ़कर भगवत्प्रिय भला कोई मिलेगा जो भगवान्को प्रसन्न करे? परन्तु ब्रह्मा प्रह्लादसे कहते हैं—'तात! प्रशमयोपेहि स्वपित्रे कुपितं प्रभुम्॥' 'हे तात! तुम्हारे पितापर कुपित हुए प्रभुको

तुम्हीं प्रसन्न करो ।' आहा ! यहाँ 'प्रभु' पदसे कितना भाव सूचित किया गया है । हमलोग हजार प्रसन्न करनेके उपाय करते हैं, परन्तु प्रसन्न करनेका यत्न भर हमारे अधीन है । प्रसन्न होना हमारे हाथकी बात नहीं, क्योंकि वे प्रभु हैं । वे प्रसन्न होना चाहेंगे तभी हमारे प्रयत्नोंको स्वीकार करेंगे ।

प्रह्लाद भगवान्‌के चरणोंमें जा गिरते हैं । जैसे ही प्रह्लादको अपने चरणोंमें पड़ा हुआ देखते हैं, दयालु भगवान्‌की मनोवृत्ति दूसरी हो जाती है । कालाग्निकी तरह जो प्रचण्ड कोप चढ़ रहा था वह दूधके उफानकी तरह अतर्कित शान्त हो जाता है । अपने प्राणप्रिय भक्तको देखकर आपका हृदय गद्गद हो उठता है । बड़े प्रेमसे आप स्वयं अपने हाथसे प्रह्लादको उठाते हैं और प्रेममें मग्न होकर उसके मस्तकपर अपना श्रीहस्त धरते हैं । कैसा श्रीहस्त ? जो 'कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम्'—कालरूप सर्पसे जिनकी मति त्रस्त हो रही है उनको जिस हस्तने अभयदान दिया है । प्रह्लादके इस अनुग्रहपर, उनकी इस भाग्यवत्तापर महर्षि व्यास गद्गद होकर धन्य-धन्य कह उठते हैं । वे उनकी भाग्यवत्ताका अभिनन्दन करते हुए कहते हैं—'महाभागवतोऽर्भकः ।'

भगवान्‌के इतने प्रिय होनेपर भी भगवान् पहले प्रह्लादकी परीक्षा करते हैं, नहीं-नहीं उन्हें भुलाते हैं । आप कहते हैं—'वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम्'—वत्स प्रह्लाद ! तुमको जो चाहिये सो माँगो । यह मत समझना कि बड़े-बड़े पुण्यलोक आदि मैं नहीं दे सकूँगा । 'कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम्'—मैं मनुष्योंके

मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला हूँ । किन्तु प्रह्लाद कौन हैं? 'महाभागवतोऽर्भकः ।' वे कहते हैं—'मा मां प्रलोभयोत्पत्त्यासक्तं कामेषु तैर्वरैः ।'—हे भगवन् ! हम-सरीखे तो जन्मसे ही कामनाओं-में आसक्त हैं, फिर मुझको आप कामनाओंके प्रलोभनमें क्यों फँसाते हैं ?'

भला, जहाँ प्रह्लाद-सरीखे महाभागवतोंतककी यह कठिनाति-कठिन परीक्षा की जाती है वहाँ साधारण साधकोंकी क्या गिनती है ? साधक अदृष्टवश या सत्संगादिके कारण काम्य विभूतियोंसे बचकर भगवान्‌के अभिमुख भी हुआ और भक्तिसाधना करते समय कठिन परीक्षा करनेवाले देवताओंके प्रलोभनमें आ गया तो भगवच्छरणागतिसे वञ्चित हो जाता है । ऊँचे-से-ऊँचे दिव्य लोक ही क्यों न मिल जायँ, परन्तु 'गतागतं कामकामा लभन्ते'—संसारमें यातायातके चक्करसे विमुक्ति नहीं होती । 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'—पुण्य क्षय होनेपर फिर इस कर्ममार्गमें आना पड़ता है । यदि इस चक्करसे भी निकलकर आगे बढ़ा और साक्षात् प्रभुकी की हुई वरदानसमयकी अन्तिम परीक्षामें हिचक गया, प्रभुके सिवा दूसरी चीज़ माँग बैठा, तो भी 'तमारूढच्युतं विदुः' इतना ऊँचा पहुँचकर भी वह फेल समझा जाता है । भगवान् इन्द्र, वरुण, कुबेर आदिकी विभूति दे देते हैं, 'पारमेष्ठ्यम्' ब्रह्मा बना देते हैं, और तो क्या मोक्षतक दे देते हैं, परन्तु अपना भक्तियोग—शरणागति सहज ही नहीं देते ।

माता अत्यावश्यक गृहकार्यमें लगी हो, और बच्चा माँके पास आनेको रोता हो और मचलता हो, उस समय माता बहलानेके लिये

एक खिलौना दे देती है। यदि वह उससे राज़ी हो गया तो माँ निश्चिन्त हो जाती है। यदि बच्चा उससे भी नहीं माना तो और भी अधिक चमचमाते खिलौने उसके पास फेंकती है, उसे मनाती है, पुचकारती है। यदि इनसे बालक बहल गया तो फिर वह नहीं आती। किन्तु ऐसा हठी बालक हुआ कि वह कितने ही खिलौने दे, कितना ही पुचकारे, परन्तु जबतक वह स्वयं पास न आवे और उसे छातीसे लगाकर स्तन नहीं पिलावे तबतक हठ न छोड़े तो अन्तमें पुत्रस्नेहवती उस माताको स्वयं आना पड़ता है और अपने वात्सल्यभाजनका अनुरोध रखना पड़ता है। बस, भगवान् भी भक्तको पहले इसी प्रकार विभूतियोंसे सन्तुष्ट करना चाहते हैं, स्वर्ग, पारमेष्ठय, और तो क्या, मोक्षतक दे डालते हैं, परन्तु अपने ऊपर उसका बोझ नहीं लेते। किन्तु यदि ऐसा हठी भक्त मिला कि—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस ! त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥

'मैं स्वर्ग, ब्रह्माधिकार, सार्वभौमता, सर्व रसातलकी स्वामिता, नाना तरहकी योगसिद्धियाँ, और तो क्या, मोक्षतक आपको छोड़कर नहीं चाहता।' अपनेसे मुझे पृथक् कर दें और ये चीज़ें दें तो मैं इनको नहीं चाहता। आपके विरहमें, आपके बिना, मैं इनको लेकर क्या करूँगा? 'त्वाऽविरहय्य काङ्क्षे' हाँ, आपसे वियोग न हो तो यह चाहूँ। परन्तु जहाँ आप हैं, वहाँ इनको माँगना केवल अहसानका बोझ बढ़ाना है या पुनरुक्ति है। आपके

चरणोंके साथ तो ये चीज़ें स्वतः खिंची हुई चली आती हैं। अतः मुझे तो आप चाहिये, मैं और कुछ नहीं चाहता। भक्तका जब इतना दृढ़ अध्यवसाय देख लेते हैं तब भगवान् भी प्रसन्न हो उठते हैं और उसको अपना कर लेते हैं, अपनी शरणमें ले लेते हैं। जब भगवान्‌की शरणमें आ गया, फिर क्या भय है? 'मृत्युरस्मादपैति'—साक्षाद्भयाधिदेवता कालतक उससे हाथ जोड़ता है। शरणागतिकी इसी महत्ताको दिखलाते हुए भगवान् यहाँ कहते हैं—'सकृदेव प्रपन्नाय'। जो 'प्रपत्ति' अङ्गीकार कर लेता है और मैं तुम्हारा हूँ यह एक बार भी कह देता है उसे मैं यावन्मात्र भयकारक पदार्थोंसे अभय दे देता हूँ। यहाँ अभय दे देना उपलक्षण[1]मात्र है, सब कुछ दे देता हूँ। क्योंकि जब भगवान् उसकी शरणागति स्वीकार कर लेते हैं तब सब कुछ उसका अभीष्टपूरण, उसका योगक्षेम भगवान्‌को करना पड़ता है। वह जो चाहे सो तत्काल भगवान्‌को उपस्थित करना पड़ता है। और तो क्या, स्वयं भगवान्‌को यहाँतक लक्ष्य रखना पड़ता है कि किस समय उसे क्या आवश्यक है, फिर और कौन-सा पदार्थ बाकी रहा? अतः यहाँ उपलक्षणरूपसे ही कहा है कि 'सर्वभूतेभ्यः अभयं ददामि'—प्राणिमात्रसे अभय दे देता हूँ।

'प्रपत्ति' का अर्थ आप सुन चुके हैं कि 'प्रकर्षेण अर्थात् सर्वभावेन पत्तिः अर्थात् भगवत्सन्निधौ आगतिः।' अर्थात् चारों

---

१ एक बात कही जाय और उसी तरहकी दूसरी बात स्वतः समझी जा सके ऐसे अवसरपर उपलक्षण समझा जाता है।

तरफसे अपना सब सम्बन्ध हटाकर 'सब कुछ मेरे अब भगवान् ही हैं' इस तरह आत्मनिवेदन कर देना यही तो उसका सारांश है। अन्तर्यामी भगवान् विभीषणका भी यह भाव जान चुके हैं। विभीषणने आगे स्पष्ट अपने मुखसे ही कहा है—

परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च।
भवद्गतं हि राज्यं मे जीवितं च सुखानि च॥

'मैं लङ्का, मित्र, धन, धान्य सबको छोड़ चुका हूँ। मेरा राज्य, सुख, और तो क्या, जीवनतक मेरे सब आप हैं।' जब शरणागत अपना अस्तित्वतक मिटाकर आपका ही हो चुका तो क्या भगवान् अब कुछ कमी रक्खेंगे ? बस, जैसे वह अपनेको भगवान्के अर्पण कर चुकता है वैसे भगवान् भी अपने हृदयमें उसके अधीन हो चुकते हैं। सब कुछ उसे दे चुकते हैं, अतएव अभय शब्दके अन्दर सर्वस्वका क्रोडीकार करते हुए आज्ञा करते हैं कि 'प्रपन्नाय अभयं ददामि।'

दुनियाके साधारण-से धनी और समर्थोंतकको देखा है कि कोई अपना सम्बन्धी या भृत्य जबतक अपना आत्माभिमान रखता है, या अपना और स्वामीका यह अलग भाव रखता है तबतक स्वामी भी उसके कार्योंमें नुकताचीनी और दूसरी दृष्टि रखता है। किन्तु जब वह यह कह देता है कि 'मैं अब आपका हूँ, मेरी लज्जा अब आपके अधीन है' तब उसी समयसे उसका भाव बदल जाता है। उसके कार्योंमें त्रुटि आनेकी सम्भावना भी हो तो भी वह उसकी प्रतीक्षा न करके पहलेसे ही आप स्वयं पूर्ण कर देता है। उसको

लज्जित करना या उसका अपमान होना उसको सह्य नहीं। उसकी लज्जा या अपमानको वह अपना समझता है। जब दुनियामें साधारण धनीतक अपना इतना महत्त्व रखना चाहता है तब त्रिलोकीके धनी भगवान् क्या अपनी प्रतिष्ठाकी ओर नहीं देखेंगे? नहीं, जिस समय भक्तके मुखसे यह निकल चुकता है कि मैं आपका हूँ, उसी समयसे भगवान् इतने लाचार हो जाते हैं कि उसके काममें हरदम खड़े रहते हैं। अतएव आप आज्ञा करते हैं कि 'प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते अभयं ददामि।'

'प्रपन्नाय' के पहले आया है 'सकृत्'। अर्थात् एक बार भी जो 'प्रपन्न' शरणागत हो जाता है उसको मैं सब प्रकारका अभय दे देता हूँ। यहाँ 'सकृत्' (एक बार) कहनेसे क्या लाभ हुआ? क्योंकि भगवान् आज्ञा कर रहे हैं कि शरणागत हो जानेपर यावन्मात्र जो भयकारण हैं उनसे मैं अभय दे देता हूँ, अभयका अर्थ है मोक्ष। अर्थात् उसे सांसारिक चक्रकी विडम्बनासे मुक्त कर देता हूँ। जैसे ही प्रथम बार 'प्रपन्न' हुए फिर हमारे पास दुःख और भय फटकने ही नहीं पायेंगे, क्योंकि मोक्ष ही जब हो चुका तो फिर बाकी ही क्या रहा? ऐसी हालतमें 'सकृत्' का क्या तात्पर्य? ठीक है। यही तो सूचित किया जा रहा है कि भगवत्प्रसादनके जितने उपाय हैं उन सबमें आवृत्ति अर्थात् बारंबार करनेकी आवश्यकता होती है। जप, कीर्तन, तीर्थाटन आदि सब ही पुनः-पुनः किये जाते हैं। 'अधिकस्याधिकं फलम्' के अनुसार जितना किया जाय उतना ही अधिक फल होता है। वहाँ शास्त्रकी यह आज्ञा अनुस्यूत रहती है कि जितना अधिक

किया जाय उतना ही अच्छा। किन्तु 'प्रपत्ति' में आवृत्ति शास्त्रको अभीष्ट नहीं। वहाँ एक बार अनुष्ठान ही काफी है। प्रपत्तिके लिये कहा है—

सकृदेव हि शास्त्रार्थः कृतोऽयं तारयेन्नरम्।

'यह शास्त्रकी आज्ञा केवल एक बार ही करनेसे मनुष्यका उद्धार हो जाता है।' 'सकृत्' के आगे 'एव' और दिया है, उसका अर्थ है कि अधिकारीको 'प्रपत्ति' केवल एक बार ही लेनी चाहिये। जो इसके विपरीत करेगा वह शास्त्राज्ञाको उल्लङ्घन करेगा। बस, शरणागतिका यही माहात्म्य सूचित करते हुए कि 'जो एक बार भी इस परम भागवत धर्मको स्वीकार कर लेता है फिर उसे कोई प्रासव्य नहीं रहता', भगवान् आज्ञा करते हैं—'सकृदेव'।

ठीक है। बहुत-से आचार्य यहाँ 'सकृत्' की यही योजना उत्तम मानते हैं, परन्तु मेरे विचारसे एक शङ्का यों-की-यों बनी रही। वह यह कि आप शरणागतिका क्षेत्र बड़ा विस्तृत बता चुके हैं। शरणागतके भीतर 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' इत्यादि छः प्रकार आ जाते हैं। उनमेंसे आत्मनि[illegible] जहाँ किया कि भगवान्के ऊपर हमारे समस्त योगक्षेम, दुःख-निवृत्त्यादिकी चिन्ता जा पड़ती है। साधारण-सा स्वाभिमानी पुरुषतक जब अपने आश्रितसे यह कहला लेता है कि 'अब आप मालिक हैं, मेरी लज्जा आपके हाथ है', उस समय उसका सम्पूर्ण भार वह आप वहन करता है। यावन्मात्र उसकी चिन्ताएँ मानो वह

मोल ले लेता है। फिर जगदीश्वर भगवान् आत्मनिवेदनके अनन्तर कुछ बाकी रक्खेंगे? विश्वभरमें भगवान्‌की भक्तवत्सलताका डिण्डिम पिट रहा है। भगवान्‌का भक्त जहाँ हुआ और उसपर 'भगवान्‌का है' यह छाप जहाँ पड़ी कि मानो भगवान् उसके साथ-साथ रहने लगते हैं। मजाल क्या है कि उसमें कोई त्रुटि रह जाय। कोई उसका अनिष्ट करे, यह तो सम्भव ही कहाँ है? 'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो'—जो लोकपाल सब संसारको दण्ड देकर शासित करते हैं उनके भी नायकोंके अग्रगण्य होकर तुम्हारे भक्त निर्भय विचरते हैं। जब एक सिपाही-मात्रके भरोसेपर हमको बड़ी हिम्मत हो जाती है तब लोकपालोंके अग्रगण्योंके मस्तकपर रहनेवालोंके पास कभी भयसंकथा आ सकती है? कारण यह है कि जब भक्तके अधीन त्रिलोकीके नाथ भगवान् ही हो चुके तब उनके अधीन रहनेवाले लोकपालादि यावन्मात्र अधिकारियोंकी तो शक्ति ही क्या है कि भगवद्भक्तके विरुद्ध चलें, वरं कई जगह तो यहाँतक देखा है कि भक्तके आगे भगवान्‌की भी नहीं चलती। स्वयं भगवान् ही लाचार होकर कह देते हैं कि 'भाई! मैं इस समय विवश हूँ। भक्त जो चाहेगा वही होगा।'

भगवद्भक्त अम्बरीष एकादशीके व्रतके अनन्तर द्वादशीके दिन 'पारण' करनेकी तैयारी कर रहे थे। इसके पूर्व केवल एक एकादशीका ही उपवास न था 'त्रिरात्रं समुपोषितः'—तीन दिन-का उपवास हो चुका था। परन्तु नियमानुसार दान देना, ब्राह्मणों-को भोजन कराना, आये हुए अतिथियोंका सत्कार करके फिर

पारण करना आवश्यक था। इसलिये जैसे ही दानादिसे निवृत्त हुए कि महर्षि दुर्वासा राजाके यहाँ आ गये। उनसे भोजनके लिये प्रार्थना करना राजाको आवश्यक हो गया। महर्षि इसको स्वीकार करके आह्निकके लिये नदीपर चले गये, किन्तु वहाँ उन्होंने बहुत विलम्ब कर दिया। बड़ा लंबा पूजन-पाठ ले बैठे। भगवान् व्यास कहते हैं—'बृहद्ध्यायन्'। इधर द्वादशी अर्ध मुहूर्त-मात्र रह गयी। भक्तशिरोमणि अम्बरीष कुछ क्षुधाव्याकुल न थे। वे भागवत थे, ब्राह्मणोंकी प्रतीक्षामें और भी दो दिन भूखे रह सकते थे। किन्तु शास्त्राज्ञानुसार द्वादशीमें पारण करना आवश्यक था। अतएव पुरोहित आदिकी मन्त्रणासे एक आचमनमात्र ले लिया कि यह एक तरह अशन भी हो गया और नहीं भी। वे दुर्वासाकी प्रतीक्षा करते रहे।

दुर्वासा अपने सुदीर्घ आह्निकसे निवृत्त होकर आये और राजाकी ओर जैसे ही उन्होंने नजर डाली कि दिव्य ज्ञानसे उनको विदित हो गया कि राजाने पारण कर लिया। बस, वे आगबबूला हो उठे। 'अभक्त', 'ढोंगी', 'अभिमानी' आदि कहकर वाचिक अपमान तो किया ही, साथ ही अपनी जटासे एक बाल तोड़कर राजाको दण्ड देनेके लिये कालाग्निसदृश कृत्या उत्पन्न की। वह राजाको भस्म करने चली। स्मरण रहे, उन दिनों भक्तकी रक्षाका भार विशेषरूपसे भगवान्ने ले रक्खा था। अपने सुदर्शन-चक्रको ही राजाकी नौकरीमें बोल रक्खा था। सुदर्शनने तत्काल ही कृत्याका काम तमाम करके दुर्वासाको सँभाला। दुर्वासा बचने-

के लिये त्रिभुवनमें घूमते हुए कहीं भी आश्रय न पाकर अन्तमें भगवान्‌के पास पहुँचे। वहाँ भगवान्‌ने स्पष्ट कह दिया—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयः.......................॥

मैं भक्तोंके पराधीन हूँ। मुझे बिल्कुल स्वतन्त्रता नहीं। स्वतन्त्रता तो तब हो जब मैं पृथक् सत्ता रखता होऊँ। 'अहं तु साधुभिर्ग्रस्तहृदयः'—मेरे हृदयको तो साधु (भक्तोंने) ग्रास कर लिया है, सर्वथा ले रक्खा है। कदाचित् तुम कहो कि ये भक्त आपके ही तो हैं, उनकी जो महत्ता और गौरव है सब आपके ही कारणसे तो है। आप उनको हटा दो, दमन कर दो। तो आप कहते हैं—

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीम्.......................॥

'मैं भक्तोंके विरहमें अपनी आत्यन्तिक श्री, और तो क्या, अपनी आत्मातकको नहीं चाहता। मेरे भक्त न रहें और मैं उनके अभावमें रहूँ, यह मुझसे नहीं हो सकता। यदि बचना है तो मैं जिसके अधीन हूँ उसीके पास जाओ।' लाचार होकर दुर्वासा लौटकर अम्बरीषके पैरों पड़ते हैं।

जहाँ भक्तके लिये भगवान्‌का यह आग्रह है कि आप अपना गौरव नष्ट कर देते हैं परन्तु भक्तकी बातको नीचा नहीं होने देते, वहाँ और क्या बाकी रह गया? विस्तार हुआ जाता है—परन्तु श्रीकृष्णावतारमें स्थान-स्थानपर देखनेको मिलता है कि भगवान्

भक्तोंके लिये अपना कितना-कितना अपमानतक सह लेते हैं परन्तु भक्तोंका मन मैला नहीं होने देते। श्रीदामा गोप कहता है—'भाई! मैं तो कन्हुआकी चड्डी लूँगा। कन्हुआ जैसा घोड़ा मिले और मैं उसे छोड़ दूँ?' बस भगवान् घोड़ा बनते हैं और वह उनके कंधेपर सवार होता है। जिन वैकुण्ठनाथके दर्शनमात्रके लिये सनकादि सिद्धतक अवसर पूछा करते हैं और बड़े भाग्योंसे वह मिल पाता है उसी चराचरनायकके मस्तकपर एक गोप पैर रखता है, यह साधारण बात है? भगवान् व्यासदेव इस विडम्बनापर कहते हैं—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।

'हारे हुए श्रीकृष्ण श्रीदामाको कंधेपर बिठाते हैं।' यहाँ श्रीकृष्णके साथ 'भगवान्' की इस मगज़ी लगानेकी क्या जरूरत थी? परन्तु वे यह दिखाना चाहते हैं कि विश्व देख ले कि भक्तोंके आगे 'भगवान्' की क्या दशा हो रही है। जिसे 'षड्-गुणैश्वर्यसम्पन्न' कहते हैं वह हारा है और जो गोप है वह उसके ऊपर सवार है। 'पराजितः' दोनों अर्थोंको दिखा रहा है। भगवान् भक्तोंके आगे सदा हारे हैं। इन्हीं फ़जीतियोंके डरसे भगवान् सहसा ही किसीको अपनी भक्ति नहीं देते। मुक्ति चाहे दे देते हैं, पर अपनी भक्ति नहीं देते। मुक्तिमें आप झंझटसे बच जाते हैं। एक बारमें सब टंटा चुक जाता है, किन्तु भक्ति देते ही सदाके लिये टंटा मोल ले लेना पड़ता है। इसीसे तो कहा है—

मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स न भक्तियोगम्।

जब भक्तके साथ आपका यह व्यवहार है तब जहाँ उसने भक्ति स्वीकार कर ली वहाँ सब कुछ आप उसे एक बारमें ही दे चुके। अब उसे आपके पास आनेकी आवश्यकता ही कहाँ है? उसको जरूरत पड़ेगी तो उसके लिये आप ही सौ दफ़ा जायँगे, वह क्यों आवेगा। फिर 'प्रपन्नाय' के साथ 'सकृदेव' की संगति क्योंकर हुई? अतएव शरणागतिप्रकरणके योग्य अच्छा अर्थ यही प्रतीत होता है कि—'प्रपन्नाय', जो शरणागत हो चुका, तदनन्तर 'तवास्मीति सकृदेव याचते', तुम्हारा हूँ यह एक बार मात्र कह देता है, उसको मैं यावन्मात्र भयोंसे सदाके लिये मुक्त कर देता हूँ और यावन्मात्र आशास्य पदार्थ दे देता हूँ। तात्पर्य यह है कि वह जिस समय भगवान्‌की शरणागति स्वीकार कर चुका और उनके पास आ गया उसी समय तात्कालिक भय (जिससे बचनेके लिये वह भगवान्‌के पास आया था) की निवृत्ति तो हो चुकी, किन्तु उसके पीछे उसने यह और कहा कि 'मैं तुम्हारा हूँ।' 'तुम्हारा हूँ' यह कहना लक्षणावृत्तिसे दूसरा अभिप्राय रखता है। क्योंकि भक्त जिस क्षण भगवान्‌के शरणागत हो चुकता है उसी समय वह तो भगवान्‌का हो जाता है। 'आप ही मेरे सब कुछ हो, मैं तो अब आपका हूँ'—यही तो शरणागतिका फलितार्थ है। फिर पुनरुक्तप्राय यह कहना कि 'मैं आपका हूँ' यह बाधित हुआ। अतएव इसका तात्पर्यार्थ यह निकलता है कि 'वर्तमानकालका उपस्थित भय ही नहीं, यावन्मात्र सङ्कटोंसे मुझे बचानेवाले सदाके लिये अब आप हैं, क्योंकि मैं आपका हो चुका। मुझे सब भयोंसे बचाइये।' शरणागत हो चुकते ही सब

कार्योंके जिम्मेवार भगवान् हो चुके, किन्तु उसके अनन्तर उसने 'मुझे भयसे बचाइये' यह और कह दिया। अब तो और भी अहसान हो गया। अतएव भगवान् इस याचनाके फलस्वरूपमें सर्व भयोंसे निवृत्ति (अपवर्ग) ही नहीं दे देते, यावन्मात्र आशास्य ही दे देते हैं। फलित यह हुआ कि 'प्रपन्न' होनेके अनन्तर भक्तके कारण चाहे मुझे हजार बार सङ्कट, याचना, परिश्रम, लाञ्छना आदि सहनी पड़े, किन्तु भक्तको तो 'सकृदेव' एक बार ही याचना करनी पड़ती है।

वास्तवमें देखा जाय तो 'तवास्मीति याचते', यह 'प्रपन्नाय' का विवरणमात्र है। 'प्रपत्ति' में मैं तुम्हारा हूँ इत्यादि सब कुछ आ जाता है। यहाँ केवल उसे स्पष्टार्थमात्र करनेके लिये ही कहा है कि 'शरणागत होकर जो एक बार भी मैं तुम्हारा हूँ कहकर (ध्वनिसे) आगे आनेवाले भयोंकी निवृत्ति माँगता है मैं उसको सदाके लिये सर्व भयोंसे निवृत्त कर देता हूँ।'

यह तो हुआ, परन्तु 'एतद्व्रतं मम', यह मेरा व्रत (नियम) है, यह कहनेकी क्या जरूरत आयी ? 'प्रपन्नाय अभयं ददामि'—शरणागतको मैं संसारके यावन्मात्र फल दे देता हूँ, इसीमें तो सब कुछ आ गया था, फिर 'व्रतं मम' अक्षर क्यों बढ़ाये ? 'व्रतं मम' से यह दिखाते हैं कि शरणागतको सर्व अभय और फल दे देता हूँ, इसको साधारण न समझना, यह मेरा व्रत (दीक्षा) है। व्रत जैसे किसी भी अवस्थामें छोड़ा नहीं जा सकता और यदि छोड़ दे तो दृष्ट और अदृष्ट दोनोंसे वह गिर जाता है, उसका

जीवन लाञ्छित हो जाता है। इसी तरह शरणागत-रक्षा मुझसे त्रिकालमें भी नहीं छोड़ी जा सकती।

महाराज रुक्माङ्गद एकादशीका व्रत किये हुए नियममें बैठे हैं। वह सदा एकादशीका अखण्डित व्रत लिये हुए थे। देवताओं-ने उनकी दृढ़ताकी परीक्षा करनेके लिये उनकी छोटी महारानीकी बुद्धि बदली। वह मानमें आकर राजासे कहने लगी कि यदि आपका मुझमें सत्य अनुराग है तो आज मेरे हाथसे भोजन कीजिये। कनिष्ठा रानी मोहिनीपर राजाका अत्यन्त अनुराग था। यों कहना चाहिये कि राजापर मोहिनीकी मोहिनी पड़ी हुई थी। वे उसके हाथके खिलौने हो रहे थे। बड़ी रानी जिसको कि पाँच-छः वर्षका राज्याधिकारी सुन्दर कुमार था उसको भी अनादृत कर रक्खा था। मोहिनीके यह आग्रह करते ही सत्यव्रत राजाका आसन डोल उठा। वे उसे नाना प्रकारसे समझा रहे थे कि 'यह धार्मिक नियम है, जो मेरी आत्मासे सम्बद्ध है। इसके विषयमें तुम हठ मत करो। इसके सिवा तुम जो भी कहो मैं करनेको तैयार हूँ। मेरा राज्य, मेरी विभूति और तो क्या शरीरतक उपस्थित है। तुम इनका जो चाहो सो कर सकती हो, किन्तु व्रतभङ्गका आग्रह छोड़ दो।'

देवताओंकेद्वारा आविष्ट हुई मोहिनीने कहा कि 'यदि भोजन नहीं करते हो तो देवताके सम्मुख अपने हाथसे अपने पुत्रकी बलि दे दो।' सुनते ही राजाकी बड़ी दीन दशा हो गयी। इधर धर्मभङ्ग होता है, उधर अपने राज्याधिकारी निरपराध प्रिय

पुत्रकी हत्या करनी पड़ती है। एक राजा ही क्या, सम्पूर्ण राजपरिवार राज्यकार्य छोड़कर प्राणसङ्कटमें पड़ा हुआ है। यह वृत्तान्त धीरे-धीरे राजकुमारको भी विदित होता है। वह बालक होनेपर भी क्षत्रिय-सन्तान था। हँसता हुआ आकर प्रसन्नतासे राजासे कहता है—'पिताजी! आप चिन्ता क्यों करते हैं निःशङ्क होकर मुझे बलि दे दीजिये।' धार्मिक राजाके हृदयपर घोर आघात होता है। इस करुणामय दृश्यको देखकर तमाम राजमहल करुणा और शोकमें डूब जाता है किन्तु दृढ़व्रत राजा इतनेपर भी व्रतभङ्गके लिये तैयार नहीं होते। देव-मन्दिरमें देवताके सम्मुख अबोध राजकुमार प्रसन्नतापूर्वक अपने कण्ठच्छेदके लिये खड़ा हो जाता है। राजा रुक्माङ्गद खड्ग लेकर स्वयं अपने औरस और बालक पुत्रको बलि देनेके लिये तैयार हो जाते हैं किन्तु अङ्गीकार किये हुए व्रतको नहीं छोड़ते। तत्काल देवता प्रकट होकर राजाका अभिनन्दन करते हैं और प्रसन्न होकर वरदान देते हैं।

जिस व्रतकी रक्षाके लिये प्राणप्रिय पुत्रतकको अपने हाथसे मारा जा सकता है क्या उसी व्रतको कोई धार्मिक पुरुष छोड़ सकता है? अतएव मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र कहते हैं—'एतद् व्रतं मम।'

महाराज दशरथने श्रीरामचन्द्रसदृश प्राणोपम प्रिय पुत्रको अपने हाथसे वन भेज दिया। पुत्र ही क्या, अपने प्राणतक छोड़ दिये परन्तु अपना व्रत नहीं छोड़ा। धार्मिक जीवनमें व्रतरक्षाका

सबसे बढ़कर महत्त्व है। जिसमें भी भगवान् श्रीरामचन्द्रके लिये तो त्रिभुवनमात्र कहता है कि—'सत्यवाक्यो दृढव्रतः।' उनके द्वारा लिया हुआ व्रत कभी छोड़ा जा सकता है? इसी आशयसे सर्वथा अत्याज्यताको सूचित करते हुए आप आज्ञा करते हैं कि—'एतद् व्रतं मम।'

यहाँ 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इस सूत्रसे 'सर्वभूतेभ्यः' अपादान पञ्चमी तो है ही किन्तु 'सर्वभूतेभ्यः' इसकी आवृत्ति करके चतुर्थीका भी अर्थ किया जाता है, यही महर्षिका तात्पर्य मालूम होता है। अर्थात् भय करनेवाले सर्वभूतोंसे अभयदान मैं 'प्रपन्न' को भी देता हूँ और 'सर्वभूतेभ्यः' उससे सम्बन्ध रखनेवाले प्राणिमात्रको भी अभयदान दे देता हूँ। मेरे प्रपन्न होनेपर केवल उसीको अभय नहीं देता उसके सम्बन्धी सभीको अभय देता हूँ, चाहे मनुष्य हो, पशु हो, पक्षी हो, मेरे भक्तके सम्बन्धी सभी मुक्तिके अधिकारी हैं। कहा भी है—

पशुर्मनुष्यः पक्षी वा ये च वैष्णवसंश्रयाः।
तेनैव ते प्रयास्यन्ति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

भगवान् प्रह्लादपर प्रसन्न होकर उनकी परीक्षा करते हुए आज्ञा करते हैं—'वरं वृणीष्वाभिमतम्' अपना अभीष्ट वर माँगो, मैं सबके मनोरथ पूर्ण करनेवाला हूँ। प्रह्लाद परीक्षामें उत्तीर्ण होते हैं, वे वरयाचनाकी कड़ी आलोचना करते हैं; किन्तु भगवान् अपने-आप ही उन्हें आयु, भोग मोक्ष सब कुछ दे देते हैं। तब प्रह्लाद कहते हैं 'भगवन्! एक वर मैं आपसे यह माँगता हूँ

कि आपके प्रभावको नहीं जाननेके कारण मेरे पिताने आपकी निन्दा करके घोर अपराध किया है। अब मैं चाहता हूँ कि उस दुरन्त पातकसे उनकी मुक्ति हो जाय!' भगवान् कहते हैं जिस कुलमें तुम-सदृश कुलपावन पैदा हो गया वहाँ केवल तुम्हारा एक पिता ही क्या तुम्हारे इक्कीस पुरुष पवित्र हो गये। मेरे भक्तोंका सम्बन्ध किसी तरहका भी जिन-जिनसे हो जाता है 'ते पूयन्त्यपि कीकटाः' वे चाहे जैसे अपवित्र हों पवित्र हो जाते हैं। इसी बातको सूचित करते हुए यहाँ भी कहा है—'सर्वभूतेभ्यः' शरणागत और उसके सम्बन्धी सब प्राणियोंको अभय देता हूँ।

व्रजराजकुमार भगवान् श्रीकृष्ण कंसका विध्वंस करने जिस समय मथुरापुरीके राजमार्गमें होकर पधारे, उस समय सुदामा मालाकारने भगवान्का कण्ठ शून्य देखकर पुष्पमालाओंसे आपकी सेवा की। आपने उसे तो अभय दिया ही, किन्तु—

युष्मत्संततिजातानां दीर्घमायुर्भविष्यति।

—कहकर उसके सभी वंशजोंको दीर्घ आयुष्य प्रदान की। जब मार्ग चलते हुए, साधारण-सी सेवाके उपलक्ष्यमें आप इतनी कृपा करते हैं तब शरणागतके लिये कुछ न्यूनता रहेगी? अतएव आपने आज्ञा की है कि मैं प्रपन्न और उसके सब सम्बन्धियोंको अभय देता हूँ, यह मेरा व्रत है।

अब विभीषणको देखिये। उसने मानसिक, वाचिक आदि किसी एक ही प्रकारकी शरणागतिको स्वीकार किया हो सो नहीं, 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः' आदि छओं अङ्गोंसहित शरणागतिका

उसने अवलम्बन किया है। जिस समय रावणने उसका तिरस्कार किया और स्पष्ट कह दिया कि—

योऽन्यस्त्वेवंविधं ब्रूयाद्वाक्यमेतन्निशाचर।
अस्मिन्मुहूर्ते न भवेत्त्वां तु धिक्कुलपांसन॥

'यदि और कोई इस तरहका वाक्य कदाचित् बोलता तो इसी क्षण उसको समाप्त कर देता, पर तू सहोदर भाई है। कुलकलङ्क तुझको धिक्कार है।' उसी क्षण विभीषणने समझ लिया कि अब रावणके हाथसे निष्कृति तभी हो सकती है जब भगवान् श्रीरामचन्द्रका आश्रय लिया जाय। बस, वहींसे 'रक्षिष्यति' यह विश्वास करके—सदा अनुकूल रहनेका संकल्प आदि स्वरूपवाली शरणागति आरम्भ हो गयी। फिर इतनी दूर चलकर, अपना दैन्यसूचन करते हुए वे तो स्पष्ट निवेदन कर चुके हैं कि—

त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः।

भला उनके लिये भगवान् विलम्ब कर सकते हैं? भगवान् गद्गद होकर कहते हैं—

ये दारागारपुत्राप्तानिप्रान् प्राणान् धनानि च।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

'स्त्री, पुत्र, घर, सगे सम्बन्धी, धन-धान्य और तो क्या प्राणोंका भी मोह छोड़कर जो मेरे शरण आते हैं उनको भला मैं कैसे छोड़ सकता हूँ?'

विभीषणके स्वीकारके लिये अपने परिकरके साथ विचार करनेमें जो विलम्ब हो रहा था उसका एक-एक क्षण भगवान्को घोर

असह्य था। किन्तु स्नेहके कारण अनिष्टकी शंकासे सुग्रीव विरोध करते ही जा रहे थे। अन्ततोगत्वा भगवान्‌को अपना दिव्य प्रभाव प्रकट करना पड़ा। और यहाँ आकर तो आपको स्पष्ट मुखसे ही कह देना पड़ा कि इसके विरुद्ध चाहे लाख युक्तियाँ हों परन्तु मैं शरणागतको किसी तरह नहीं छोड़ सकता। प्रपन्नको अभय देनेका मैंने सङ्कल्प कर रक्खा है।

विभीषणको लिवा लानेके लिये सुग्रीवको भेजना

यह हुक्म देकर आपने कुछ कालकी प्रतीक्षा की हो सो नहीं, तत्काल ही इस हुक्मकी इजरा करनेकी भी आप आज्ञा देते हैं। दूसरी अदालतोंमें डिग्री मिल जानेपर भी कुछ मियादकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है किन्तु श्रीरामके दरबारमें शरणागतिके हुक्मकी इजरा उसी क्षण की जाती है। अतएव शरणागतिकी स्वीकृति देकर तत्काल ही आप हुक्म देते हैं कि—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

(वा० रा० युद्ध० १८। ३४)

'हे हरिश्रेष्ठ! जाओ, उसको लिवा लाओ। मैंने उसको अभय दे दिया। चाहे विभीषण हो चाहे वह स्वयं रावण ही क्यों न हो।'

भक्तपरतन्त्र भगवान् श्रीरामचन्द्रको शंका हुई कि ऐसा न हो सुग्रीव फिर विभीषणके स्वीकारमें कोई विरोध कर बैठे। अतएव

अपने संकल्पको कह देनेके अनन्तर एक क्षणका भी अवकाश न देकर आप आज्ञा करते हैं कि—'एनम् आनय, इसको लाओ।'

'एनम् (इसको)' यह क्यों ? 'इसको' तो उसके लिये कहा जाता है जो सम्मुख वर्तमान हो। श्रीरामने तो विभीषणको अभी देखा-तक भी नहीं है। सैन्यसंनिवेशका प्रबन्ध करनेवाले सुग्रीवादिने चाहे आकाशसे आते हुए उसे देखा भी हो किन्तु श्रीरामचन्द्रकी तो अभी उसपर दृष्टितक नहीं पड़ी है। फिर जिस तरह अपने सुपरिचितके लिये कहा जाता है उस तरह 'इसको लाओ' यह कैसे कहा ? कहना चाहिये 'जो दरवाज़ेपर आकर प्रार्थना पहुँचवा रहा है 'उसे' लाओ।' ठीक है। इसमें कुछ ध्वनि है।

आर्त विभीषणने श्रीरामदरबारमें आकर सुग्रीवादिके द्वारा जैसे ही अपनी प्रार्थना पहुँचायी—

निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने।

और श्रीरामने उसे अपनी शरणमें आया हुआ जिस क्षण समझ लिया उसी समयसे श्रीरामचन्द्रकी प्रतिज्ञानुसार वह उनके परिकरमें शामिल हो चुका। आपके यहाँ आर्तको महीनोंतक प्रार्थना, उम्मीदवारी नहीं करनी पड़ती। आपकी ड्योढ़ीमें जैसे ही शरणागतने प्रवेश किया और आपको उसका आना विदित हुआ वैसे ही आप उसको अभय देकर अपनी शरणमें ले लेते हैं। आपकी शरणमें आया हुआ आर्त जितने दुःखके श्वास प्रतीक्षामें लेता है आप उतना ही अपने ऊपर उसका बोझ समझते हैं। सर्पविषकी चिकित्सा करनेवाले गारुडिकके घर जैसे ही खबर

पहुँची कि अमुकको सर्पने काटा है और उसका इलाज कराने रोगी आया है, किंवा बुलानेके लिये आदमी आया है, उसी क्षण वह जैसे-का-तैसा अपने स्थानसे उठ बैठता है। फिर घरमें जलतक नहीं पीता, श्वासतक नहीं लेता। अथवा आग लगनेकी सूचना मिलनेपर जैसे फायरब्रिगेडवाले उसी क्षण दौड़ जाते हैं इसी तरह कालरूपी कालभुजङ्गसे या त्रितापरूपी अग्निसे सताये हुए प्राणियों-के उद्धारके लिये अवतार लेनेवाले श्रीरामकी शरणमें जैसे ही आर्त उपस्थित होता है आप तत्काल उसे अभय दे देते हैं। संसारसे निर्विण्ण होकर, भगवान्‌की दयालुतापर बड़ा भारी भरोसा रखकर, शरणार्थी जैसे ही आपके अभिमुख आया कि आप उसे बड़े बहुमानसे, बड़ी सान्त्वनासे तत्काल आश्रय देते हैं। मानो आप प्रतीक्षा करते रहते हैं कि दुनियाँके चक्करदार मार्गोंमें भूले-भटके बटोही किसी तरह इधर आवें और आप उन्हें तुरन्त घर पहुँचा दें। जब आपकी इतनी दयालुता है, इतनी भक्तवत्सलता है तब भला आर्तको शरण देनेमें विलम्ब हो सकता है?

यह नयी बात नहीं। आर्तकी पुकार पहुँचते ही भगवान्‌को एक अद्भुत तड़फड़ी लग जाती है। एक-एक पल बिताना आपको पहाड़-सा भारी हो जाता है। ग्राहका सताया हुआ गजेन्द्र जिस क्षण पानीमें डूबने लगा, उसकी सूँड़ तिलमात्र पानीके बाहर रह गयी, उसपर भी हवाके झकोरोंने डुबानेमें कमी न रक्खी। किसीने कहा है—

वार बरावर वारि है तापर चलत बयार।

उस समय वैकुण्ठमें स्थित गोविन्दके पास गजेन्द्रकी पुकार पहुँची। श्रीलक्ष्मीजीके साथ जिस स्थितिमें आप बातचीत कर रहे थे उसी तरह बिना कुछ कहे-सुने आप खड़े हो गये। चलते-चलते ही गरुड़को बुलाकर उसपर आपने आरोहण कर तो लिया परन्तु उसकी भी उड़ान आपको बड़ी धीमी मालूम हुई। माघ कविने कहा है—

'जिस समय इन्द्रपर कोई चढ़ाई करता और इन्द्र उससे हारकर उलटे मुँह दौड़ने लगता, उस समय ऐरावतके सुन्दर पादन्यास, घूमकर चलना आदि विचित्र गतियोंपर प्रसन्न होना तो कैसा उल्टी उसे झूँझल आती थी। वह तो उसके तेज दौड़नेपर वाह-वाह करके प्रशंसा करता जिससे कि वह जल्दी अमरावतीमें सुरक्षित पहुँच जाय।' इसी तरह गरुड़की विभ्रम चालें तो क्या, तेज उड़ानतक भगवान्‌को धीमी मालूम हुई, पसंद न आयी। अन्तमें गरुड़को भी छोड़कर अपनी दिव्य गतिसे ही आपको गजेन्द्रके पास पहुँचना पड़ा। जहाँ आपको पधारनेका परिश्रम करना पड़ता है वहीं शीघ्रताका यह हाल है तब घर बैठे आपके पास शरणार्थी आवे और आप शरण देनेमें विलम्ब कर दें, यह सम्भव है? नहीं-नहीं। आपके पास 'शरणार्थी विभीषण आया है' इतनी प्रार्थना पहुँचते ही आप अपने हृदयके द्वारा उसे अपने परिकरसें ले चुके थे। किन्तु इधर 'विभीषणको आश्रय देना कि नहीं' इस विषयको लेकर उनकी चर्चा खूब चल चुकी थी। इस चर्चामें जब-जब उनका नाम आता वा प्रसङ्ग उठता वह सुपरिचितकी तरह उन्हें अपने हृदयमें स्थान देते थे। भगवान्‌को अध्यास है कि

विभीषण मेरा हो चुका, मेरे पारिषदोंमें आ गया। अतएव निरन्तर हृदयमें खेलते हुए सुपरिचित विभीषणको सम्मुख वर्तमान समझकर आप आज्ञा करते हैं—'एनम्' 'इसको' लाओ।

यहाँ आपने कहा है 'आनय' लाओ। हाकिम वा स्वामी किंवा बड़े आदमी तो ऐसे अवसरपर कहा करते हैं कि 'उसे आने दो।' अर्थात् 'विभीषण शरणार्थी होकर मेरे पास आनेकी प्रार्थना करता है और हमलोगोंने भी परस्पर संवित् करके निश्चित कर लिया है कि शरणागतका त्याग नहीं करना चाहिये। अतएव उसको यहाँ आने दो। उसके आनेमें अवरोध मत करो।' फिर यह न कहकर 'आनय' 'लाओ' कहनेसे क्या तात्पर्य?

भक्तवत्सल श्रीरामचन्द्र अपने अभिमुख आनेवाले प्राणिमात्रको शरण देनेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं। आपके अवतार लेनेका प्रयोजन ही यह है कि पृथ्वीपर जो भक्त वा धार्मिक सांसारिक क्लेशोंसे निर्विण्ण होकर आश्रय ढूँढ़ रहे हैं उन्हें अवलम्बन दिया जाय। दुर्जनोंसे सताये हुए सज्जनोंको सान्त्वना दी जाय। धर्मके अभिमुख हुआ कोई प्राणी क्लेश न पावे। आपका भूतलपर आना ही 'आर्तत्राणाय', दुखियोंकी रक्षा करनेके लिये है। अतएव आपको चिन्ता रहती है कि दुखी जीवोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर उनके दुःख दूर किये जायँ। अब जो आर्त वा पीड़ित भगवान्‌के द्वारा अपनी तलाश न कराकर स्वयं उनकी शरणमें आते हैं, भगवान् अपने परिश्रमकी बचत समझकर उनका बड़ा उपकार मानते हैं। 'पङ्गोरुपरि गङ्गापातः'—पङ्गुके ऊपर गङ्गाकी धार पड़नेकी तरह अहसान मानते हैं।

शरणार्थी होकर स्वयं आनेवाले भक्तोंको अपना आश्रित न समझ-कर मित्रकोटिमें गिनते हैं। इसीलिये पहले आप कह चुके हैं—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।

यहाँ विभीषण भी स्वयं शरणार्थी होकर आये हैं। अतएव उनका दर्जा मित्रके बराबर हो गया। किन्तु उनका आदर तो कैसा, हमलोगोंने 'उन्हें स्वीकार किया जाय या न किया जाय' इत्यादि व्यर्थ वितण्डावादमें ही बहुत-सा समय खो दिया। और वे दरवाजेपर खड़े प्रतीक्षा कर रहे हैं कि देखें क्या उत्तर आता है। इस विलम्बसे उनका घोर अपमान हो रहा है। इसपर भी, वे स्वयं यदि यहाँ आ गये तो हमलोगोंकी और भी असभ्यता और भीरुता सिद्ध होगी। अतएव यावन्मात्र सेनाके स्वामी भगवान्‌के अग्निसाक्षिक मित्र किष्किन्धाधिपति सुग्रीव ही जाकर यदि उनकी अगवानी करें, और उन्हें सादर लिवा लावें तो कुछ सम्मान-रक्षा हो। अतएव आपने सुग्रीवको आज्ञा दी है कि 'आनय'।

भगवान् जब विभीषणको मित्रकोटिमें गिनते हैं और भगवान्‌के हृदयमें साधारण धनियोंकी तरह अभिमान भी नहीं है तब तो स्वयं भगवान्‌को ही आना चाहिये था और बड़े आदरसे विभीषण-को लिवा ले जाना था। दुनियाके सभ्योंका भी यही सदाचार देखा जाता है कि यदि कोई मित्र दूर देशान्तरसे आया हो और उसके आनेकी खबर भीतर पहुँचे तो गृहस्वामी ही स्वयं दरवाजेपर लेने आता है। फिर श्रीराम स्वयं न जाकर सुग्रीवको क्यों भेजते हैं? हाँ यह जरूर होता है कि कोई थर्ड क्लास मित्र आया हो तो आप

स्वयं नहीं जाते। किसी दूसरे सज्जनको लिवा लानेको भेज देते हैं। तो क्या श्रीरामचन्द्र इन्हें मित्र तो समझते हैं परन्तु हलके दर्जेका ? थर्ड क्लास ? नहीं-नहीं, इसमें तात्पर्य है।

भगवान् श्रीरामचन्द्र शरणागतवत्सल हैं। कैसा भी शरणागत चला आवे, दयासागर श्रीरामचन्द्र तत्काल उसे अवलम्बन देते हैं। वे शरणार्थीके दोष-गुणोंका विचार ही नहीं करते। आप पहले कह आये हैं कि मैं अपने शरणार्थीपर दृष्टि रखता हूँ उसके गुण-दोषोंपर नहीं। अतएव आप तो विभीषणको आश्रय देनेकी आज्ञा पहले ही दे चुके थे किन्तु प्रधान पारिषद मित्रताके दर्जेतकको पहुँचे हुए सुग्रीव इसका घोर विरोध कर रहे थे। यद्यपि आपने सुग्रीवकी प्रत्येक युक्तिका समञ्जस उत्तर दे दिया था, हर एक पूर्वपक्षका यथोचित समाधान कर दिया था तो भी सुग्रीवकी तरफसे आपको अभी कुछ खटका है। ऐसा न हो कि मैं अपने ही आग्रहसे विभीषणको बुला लूँ और मेरे स्नेही फिर उसका विरोध कर बैठें। श्रीरामचन्द्रके दक्षिण स्वभावसे यह बिल्कुल विरुद्ध था कि वे अपने स्नेही और अनुजीवियोंके प्रतिकूल कार्य करें। वे लोग तो अप्रसन्न रहा करें और श्रीरामचन्द्र उस अप्रसन्नताकी कुछ भी परवा न करके उस प्रतिकूल प्रसङ्गका सदा निर्वाह करते रहें। अतएव अपने सब परिकरकी सम्मतिसे ही आप विभीषणको स्वीकार करना चाहते हैं। इसलिये शरणागतके दरवाजेपर प्रतीक्षा करते हुए खड़े रहनेपर भी आपने अपने सलाहकारोंके साथ बहसमें इतना समय बिता दिया। और अब भी आप यही चाहते हैं कि केवल मेरी ही अनुमतिसे विभीषणका आना न समझा जाय।

इसीलिये सब परिकरके नेता सुग्रीवको ही आप भेजते हैं कि तुम जाओ और लिवा लाओ। आपका तात्पर्य यह है कि यदि स्वयं सुग्रीव ही जाकर लिवा लायेंगे तो परिकरके किसी भी मनुष्यको यह कहनेका अवसर न रहेगा कि 'विभीषणके स्वीकारमें हम तो सम्मत न थे। आप ही जानें।' क्योंकि परिकरके नेता स्वयं सुग्रीव ही तो उन्हें आगे होकर लिवा लाये थे। अतएव श्रीरामचन्द्र सुग्रीवको ही आज्ञा कर रहे हैं कि 'एनम् आनय'—इन्हें लाओ।

अथवा—भक्तवशीभूतताके कारण भगवान्‌ने ऐसा कहा है। कई जगह देखा है कि भक्तोंकी प्रतिज्ञा वा भक्तोंके हठके आगे भगवान्‌को अपनी प्रतिज्ञा और वचनतक छोड़ देना पड़ा है। अपने एकान्तभक्त प्राणप्रिय अर्जुनके लिये कई स्थानपर आपको अपनी प्रतिज्ञा, अपना वचन छोड़ देना पड़ा है। महाभारतमें भीष्मपितामहका युद्ध विश्वके प्रधान युद्धोंमेंसे गिना जाता है। जिन आजन्म ब्रह्मचारीके बलका कुछ पार न था, उनके युद्धकी तुलना कौन कर सकता है। यों समझिये—पाण्डवपक्षमें ही क्या राजमण्डलभरमें उनके मुक़ाबिलेका कौन था? जिस अर्जुनको अद्वितीय धनुर्धारी समझा जाता है वह उनकी शिष्य और पोष्यकोटिमें था। अर्जुन ही नहीं, सभी उन्हें पितामहवत् गौरवभाजन समझते थे। प्रसिद्धि ही उनकी 'भीष्मपितामह'के नामसे थी, वह जिस समय युद्धके लिये खड़े हुए, सब थर्रा उठे। गाण्डीवधारी अर्जुनको भी दो-एक युद्धोंमें ही मालूम पड़ा कि युद्ध इसका नाम है। वीर पितामहका एक-एक बाण वज्रके समान आकर लग रहा

था। अर्जुन विकल हो पड़े। जिधर देखो उधर बाणोंकी वर्षाने व्याकुल कर दिया था!

भगवान् श्रीकृष्णकी प्रतिज्ञा थी कि मैं इस युद्धमें शस्त्र नहीं लूँगा। इधर भीष्मपितामहने प्रण किया था कि मैं युद्धमें श्रीकृष्णको भी शस्त्र ग्रहण करा दूँ तभी तो मेरा नाम! जिस समय यह भयङ्कर युद्धकाण्ड आरम्भ हुआ, पाण्डवपक्षके सब वीर त्रस्त हो गये। सबके शरीर घायल थे। कवच खण्डित हो चुके थे। एक-एक क्षण मुश्किलसे बीत रहा था। अर्जुनके रथके जूड़ेपर श्रीकृष्ण बैठे थे, आपकी भी यह दशा थी कि सारे शरीरसे रक्त वह रहा था। कवचके टुकड़े-टुकड़े हो चुके थे। भीष्मपितामह अपनी की हुई स्तुतिमें कहते हैं—

शितविशिखहतो विशीर्णदंशः
क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।

'तीक्ष्ण बाणोंसे आहत हुए, जिनका कवच टूट गया, रक्तसे चारों तरफसे नहा गये।' भगवान्की आड़में रहते हुए भी अर्जुनकी यह दशा थी कि बाण चलाना मुश्किल था। थोड़ी देरमें तो यह हालत हो गयी कि युद्धक्षेत्रमें ठहरना असम्भव प्रतीत हुआ। घबराकर अर्जुनने भगवान्से कहा कि—'कृष्ण! यह क्या करा रहे हो? क्या प्रलय यहाँ ही करा देना चाहते हो? यह बूढ़ा अभी सब महाभारत समाप्त किये देता है। तुम्हें जबतक यह शस्त्र ग्रहण न करा देगा बाकी न छोड़ेगा।' बाणवर्षासे भगवान् भी तिलमिला उठे थे। यह संहार न देखा गया। आप

रथके जूड़ेसे कूद पड़े और सामने टूटे हुए रथका एक पहिया पड़ा था उसको उठाकर चक्रकी तरह अँगुलीमें घुमाते हुए आगे बढ़ गये। बस, भीष्मपितामहने सिंहनाद करके साभिप्राय एक खँखारा किया, अर्थात् ताना दिया कि क्यों, युद्धमें शस्त्र नहीं लूँगा यह प्रतिज्ञा रख ली?

जिन भगवान्की भ्रुकुटिमात्रके एक इशारेपर ब्रह्माण्डकी सब शक्तियाँ नाच उठती हैं, वहाँ बेचारे भीष्मकी क्या गिनती थी? परन्तु अपनी प्रतिज्ञाकी अपेक्षा आप अपने भक्तकी प्रतिज्ञाका अधिक सम्मान रखते हैं। अपना वचन चाहे चला जाय परन्तु भक्तकी बातमें बल न आये, यह आप संसारको दिखाना चाहते हैं। मरते-मरते भी ज्ञानैकनिधि भीष्मपितामह इस बातको याद करके कहते हैं—

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-
मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्ययात्............॥

'अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर मेरी प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये आप रथसे कूद पड़े और हाथमें पहिया ले लिया।' बात यह है कि भगवान्की भक्तवत्सलताका ही यह दोष है कि उनकी प्रतिज्ञा भक्तोंके हठके आगे नहीं ठहरने पाती। कई एक ऐसे उदाहरण आपको मिलेंगे। इसीलिये गीतामें आपने कहा है कि—

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

कहना चाहिये था—

अहं प्रतिजानामि न मे भक्तः प्रणश्यति।

मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। परन्तु आप अर्जुनसे कहते हैं कि 'त्वं प्रतिजानीहि'—तू प्रतिज्ञा कर। आपका तात्पर्य यह है कि यदि मैंने प्रतिज्ञा कर ली और उसके मुकाबलेमें कोई भक्त अड़ गया तो लेनेके देने पड़ जायँगे। मुझे अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर भक्तकी प्रतिज्ञा रखनी पड़ेगी। फिर मेरी प्रतिज्ञाका क्या मूल्य रहेगा। अतएव आप भक्तसे ही प्रतिज्ञा कराते हैं कि जिसमें कभी चल-विचल होनेका डर ही नहीं।

वही सन्देह भगवान्‌को यहाँ है। आपने विभीषणके स्वीकारके लिये शास्त्रकी, नीतिकी, धर्मकी, अपने स्वभावकी, सब युक्तियाँ देकर अपना मत परिपुष्ट कर दिया। विभीषणको स्वीकार करनेके लिये स्पष्ट आज्ञा दे दी। तीसरी बार जो आपने आज्ञा दी उसका फिर किसीने विरोध भी नहीं किया था। आपने अबकी स्पष्ट ही तो कह दिया था कि शरणागतको अभय देना यह मेरा व्रत (प्रतिज्ञा) है। परन्तु सुग्रीवादि भक्तोंके चुप रहनेसे आपको यह शङ्का अबतक बनी हुई है कि कहीं विभीषणको स्वीकार कर लेनेपर भी यदि हमारे हठीले भक्त अड़ गये और विभीषणके स्वीकारमें पीछेसे विरुद्ध हो गये तो मेरे आश्रय देनेका क्या मूल्य रहेगा। मैं बड़े गर्वसे जाकर विभीषणको लिवा तो लाया किन्तु पीछेसे अपने निश्चयको बदलनेकी नौबत आयी तो कैसी होगी? अतएव आप अपने हठीले भक्त सुग्रीवको ही आज्ञा करते हैं कि 'तुम लिवा लाओ'। जिसमें फिर किसी तरहके सन्देहका अवकाश ही नहीं रहे। इसी आशयसे आप स्वयं न जाकर कहते हैं कि—'आनय'—लिवा लाओ।

अथवा, अपना अन्तिम निर्णय सुनाकर शीघ्र ही 'आनय'का हुक्म देनेका दूसरा तात्पर्य है—श्रीजनकनन्दिनीको हर लानेवाले आततायी रावणको दण्ड देनेके लिये श्रीराघव इस समय समुद्रतटपर आये हुए हैं। त्रिलोकविख्यात क्रूरकर्मा दशाननको पूर्णशासन देनेके लिये किष्किन्धाधिपति सुग्रीवको सेनापति बनाकर आप अपार वानर-सैन्य साथ लाये हैं। इस समय फ़ौजी क़ानून पूर्ण रीतिसे बर्ते जा रहे हैं। चारों तरफ सेनानायकोंका बंदोबस्त है। स्थान-स्थानपर पहरे लग रहे हैं। किसकी मजाल है कि बिना आज्ञाके कोई अपरिचित पास तो आ जाय। ऐसे नाजुक समयमें विभीषण श्रीरामचन्द्रके समीप पहुँचनेकी प्रार्थना शिविरसन्निवेशके दरवाजेपर कराते हैं। विभीषण वैरीका साक्षात् भ्राता है यह सुनकर सब लोग एकदम बिगड़ उठे। शरणागतवत्सल श्रीरामचन्द्र आर्त विभीषणको परिकरमें लेनेके पक्षपाती हैं किन्तु यह आपके स्वभावके विरुद्ध है कि आप अपने अनुगतोंके विरुद्ध होकर कोई काम करें। अतएव विभीषणका संग्रह करना चाहिये कि नहीं, इसको तय करनेके लिये आपने विचारसभा बुलायी है। विभीषणके स्वीकारके लिये आपने जितनी बार युक्तियाँ दीं उतनी बार ही सभाके प्रधान सदस्य सुग्रीवने विरोध किया। अकेले सुग्रीव ही नहीं; अङ्गद, शरभ, जाम्बवान् आदि सभीने विभीषणको दलमें ले लेनेका विरोध किया। अकेले श्रीमारुति मात्रने विभीषणके पक्षमें समर्थन दिया। श्रीरामचन्द्रको स्पष्ट विदित हो गया कि मुझमें अलौकिक स्नेहके कारण मेरे अनुजीवियोंको विभीषणमें घोर शङ्का है कि यह पीछेसे मेरा अनिष्ट करेगा। पक्षसमर्थनके लिये आपने बहुत कुछ युक्तियाँ दीं परन्तु उनके

जवाबमें विरुद्ध युक्तियाँ ही तो सुन पड़ीं किन्तु अनुमतिके अक्षर कर्णगोचर न हुए। इधर विचार-ही-विचारमें शरणार्थी विभीषण दरवाजेपर खड़े न जाने कितना दुःख पा रहे होंगे, यह आपको अलग विचार हो रहा था। ज्यों-ज्यों विलम्ब होता जा रहा है त्यों-त्यों श्रीराघवका दुःखभार असह्य होता जाता है। दो वार जब-जब श्रीरामने विभीषणको ले लेनेका प्रस्ताव उठाया तब-तब विरोध किया गया। इस समय तीसरी बार सब सेनाके प्रधानाध्यक्षके रूपमें तथा इस विचारसभाके प्रधान सभापतिकी हैसियतसे कुछ जोर देते हुए आपने कहा कि मेरा यह सङ्कल्प है 'शरणागतको अभय दिया जाय।' इस कथनके अनन्तर थोड़ी देर चुप्पी रही। किसी तरफसे भी तत्काल उत्तर न मिला। श्रीरामचन्द्रने देखा कि— 'सम्भव है यह अब भी विरोध न छोड़ें। आगे इसपर भी कोई-न-कोई विरोध किया जाय। अतएव यही अवकाश अच्छा है। सभा न सही, सभापतिकी तरफसे ही यह प्रस्ताव हुआ सही। क्योंकि सभापतिके आसनसे जो प्रस्ताव होता है वह पास समझा जाता है। अतएव सभापतिकी हैसियतसे इस प्रस्तावको केवल पास ही नहीं, कार्यरूपमें परिणत करते हुए आप आज्ञा करते हैं— 'आनय'—इसको लाओ।

अथवा—सुग्रीवको ही लिवा लानेकी आज्ञा देनेका कुछ तात्पर्य है। अबतक सुग्रीव ही विभीषणके स्वीकारका विरोध—घोर विरोध कर रहे थे। कई युक्तियाँ देनेपर भी उनके हृदयमें कोई नहीं जँच रही थीं। ऐसे सङ्कटमय समयमें वैरिपक्षके आदमी-को लेना वह कथमपि नहीं चाहते थे। इसमें यही कारण है कि

वह श्रीरामचन्द्रके सत्य स्नेही थे। उन्हें पूर्ण शङ्का थी कि यह वैरीका साक्षात् भाई है। अतएव पीछे चलकर दारुण समयमें यह दगा करेगा। उनके नहीं लेनेमें उनका कोई स्वार्थ न था, न उनका विभीषणके साथ कोई वैर ही था। केवल श्रीरामचन्द्रका स्नेह ही उन्हें इस आग्रहके लिये बाध्य कर रहा था। किन्तु इधर श्रीरामचन्द्रको शरणागत विभीषणको लेना अभीष्ट है। श्री-राघवने देखा कि मैं जिस समय विभीषणको ले लूँगा और वह मेरे परिकरमें आ जायँगे उस समय मेरे स्नेहके कारण सदाके लिये सुग्रीव और विभीषणमें मनोमालिन्य रह जायगा। विभीषण समझेंगे कि मेरा विरोध करनेवाले प्रधानतया सुग्रीव ही थे। इधर सुग्रीव भी जब-जब विभीषणको देखेंगे तब-तब उन्हें यही स्मरण होगा कि यह वही है जिसको लेनेमें मैंने विरोध किया था परन्तु मेरी बात काटकर बलात् यह आया है। अतएव सुग्रीव और विभीषणमें विरोध न रहे बल्कि परस्पर यह स्नेहभाव हो जाय कि मुझको श्रीरामपरिकरमें सम्मिलित करनेवाले सबसे प्रथम व्यक्ति सुग्रीव ही हैं। अतः आप सुग्रीवको ही आज्ञा देते हैं कि—'आनय'।

किंवा सुग्रीवको ही आज्ञा देनेमें श्रीरामचन्द्र कोई प्रबल कारण समझ रहे हैं। आप शरणार्थीकी अनुरोधरक्षा सर्वतः प्रधान मानते हैं। शरणार्थीके ही लिये तो इतना वाद-विवाद, आग्रह करके आपने अपना पक्ष सिद्ध किया है। भला आप शरणार्थीका अनुरोध टाल देंगे? शरणार्थी विभीषणने 'निवेदयत मां क्षिप्रम्', 'महात्मा श्रीरामचन्द्रके समीप मेरे आनेका निवेदन कीजिये' कहकर सुग्रीवादिको ही तो अपना प्रधान द्वार बनाया था।

विभीषण जानते थे कि जिस समय मैं लङ्कासे रवाना हुआ और मेरी मति श्रीरामके अभिमुख हुई उसी समयसे प्रभुने मुझे स्वीकार कर लिया। अथवा यों समझिये कि प्रभुने मुझे अङ्गीकार करनेकी इच्छा की तभी तो मेरी मति प्रतिकूल संगसे छूटकर श्रीरामके अभिमुख हुई। अतएव मेरे स्वीकार कर लेनेमें श्रीरामकी कृपा ही कारण हुई, मेरी तरफका पुरुषार्थ तो कुछ न हुआ। और वह चाहते थे कि मेरी तरफका उद्योग भी कुछ उसमें सम्मिलित होना चाहिये। इसलिये सुग्रीवादिको ही पुरुषकारतया वरण करते हुए उन्होंने कहा था—'निवेदयत मां क्षिप्रम्।' भक्तपरवश श्रीरामचन्द्र भी अपने शरणार्थीकी इच्छा नहीं टालना चाहते। इसीलिये आप भी अपने परिकरके प्रमुख श्रीसुग्रीवको ही स्वीकृतिका द्वार बनाते हुए आज्ञा करते हैं—'आनय' 'विभीषणको लिवा लाओ।'

आगे है—'हरिश्रेष्ठ!' 'हे हरिश्रेष्ठ! इसको लिवा लाओ।' यहाँ 'हरिश्रेष्ठ' सम्बोधनसे श्रीरामचन्द्र अपना हार्दिक कारुण्य प्रकट कर रहे हैं।

त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः।

यह दैन्यभरे शब्द जबसे आपके कानमें पड़े हैं तभीसे आप विभीषणको देखनेके लिये उत्कण्ठित हो रहे हैं। सायंकाल वनसे आयी हुई बालवत्सा गौ जैसे अपने घरके दरवाजेपर खड़ी खिड़कीके खुलनेकी प्रतीक्षा किया करती है, उसको अत्यन्त उतावली रहती है कि किसी तरह दौड़कर अपने बच्चेको सूँघूँ, चाटूँ। इधर बच्चा भी आयी हुई माताका हुंकार शब्द जैसे ही सुनता है, कान

ऊँचे करके 'माँ' यह करुणा और प्रेमसे भरा शब्द पुकार उठता है। बस, उस समय वत्सलप्रकृति गौसे नहीं रहा जाता। वह खिड़कका दरवाजा तोड़कर भी भीतर जाना चाहती है। इसी तरह श्रीराम भी विभीषणके विषयमें विरुद्ध वाक्य सुनते-सुनते ऊब गये। निरर्थक विलम्ब रोकनेके लिये आपको अपना दिव्य प्रभाव भी अपने मुखसे कह देना पड़ा। आपने स्पष्ट कह दिया कि चाहे कुछ भी हो शरणागतको अभय देनेका जो मेरा स्वभाव है इसे मैं नहीं रोक सकता। इसके साथ ही कुछ भी प्रतीक्षा न करके आप आज्ञा भी दे चुके हैं—'एनम् आनय' 'इसको ले आओ।' आपका हृदय तड़प रहा है कि 'हाय ! दरवाजेपर आवाङ्मुख खड़े विभीषणको न जाने इस प्रतीक्षामें कितना दुःख होता होगा। हा हन्त ! शरणार्थी, और मेरे द्वारपर खड़ा दुःख पावे ! अतएव उसकी और मेरी इस दुःखनिवृत्तिके लिये यदि तुम ही जाकर उसको लिवा लाओगे तो मेरे स्नेहपात्र सम्पूर्ण वानरोंमें तुमसे बढ़कर श्रेष्ठ और कौन होगा ? यावन्मात्र वानर जो अपने प्राणोंकी भी परवा न करके मेरे लिये सम्मुख समरमें लड़ेंगे भला उनका अहसान कभी मैं भूल सकूँगा ? वह मेरे प्राणप्रिय हैं। किन्तु विभीषणके लिये जो मेरे हृदयकी करुणदशा है उसको यदि तुम सबसे आगे होकर सँभाल लोगे तो तुमसे अधिक मैं किसका अहसान मानूँगा ? तुमको सबसे बढ़कर समझूँगा।' बस, इसी आशयसे यहाँ सम्बोधन दिया है—'हरिश्रेष्ठ !'

'अस्य अभयं मया दत्तम्'—इसको मैंने अभय दे दिया। यहाँ 'दत्तम्' दे दिया, यह भूतकाल कैसे ? अभी विभीषणको देखा

नहीं, उसके दुःखोंको प्रत्यक्ष सुनातक नहीं। फिर अभय अभीसे दे दिया। कहना चाहिये था 'दास्यामि' 'इसको लिवा लाओ मैं अभय दूँगा।' ठीक है, श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि जिस समय विभीषणने अपने सहोदर भाई को छोड़ा। चाहे जैसा क्रूरकर्मा और नृशंस था परन्तु था उसका भाई। अबतक वह उसीके आश्रयमें रह रहा था। उसीने उसका पालनादि किया था। आज वह मेरे ही कारण छोड़ रहा है। 'श्रीजनकनन्दिनीको श्रीरामके समीप पहुँचाकर उनसे सन्धि कर लो' यही तो उसको समझाना था। इसीपर तो अभिमानमूर्ति रावणने उसका अपमान किया था। आज इसीलिये तो वह अपने स्त्री, पुत्र, लङ्काकी विभूति, धन, वैभव सब कुछ छोड़कर मेरे पास आश्रय लेनेके लिये चला आ रहा है। मैंने प्रतिज्ञा कर रक्खी है कि कोई भी और कैसा भी दोषी मेरे अभिमुख चला आवे उसको मैं आश्रय दूँगा। मेरे यहाँ तो साधारण-से-साधारण शरणार्थीको भी आश्रय मिलता है। जिसमें इसने तो मेरे ऊपर बड़ा अहसान किया है। मेरे हितके लिये अपना सर्वस्व त्याग किया है। दुस्त्यज घरद्वार तककी ममता छोड़ दी है, भला यह त्याग कुछ कम है? जिस समय भाईपर विपत्ति आ रही है, अपना पारम्परिक राष्ट्र नष्ट हो रहा है, उस सङ्कटमय समयमें भी न्यायके मार्गको अवलम्बन करके वह मेरी सहायताके लिये यहाँ चला आ रहा है। उसके हृदयमें सच्ची लगन है कि मैं श्रीरामकी सहायता करूँ। मेरी इस सहायताके वदले आजन्मके लिये उसने कलङ्क मोल ले लिया।

विभीषण चाहे जैसे धर्मात्मा हों, चाहे जिस भावसे रामकी सेवा उन्होंने अङ्गीकार की हो परन्तु विश्वभरमें वह विश्वासघातीकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। 'घरका भेदी लङ्का ढाये' यह प्रवाद आज-तक नहीं मिटता। जो मेरे लिये इतना त्याग कर चुका है उसका उपकार मेरे ऊपर कुछ सामान्य है? परन्तु इतना होनेपर भी वह अपनी आत्मामें ज़रा अभिमान नहीं रखता। रञ्चकमात्र भी मेरे प्रति अहसानकी झलक दिखाना नहीं चाहता। वह अपने मुखसे अपना निकर्ष सूचित कर रहा है, दैन्य दिखा रहा है। भला यह सामान्य शरणभाव है? नहीं-नहीं, उसका उत्कर्ष मेरा यह हृदय जानता है। जिस समय वह लङ्कासे रवाना हुआ उसी समयसे मैंने भी उसको अङ्गीकार कर लिया, उसको अभय दे दिया। इसी भावको लेकर श्रीरामचन्द्र यहाँ आज्ञा करते हैं—'अभयं दत्तम्' दे दिया।

सदाचारमें चलनेवाले धार्मिक विभीषणने जिस समय सुना कि रावण श्रीरामचन्द्रकी वञ्चना करके श्रीजनकनन्दिनीको ले आया है उसी समयसे उनका हृदय लङ्कासे निर्विण्ण हो गया था। फिर जैसे-जैसे अशोकवाटिकाके क्रूर वृत्तान्त उनके पास पहुँचते रहे वैसे-वैसे उनके हृदयमें एकान्त दुःख बढ़ता रहा। रावणको अहितमार्गसे हटाकर कल्याणके रास्तेपर लानेके लिये वह बड़े विकल हो रहे थे। जब-जब उनको अवसर मिलता वह उग्र-प्रकृति रावणके स्वभावको देखकर दबी जबान धीरे-धीरे हितकी सलाह देते। परन्तु राक्षसमण्डलीमें भली सलाह कौन सुनने देता है? जिस समय श्रीराघवका समुद्रतटपर पधारना सुना तथा यह

भी विदित हुआ कि किष्किन्धाधिपति अथाह वानर-ऋक्ष-सैन्य लेकर साथ आये हैं और समुद्रोल्लङ्घनकी सलाह हो रही है, उस समय रावणके सच्चे हितैषी विभीषणसे न रहा गया। बिना कहे भी आप लङ्काधिपतिके पास गये। जिस समयसे रावण और उसके सलाहकारोंको यह विदित हुआ कि विभीषण सीताके हरणसे अप्रसन्न हैं तथा रामसे सन्धि कर लेनेके पक्षपाती हैं उसी समयसे लङ्काधिपतिके राजमहलमें उनका सम्मान घट चुका था। कोई उनके अनुकूल न था, सब उन्हें हेयदृष्टिसे देखते थे। रावण भी उनसे न कभी बोलता, न सलाह लेता; किन्तु विभीषण रावणका भला चाहते थे। अतएव अपने मानापमानकी तरफ कुछ न देखकर वे चलकर राजमहलमें पहुँचे।

जहाँतक उनकी शक्ति थी खूब ऊँच-नीच रावणको समझाया। परन्तु इसपर प्रहस्त आदि सभी मन्त्री बिगड़ उठे। इन्द्रजीत जो इनका भतीजा था, पुत्रके समान पोष्य था, उसने भी यहाँतक उनका अपमान और तिरस्कार किया और कहा कि 'इस कुलकी तो क्या कथा किसी नीच कुलमें उत्पन्न हुआ मनुष्य भी ऐसी सलाह नहीं दे सकता। इस वंशमें एक यही ऐसे हुए हैं जो वीर्य, पराक्रम, धैर्य, तेज इत्यादि सबसे हीन हैं।' दयालु विभीषणके हृदयमें भतीजेके ये वाक्य विषबुझे तीरकी तरह लगे। रावणने भी इन्हें बड़े कुटिल वाक्योंसे फटकारा। कहा कि—

वसेत्सह सपत्नेन क्रुद्धेनाशीविषेण च।
न तु मित्रप्रवादेन संवसेच्छत्रुसेविना॥

'शत्रुके साथ, क्रुद्ध हुए साँपके साथ भी आदमी रह सकता है परन्तु ऊपरसे मित्र-सा दीखे और भीतर शत्रुसे मिला हुआ हो ऐसे मनुष्यके साथ कभी न रहे।' साधुहृदय विभीषण उठ खड़े हुए। अपने कर्तव्यकी जहाँतक दौड़ हो सकती थी उससे अधिक उद्योग वह कर चुके थे। इस दशामें उन्हें यहाँतक दुःख हुआ कि बिना घर गये ही समुद्रतटकी ओर उन्होंने मुख कर लिया। नलिनायतलोचन भगवान् श्रीरामचन्द्रकी ओर उनका चित्त खिंच गया था। लङ्का, स्त्री, पुत्र, राज्यविभूतियाँ, उसी क्षण उनके हृदयसे हट चुकी थीं। उनको एकमात्र अब यही ध्यान था कि जिन श्रीरामचन्द्रके गुण अबतक सुनता आया हूँ, जो दयाके सागर सुने जाते हैं, वह क्या मेरे सदृश दुष्कुलोत्पन्न पुरुषको भी अपनी सेवामें ले सकेंगे?

ध्यान रहे, यह विभीषणकी भावना आन्तरिक थी। इसमें कृत्रिमताका लेशमात्र न था। जिन श्रीरामचन्द्रको देखा नहीं, परिचय नहीं, प्रत्युत इस समय वैरीपक्षमें हो रहे थे, उन्हींकी तरफ एकाएक हृदयका मुड़ जाना स्वभावकी प्रेरणा नहीं तो और क्या है? फिर आप ही देख लीजिये—स्वभावसे, सच्चे हृदयसे, अकृत्रिम भावसे भगवान्‌का ध्यान किया जाय और भगवान् उसका अनिष्ट देखा करें? नहीं-नहीं, वे अन्तर्यामी हैं। जिस समय इनके हृदयमें अङ्कुररूपसे ही भगवान्‌की भावना उत्पन्न हुई थी, उसी समयसे वह उनसे अविदित न थी। भगवान् उसी समय उन्हें परिकरमें ले चुके थे और अभय दे चुके थे, अब लेना-देना

कैसा ? इसीलिये भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं 'अभयं मया दत्तम्'—अभय मैं पहले ही दे चुका ।

यहाँ कहा है 'अस्य अभयं मया दत्तम्'। 'दा' धातुका प्रयोग होनेपर 'सम्प्रदाने' चतुर्थीका होना अनिवार्य है । अतएव 'अस्मै अभयं मया दत्तम्'—इसके लिये मैंने अभय दे दिया, यों कहना चाहिये, फिर 'अस्य' क्यों ? ठीक है । दानका अर्थ है 'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वापादन'। अर्थात् 'दी जानेवाली चीज-परसे अपना स्वत्व हटाकर, जिसे दी जाती है उसका स्वत्व स्थापित करना ।' हमने गाय ब्राह्मणको जिस समय दी उसी समय उसपरसे हमारा स्वत्व हट गया और ब्राह्मणका स्वत्व (अधिकार) हो गया । इसलिये यह दान कहलाता है । किन्तु धोबीको कपड़े हम जिस समय धुलनेके लिये देते हैं उस समय उन कपड़ोंसे हम अपना स्वत्व नहीं हटाते, न धोबीको स्वामित्व देते हैं, धोकर वापस देने-के लिये देते हैं । दो दिन भी देर हो जाती है तो तक़ाज़ेपर तक़ाज़ा भेजते हैं । ऐसी हालतमें धोबीको कपड़ोंका देना 'दान' कौन कहेगा ? अतएव वहाँ सम्प्रदानमें चतुर्थी भी नहीं होती 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' यही बोला जाता है ।

गीताने भगवान्की तरफ़ अभिमुख होनेवाले अधिकारियोंमें प्रधानतया चारको गिनाया—'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च'। उनमें विभीषण पहली कोटिमें आते हैं । श्रीरामचन्द्रके गुणश्रवण करनेके कारण वह बहुत काल पूर्वसे ही उनमें सद्बुद्धि रखते थे । उन्हें साधारण नहीं अलौकिक महापुरुष समझते थे । उनको मालूम था

कि यह पराक्रम मानुष नहीं देवविभूति है। इसीलिये रावण और इन्द्रजित्‌का लोकविख्यात, प्रत्यक्ष दृष्ट पराक्रम जानकर भी उन्होंने कहा था—

यावन्न सगजां साश्वां बहुरत्नसमाकुलाम्।
पुरीं दारयते बाणैर्दीयतामस्य मैथिली॥

'हाथी, घोड़े, रत्नोंसहित इस लङ्काको जबतक श्रीरामचन्द्र अपने बाणोंसे नष्ट नहीं करते उसके पहले ही जानकीको दे दीजिये'। किन्तु दुर्दैवदावानलसे दग्ध हुए रावणने इस बातपर ध्यान नहीं दिया प्रत्युत विभीषणको घरसे निकल जानेकी भर्त्सना की कि—

न तु मित्रप्रवादेन संवसेच्छत्रुसेविना।

भगवान् श्रीरामचन्द्रके गुणोंने पहले ही इनके हृदयमें स्थान कर लिया था। इधर इस तिरस्कारने और भी हृदयभूमिका शोधन कर दिया। अहर्निश कोसलेन्द्र श्रीरामचन्द्रकी भावना रहने लगी। वह चाहते थे कि अवश्यावश्य नष्ट होनेवाली इस लङ्कासे बाहर निकल जाऊँ। दुर्जनोंके निरन्तर संसर्गसे किसी तरह भी बच जाऊँ। परन्तु सगे भाईका स्नेह इन्हें रोके हुए था कि किसी तरह भी इसे दुष्कार्योंसे बचाकर अच्छे रास्तेपर ले आऊँ, जिससे इसके प्राण बच जायँ। परन्तु जब देखा कि यह दैवकी ही प्रेरणा है कि रावण अब नष्ट होनेसे नहीं बच सकता। उसपर भी सब लङ्काभरने विभीषणका तिरस्कार किया। 'दूसरा होता तो इसी क्षण तुझे मार देता। कुलकलंक! तुझको धिक्कार है' कहकर

रावणने इन्हें ठुकराया। इन्होंने देखा अब अपना बस नहीं। न लोकके अनुसार मैं दोषी ही हूँ। श्रीरामके समीप चलनेका यही अवसर है। बस, अङ्कुररूपसे स्थित भगवान्‌की भक्ति इनके हृदयमें लहलहा उठी। यह उसी आन्तरिक वेदनाको लिये 'आजगाम मुहूर्तेन यत्र रामः सलक्ष्मणः'—लक्ष्मणसहित श्रीरामकी सेवामें उपस्थित हुए।

अब आप ही देखिये—श्रीरामचन्द्रका पक्ष लेनेके कारण किसीको पीड़ा हो, उसका घोरातिघोर अपमान हो, और अन्तर्यामी श्रीरामचन्द्र जानते हुए भी उसकी उपेक्षा करें, उसको भयाभिभूत रहने दें, क्या यह सम्भव है ? नहीं, नहीं, जैसे ही रावणने—'अस्मिन् मुहूर्ते न भवेत्' इत्यादि भय देनेके वाक्य विभीषणके प्रति कहे, उसी समय त्रिलोकसाक्षी भगवान्‌ने आगे बढ़कर भयके जवाबमें अभय दे दिया। उसी समयसे अभय विभीषणकी मुट्ठीमें आ गया। अब अकेला रावण ही क्या त्रिभुवन भी उसका अनिष्ट नहीं कर सकता। जिस समय अजामिलका काल आया और यमदूतोंने पाशमें डालकर उसको डराया उसी समय 'नारायण' नाम लेते ही भगवान्‌के पार्षद पहुँचे। उसको केवल उसी भयसे नहीं, सदाके लिये यावन्मात्र भयोंसे मुक्त कर दिया।

भगवद्भक्त प्रह्लादको हिरण्यकशिपु जैसे ही खड्ग लेकर भरी सभामें मारनेको तैयार हुआ और गर्जना करके बोला कि 'बता अब तुझे बचानेवाला कौन है।' उसी क्षण, अस्थानसे भी प्रकट होकर भगवान् स्वयं पहुँचे और प्रह्लादकी रक्षा की। जहाँ-जहाँ भगवान्‌के

भक्तोंको पीड़ा दी गयी और उनको डराया गया, वहाँ-वहाँ भक्त तो पीछे चेते हों परन्तु भक्तोंके वशीभूत भगवान् पहले पहुँचे हैं, और उन्हें इस तरह निर्भय कर दिया है कि सब भयोंका एक भय मौत भी उनसे डरती है—'मृत्युरस्मादपैति'। फिर भगवान्‌के कारण ही जिन्हें भय दिया जा रहा हो ऐसे विभीषणको भला भगवान् भूल जायँगे ? नहीं। उसी क्षण अभय उनके सुपुर्द कर दिया गया। विभीषणके लिये जिस अभय देनेकी बातको आप अब उठा रहे हैं वह बहुत काल पहलेसे ही उनका हो चुका। भगवान्‌का कब्जा उसपरसे हट गया। अतएव भगवान् कहते हैं यह अभय तो मैं पहले ही दे चुका, उसका स्वत्व पहले ही उसपर हो चुका, अब दान कैसा ? इसीलिये सम्प्रदानमें होनेवाली चतुर्थी भी नहीं हुई। किन्तु पहलेसे ही हो चुके हुए इनके परस्पर सम्बन्धको लक्ष्य करके 'सम्बन्धे षष्ठी' की गयी है। इसी लिये यहाँ कहा है 'अस्य अभयं मया दत्तम्'।

अनन्तशक्ति भगवान्‌की शक्ति भी भक्तकी इच्छाके आगे कुण्ठित होती हुई देखी जाती है। भगवान् चाहते कुछ हैं और भक्तकी इच्छा यदि दूसरी है तो भक्तकी इच्छाके अनुसार ही भगवान्‌को चलना पड़ता है। दुर्वासाको जिस समय सुदर्शनचक्रने लपकाया उस समय भगवान् श्रीविष्णुने स्पष्ट कह दिया कि—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।

भगवान् भक्तकी मुट्ठीमें हैं। अब आप ही समझ लीजिये कि भगवान्‌की भक्ति हो जाना कितना ऊँचा अधिकार है।

त्रिलोकनायक भगवान्‌को भक्तके इङ्गितके अनुसार नाचना पड़ता है। अतएव भगवान्‌की भक्ति हर-एकके भाग्यमें नहीं। भगवान् सब कुछ दे देते हैं परन्तु भक्ति देते समय बड़ा विचार करते हैं। स्वर्ग, सार्वभौम राज्य, ब्रह्माका अधिकार, और तो क्या मोक्षतक दे देते हैं परन्तु भक्ति सहजमें नहीं देते। परमहंस भी भक्तिके लिये तरसते हुए भगवान्‌की कंजूसी वर्णन करते हैं कि—

मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स न भक्तियोगम्।

परन्तु जिस भाग्यवान्‌के ललाटमें भगवान्‌की भक्ति लिखी होती है वह त्रिभुवनमें धन्य है। जिस समय उसका जन्म होता है—गन्धर्व, विद्याधर, देवतातक उसके बड़े भाग्यकी सराहना करते हैं। अनन्त पुण्य करनेवाली माताएँ तक भक्त पुत्रके लिये तरसती हैं—

सुरतिय नरतिय नागतिय सब चाहत अस होय।
गोद लिये हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय॥

विभीषण भूरिभाग्य थे जिनके हिस्सेमें भगवान्‌की भक्ति आयी थी। रावण और कुम्भकर्ण पुलस्त्य कुलके जैसे प्रत्यक्ष पाप थे वैसे ही विभीषण पूर्ण पुण्योदय थे। महर्षि विश्रवाने हर्षगद्गद होकर कहा था कि—

पश्चिमो यस्तव सुतो भविष्यति शुभानने।
मम वंशानुरूपः स धर्मात्मा च न संशयः॥

'तुम्हारा सबसे छोटा जो पुत्र होगा वह धर्मात्मा होगा, मेरे वंशके योग्य होगा, इसमें सन्देह नहीं।' जिस समय उनका जन्म

हुआ देवताओंतकने बधाई बाँटी। देवलोकमें नौबतखाने बैठे। पुष्पवर्षा हुई—

> तस्मिञ्जाते महासत्त्वे पुष्पवर्षं पपात ह।
> नभःस्थाने दुन्दुभयो देवानां प्राणदंस्तथा॥

उनकी धर्मरुचि और भगवद्भक्तिको क्या कहा जाय, वह जनककी तरह सर्वदा अपने अन्तःकरणमें भगवान्‌की तरफ अन्तर्मुख रहते थे। प्रसन्न होकर ब्रह्माने कहा कि—'वर माँगो' धर्मात्मा विभीषणने उसके उत्तरमें क्या माँगा?

> प्रीतेन यदि दातव्यो वरो मे ननु सुव्रत।
> परमापद्गतस्यापि धर्मे मम रतिर्भवेत्॥

'हे भगवन्! आप प्रसन्न हुए हैं और मुझे वर देना ही चाहते हैं तो यही दीजिये कि घोरातिघोर आपत्ति आनेपर भी मेरी मति धर्ममें रहे।' उनके जन्म होते समय देवता ही नहीं, भगवान्‌तक प्रसन्न हुए थे कि मेरे एक भक्तका जन्म हो रहा है। जन्मसे ही भगवद्भावना उनके साथ थी। कहिये—सन्मार्गमें चलनेवाले साधारण मनुष्यतकको जब निर्भय माना जाता है तब विभीषण-सरीखे भाग्यवानोंके भाग्यमें अभय न होगा? नहीं-नहीं, अभय तो भगवत्सेवकोंके साथ-साथ चलता है—

> मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
> पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
> उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावा-
> द्विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः॥

'इस संसारमें भगवच्चरणारविन्दका सेवन ही ऐसा है कि 'अकुतश्चिद्भयम्' किसी तरफसे भी जिसपर भय नहीं आ सकता, ~~ऐसा है।~~ देहादि असत् पदार्थोंमें जो मनुष्यको आत्मबुद्धि रहती है उससे जहाँ उसका उद्वेग हुआ कि उसका भय सर्वथा निवृत्त हो जाता है।' आहा, निर्भयताका क्या अव्यभिचारी कारण बतलाया है। मनुष्य जबतक देह, घर, स्त्री, पुत्र आदिमें आसक्त रहता है, अहन्ता-ममतासे ग्रस्त रहता है तभीतक तो उसपर चारों तरफ़से वार होते हैं। जहाँ उसने इन सबको मिथ्या समझकर सत्य तत्त्वकी ओर मुख किया, भगवच्चरणारविन्दका आश्रय लिया, उसी समय 'निवर्तते भीः' भय सदाके लिये दूर हो जाता है। भगवच्चरणारविन्दोंका आश्रय लेनेवालोंके पास भला भय आ सकता है? सब भयोंका महाभय तो संसारचक्रका भय है जिससे बाहर निकल जाना सम्भव ही नहीं। इस भयसे देवता, ऋषि-महर्षि ही क्या बड़े-बड़े महाभागवत भक्ततक घबराते हैं।

भगवान् नृसिंहकी उग्र मूर्तिको देखकर बड़े-बड़े देवतातक काँप उठे थे। और तो क्या, श्रीलक्ष्मीजीने भी भगवान्‌का—

अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात्सा नोपेयाय शङ्किता।

'ऐसा भयानक रूप न कभी देखा था न सुना था। अतएव वे भी डरके कारण न जा सकीं।' किन्तु महाभक्त प्रह्लादको उससे भी भय न हुआ। वे कहते हैं—'हे भगवन्! त्रिलोकीको भय पैदा करनेवाले आपके इस रूपसे मैं नहीं डरता। डरता हूँ इस भयानक संसारचक्रसे'—

नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य-
जिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात् ।

× × ×

त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र-
संसारचक्रकदनात्........ ।

इस भयके मारे ब्रह्मादि देवतातक काँप उठते हैं किन्तु वह भयानक भय भी भगवत्सेवकोंके पास नहीं आने पाता—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद्विपदां न तेषाम् ॥
(भाग० १०।१४।५८.)

'जो भगवच्चरणारविन्दरूप नौकाका आश्रय लेते हैं उनके लिये यह भवसागर वत्सके खुरके समान हो जाता है। 'परं पदं तेषां पदं भवति'—'परमपद उनका स्थान होता है। विपत्तियोंका जो स्थान है वह उनका स्थान कभी नहीं होता। भला, ऐसोंके लिये कहीं अभय खोजने जाना पड़ता है? नहीं-नहीं, अभय उनका है। इसी आशयसे भगवान्ने भी यहाँ कहा है—'अभयम् अस्य', अभय तो इस विभीषणका ही है जो 'मया दत्तम्',—मैंने अपने हाथसे नाममात्रके लिये दे दिया है।

जिन भक्तोंको इतना अधिकार मिल गया है कि उनके लिये भवाम्बुधि भी गोखुरवत् है, भला उनके पास कोई भय, ताप, दुःख आ सकता है?

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः॥
(भाग० ११।२।५४)

'भगवच्चरणारविन्दकी नखचन्द्रिकासे जिनके सब ताप दूर हो चुके हैं उनके हृदयमें फिर सांसारिक तापादिका प्रसंग हो सकता है? चन्द्रके उदय होनेपर कभी किसीको सूर्यके तापने सताया है?' मनुष्य जिस समय भगवान्‌का स्मरण सच्चे मनसे करता है और भगवान् उसके हृदयमें आ विराजते हैं उस समय उसके सब पाप-ताप दूर हो जाते हैं। जिन भगवान्‌के नामस्मरणमात्रसे अजामिल-सरीखे पापी भी तर जाते हैं, भला वह भगवान् साक्षात् हृदयमें आ विराजें और पाप-ताप फिर भी उसे सताते ही रहेंगे? नहीं-नहीं! जो अनन्यभावसे भगवच्चरणारविन्दका आश्रय लेते हैं, हृदयमें संनिविष्ट हुए परात्पर भगवान् उनके उन सब विरुद्ध कर्मोंको भी दूर कर देते हैं जो ज्ञानाज्ञानमें बन पड़े हों।

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चि-
द्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

आज विभीषणसे बढ़कर भाग्यवान् कौन होगा जिनके हृदयमें स्वयं भगवान् विराजे हैं। धर्मानुरोध और भाईके कर्तव्या-नुसार जिस समय उन्होंने रावणको हितकी सलाह दी और उसके

बदलेमें उसने क्रोध ही नहीं, उनका घोरापमान किया उस समय भगवान्‌की स्मृति उनके हृदयमें और भी उज्ज्वल हो उठी। वह पहलेहीसे विरक्त-से तो रहते ही थे, इस समय सब कुछ छोड़कर भगवान्‌की तरफ चल पड़े। भगवान्‌का आश्रय लेनेके सिवा उन्हें अब कुछ नहीं दिखायी दे रहा था। अहा ! जो भगवान्‌की शरणमें जा रहा है उससे बढ़कर पुण्यात्मा और भाग्यवान् कोई हो सकता है ? देवतातक उसके भाग्यकी बड़ी श्लाघा और भीतर-भीतर ईर्ष्या करते हैं। जिस समय शरणार्थी भगवान्‌की शरणमें जाने लगता है उस समय उसका एक-एक पैंड पवित्रतम और दूसरोंके लिये पावन हो जाता है। भक्तिगद्गद होकर भावुक कहते हैं 'पग-पग होत प्रयाग'

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां
न किङ्करो नायमृणी न राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम्॥

'वह भाग्यवान् देवता, ऋषि, पितर आदि सबसे अनृण हो जाता है, किसीका फिर सेवक नहीं रहता जो सब कुछ छोड़-कर शरणागतवत्सल भगवान्‌के शरण होता है।' कहिये—आज विभीषणसे बढ़कर कोई पुण्यात्मा और भाग्यवान् होगा ? फिर ऐसा पुण्यात्मा भी किसीका मुहताज होगा, भय उसे फिर सतायेंगे ! नहीं-नहीं, जिस समय उनकी बुद्धि भगवान्‌के अभि-मुख हुई उसी समय चारों पुरुषार्थ उनके हो चुके। फिर अकेला

अभय (मोक्ष) ही कहाँ रहा ? वह तो उसी समय उनका हो चुका था। इसीलिये भगवान् श्रीरामचन्द्र भी यहाँ कहते हैं ‘अस्य अभयं मया दत्तम्’ अभय तो इसका पहले ही हो चुका था,—अब अपनी तरफसे रस्म पूरी करनेके लिये ‘मया दत्तम्’ ‘मैंने दे दिया है।’

भगवत्कृपाजनित शुभ संस्कारोंके बिना किसीके भाग्यमें भक्ति नहीं होती। परमहंसोंका कहना है कि ज्योतिष्टोमयाजी, अश्वमेधयाजी, अब्भक्ष-वायुभक्ष होना सहज है किन्तु भगवद्भक्त होना भगवान्‌की कृपाके बिना नहीं हो सकता। विभीषण जन्मसे ही संस्कारी थे। महर्षि वाल्मीकिने स्थान-स्थानपर उन्हें ‘विभीषणस्तु धर्मात्मा’ कहा है। सज्जन वह लङ्कासदृश निशिचर-निवासमें भी ‘जिमि दसननि महँ जीभ बिचारी’ की तरह रह रहे थे। हृदयमें भगवद्भक्ति रखते हुए भी रावणके कारण उसे प्रकट करना उचित नहीं समझते थे। वह सच्चे भक्त थे। उन्हें ज़मानेको दिखानेकी क्या ज़रूरत थी। फिर ऐसे अवसरपर, जब कि लंकानायक रावणके हृदयमें नाहक असन्तोष हो। गोस्वामीजी तो यहाँतक कहते हैं कि वह इस विषयमें रावणका भी अनुरोध नहीं रखते थे। वह अपने घरमें पूर्ण भक्तकी रीतिसे रहते थे। उनके राजमहलमें उपासनाके लिये भगवान्‌का मन्दिर अलग बनाया हुआ था। उनके मकानपर राम-नाम अङ्कित थे। श्रीतुलसीके पेड़ चारों तरफ लग रहे थे।

राम-नाम अंकित गृह, सोभा बरनि न जाय।
नव तुलसिका बृन्द तहँ, देखि हरष कपिराय॥

(रामचरितमानस)

ऐसे जन्मसिद्ध भगवद्भक्तपर भगवान्‌का अनुग्रह आज हुआ है, क्या यह माना जा सकता है ? भगवान्‌के अनुग्रह बिना जब मनुष्य भगवान्‌के अभिमुख ही नहीं हो सकता तब पहलेहीसे उन-पर भगवान्‌का अनुग्रह था, यह अवश्य मानना पड़ेगा। आहा, जब उनपर भगवान्‌का अनुग्रह है और वह भगवद्भक्त हैं तब उनके लिये फिर कमी क्या रह गयी ? सांसारिक प्रतिबन्ध तभी-तक रहते हैं जबतक मनुष्य सांसारिक पदार्थोंमें ममता रखकर आसक्त रहता है। जहाँ वह सब कुछ छोड़कर भगवान्‌के अभि-मुख हुआ कि वे सब प्रतिबन्धक उससे कोसों हट जाते हैं—

तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनः॥

(भाग० १०।१४।३६)

'राग-द्वेषादि चोर तबतक उसके पीछे लगे रहते हैं, यह घर भी तबतक उसके लिये क़ैदखाना रहता है और मोह भी तभी-तक उसके लिये बेड़ीका काम देता है जबतक यह मनुष्य आप-का नहीं हो जाता।' जब यह मनुष्य आपका हो गया अर्थात् किसी तरहसे भी आपके साथ उसका सम्बन्ध हो गया फिर उसे यह सब विडम्बना नहीं रहती।

ज़रा विचार कीजिये, कैसे विज्ञानकी भरी हुई बात कही है। लोग समझते होंगे कि यह भक्तिका माहात्म्य और अर्थवाद है, किन्तु नहीं। यह तो स्वाभाविक बात है। आप जिस घरमें रह रहे हैं, उसकी बड़ी हिफ़ाजत करते हैं। कुर्सी रखते समय दीवार-पर ज़रा टक्कर भी लग जाती है तो नौकरपर एकदम बिगड़ उठते

हैं। किन्तु जिस समय उस घरको बै कर देते हैं उस समय आपकी उसपर दूसरी ही बुद्धि हो जाती है। नौकरने कहा कि 'ओहो, आज तो वह अपनीवाली हवेली इस भूकम्पमें यकायक सब-की-सब बैठ गयी। खैर तो यह हुई कि उस समय सब मकानदार बाहर गये हुए थे नहीं तो बड़ा अनर्थ होता।' इस बातको सुनकर आपको उतना ही विस्मयसंवलित कौतुक हुआ जो और-और मकानोंके गिरनेकी खबर पत्रोंमें पढ़कर हुआ था। बल्कि भीतर-भीतर आपको यह विजयहर्ष होता है कि चलो यह अच्छा हुआ कि हमने पहले ही बेच दिया था। अन्यथा हजारोंपर पानी तो फिरता ही किन्तु इस समय मलबा उठवानेके लिये म्युनिसिपलटीवाले नाहक और तंग करते।

यह वही मकान है जिसमें एक टाँच पड़ जानेपर भी आप आँच हो उठते थे किन्तु देखिये आज यह खबर सुनकर भी उसी तरह पानीकी तरह ठंढे हैं। कारण यही है कि अब उससे आपका सम्बन्ध नहीं, मेरा है यह ममता नहीं रही। बस, इसी तरह मनुष्य जब संसारके सब पदार्थोंसे सम्बन्ध हटाकर भगवान्के साथ सम्बन्ध कर लेता है, फिर उसे क्लेश नहीं होता। भक्तोंकी मर्यादा भी पुरानी चली आती है कि वह अपने पुत्र, घर-बार आदिको तो भगवान्का बताते हैं। कोई पूछता है 'यह बालक किसका है', वह कहते हैं 'भगवान्का'। और भगवन्मूर्तिके लिये कहते हैं 'मेरी।' रहस्य यह है कि सब वस्तुओंपरसे ममता हटाकर 'यह सब भगवन्मय हैं और भगवान् मेरे हैं' यों जब मनुष्य भगवत्सम्बन्ध कर लेता है उस समय जो वस्तुएँ

बाधक थीं वे बाधक नहीं रहतीं, प्रत्युत भगवन्मय होनेसे साधक हो जाती हैं। इसीलिये यहाँ कहा है कि यह सांसारिक विडम्बना तभीतक रहती है जबतक यह मनुष्य तुम्हारा नहीं होता। जहाँ तुम्हारी छाप उसपर लगी कि फिर उसे बाधा देनेवाला है ही कौन ?

जगत्को भगवन्मय देखना, भगवान्को सर्वस्व समर्पण कर देना यह तो बात ही निराली है परन्तु जो सच्चे हृदयसे, वाणीसे और शरीरसे भगवान्के चरणारविन्दोंमें प्रणाम करता हुआ भी जीवन बिताता है वही मुक्तिका अधिकारी हो जाता है—

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥

यहाँ 'दाय' शब्दपर ध्यान दीजिये। जिसपर हमारा नियमतः 'राइट' अधिकार हो चुका उस 'दाय' परसे हमारा स्वत्व हटानेवाला कौन है ? उसपर स्वत्व आगे होकर 'अदालत' दिलाती है। इसी तरह भगवद्भक्तका मुक्तिपर न्यायसिद्ध स्वत्व है। उसे वह बलात् ले सकता है। वह उसका स्वाभाविक 'रिक्थ' है। इसी आशयसे श्रीरामचन्द्रने भी कहा है कि 'अभयम् अस्य'। जिस समय विभीषण मेरे अभिमुख हुआ उसी समय 'अभय' उसका हो चुका। अदालतके न्यायानुसार उसका वह 'दाय' हो चुका। अब मैं देनेवाला कौन ? किन्तु बहती गङ्गामें हाथ पखारनेकी तरह चलता अहसान लेनेके लिये मैं अपनी तरफसे देता हूँ। इसीलिये कहते हैं 'अस्य अभयं मया दत्तम्।'

जब स्वयं श्रीरामचन्द्र आज्ञा कर रहे हैं और पहले पद्यमें 'अभय देना मेरा व्रत है' यह कह भी चुके हैं तब बिना कहे भी यहाँ प्रतीत हो जाता है कि अभय देनेवाले श्रीरामचन्द्र ही हैं फिर 'मया' (मैंने) यह क्यों कहा ? इसका तात्पर्य यह है कि—शरणागतरक्षणरूप मेरे दृढ़ व्रतके अनुसार विभीषणके यहाँ आते ही उनका संग्रह करना मुझे अभीष्ट था। परन्तु मर्यादा और मेरे स्वभावके अनुसार सम्पूर्ण परिकरकी सलाहसे ही यह कार्य करना मैंने उचित समझा था। अतएव मैंने आपलोगोंकी राय ली। आपकी रायपर उचित आलोचना करके विभीषणके स्वीकार-को मैंने सिद्ध भी कर दिया किन्तु अभीतक दलीलें ही चल रही हैं, स्पष्ट अनुमति नहीं मिल रही है। शरणागतके लिये एक-एक क्षणका विलम्ब मुझे घोर असह्य हो रहा है। अतएव आपलोगोंकी सम्मतिसे यदि विभीषण नहीं लिया जा रहा हो तो—'मया अभयं दत्तम्' 'औरोंकी राय न सही, मैंने स्वतन्त्र, अपनी तरफ़से अभय दे दिया।' अपने कियेका निर्वाह अब मुझे करना है। अब मैं देखूँगा कि मेरे शरणागतको भय देनेवाला कौन है। यों श्रीरामचन्द्र विभीषणके स्वीकारमें विशेष आग्रह और उत्साह प्रकट कर रहे हैं। अतएव यहाँ कहा है कि 'मया' 'लो यह अभय 'मैंने' दे दिया।'

'विभीषण हो चाहे स्वयं रावण हो' यह कहनेका तात्पर्य है कि विभीषणके स्वीकारमें अबतक जो बाधाएँ उपस्थित की जा रही हैं वह रावणके सम्बन्धके कारणसे ही तो हैं। किन्तु जहाँ मेरे यहाँ कोई शरणागत हो जाता है फिर मैं उसके गुणदोषोंपर दृष्टि ही

नहीं देता। तुम विभीषणके लिये ही इतना आकाश-पाताल सोच रहे हो, किन्तु तुम जिस रावणके सम्बन्धके कारण विभीषणपर शङ्का कर रहे हो मैं उस स्वयं रावणतकको लेता हूँ कि 'चाहे शरणागत होकर रावण ही क्यों न आया हो, उसे भी ले आओ'। इसीलिये कहा है कि—'यदि वा रावणः'।

विभीषण धर्मात्मा और सदाचारी हैं। सर्वत्र उनकी सौम्यता और शिष्टता प्रसिद्ध है। लङ्कासे लौटे हुए हनुमान्‌ने भी उनके सदाचारकी प्रशंसा की है फिर ऐसे गुणवान्‌का स्वीकार कर लेना कौन बड़ी उदारता है? दुनियाके साधारण आदमी भी अपने मतलबकी अच्छी चीज़को आग्रहसे लेते हैं फिर भला सोना और सुगन्ध! विभीषण शरणागत भी हैं और गुणी, सदाचारी भी। इनके संग्रह कर लेनेमें कौन-सा बड़ा अहसान है? शरणागत-धर्मका प्रतिपालन तो वह कहलायेगा, जहाँ कैसा भी दोषी और अपराधी चला आवे और उसपर टीका-टिप्पणी किये बिना ही उसको छातीसे लगा लिया जाय। अतएव उचित यह है कि जो रावण जगत्प्रसिद्ध क्रूरकर्मा और दुराचारी है, जिसके लिये तुम स्वयं कह रहे हो कि 'रावणस्य नृशंसस्य भ्राता', वह भी यदि अपने दरवाजे-पर इस समय आया हुआ हो तो उसे भी मैं खुले हृदयसे अभय देनेको तैयार हूँ। इसीलिये भगवान् श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि—'यदि वा रावणः स्वयम्'।

भगवान् लोकोद्धारके लिये अवतार लेकर यहाँ पधारे हैं। आपकी हार्दिक इच्छा है कि जितने भी आर्त और पीड़ित हों,

जितने भी दीन प्राणी दुर्जनोंके द्वारा सताये गये हों उन सबकी मेरेद्वारा रक्षा हो। जिन पातकियोंकी पहुँच पुण्यलोकोंमें नहीं हो सकती वह भी यदि अपने पापोंपर पश्चात्ताप करते हों तो उन्हें भी इस समय सान्त्वना मिल जाय। दीन, पातकी, अपुण्यकर्माओंको भी अपनी आत्माके उद्धारका अवसर मिले इसीलिये तो दीनोद्धारक भगवान् अवतार लेकर पधारते हैं। गङ्गा यदि स्वर्गङ्गा ही बनी रहतीं तो कहिये कितनोंका उद्धार होता? स्वर्गतक पहुँचनेके लिये कितने पुण्योंकी पूँजी आवश्यक होती? किन्तु जिस समय वह भूमण्डलमें पधार आयीं उस समयसे 'जडानन्धान् पङ्गून् प्रकृतिबधिरानुक्तिविकलान्' मूर्ख, अन्धे, बहरे, गूँगे, लँगड़े आदि अनेक अपाहिजोंको भी आत्मोद्धारका मार्ग दीखने लग गया। इसी तरह भगवान् भी यदि वैकुण्ठमें ही विराजे रहते तो कितने पुण्यवानों-की वहाँ पहुँच होती, और कितनोंको आत्मोद्धारका अवसर मिलता? जहाँ ब्रह्मादि देवतातक अवसर देखकर पहुँच सकते हैं, जहाँ सनकादि सिद्ध भी रोक दिये जाते हैं वहाँ क्या दीनोंकी पहुँच हो जाती? परन्तु अधमोद्धारक दीनदयालु भगवान् सबको एक दृष्टिसे देखते हैं। अतएव दीनोंकी भी रक्षा हो इसलिये भूमण्डलमें अवतार लेते हैं। यहाँ आकर जितने भी अधिक दीनों-की रक्षा हो, जितने भी अधिक पापियोंका उद्धार हो, उतना ही अधिक भगवान्‌के पधारनेका प्रयोजन सिद्ध होता है। यदि पुण्यकर्मा विभीषणको आश्रय दिया जायगा तो उनके साथ आये हुए चार लङ्कावासियोंकी ही रक्षा हो सकेगी। किन्तु यदि स्वयं लङ्काधिपतिको ही शरणमें लिया जाता तो उनके साथ सम्पूर्ण

लङ्काका उद्धार होता है। यों रावणके संग्रहमें अधिक जनोंकी रक्षा होती है। इसमें अपना प्रयोजन अधिक सिद्ध हुआ या बिगड़ा ? इसी आशयसे आप सुग्रीवको आज्ञा दे रहे हैं कि— 'यदि वा रावणः स्वयम्' यदि स्वयं रावण भी आया हुआ हो तो 'एनम् आनय' इसे बेखटके ले आओ।

तुमने बड़ी लम्बी-चौड़ी दलीलोंसे सिद्ध करना चाहा है कि वैरी-भ्राता विभीषणको ले लेनेसे हमारी बड़ी हानि हो सकती है। किन्तु मैं देखता हूँ कि विभीषण भी नहीं, स्वयं रावणको भी ले लेनेसे हमें लाभ ही है, हानिकी कोई सम्भावना नहीं।

मेरी कीर्ति विश्वव्यापिनी हो यही तो सर्वात्मना आपलोगोंको अभीष्ट है। 'पुण्यश्लोकः' 'महायशाः' कह-कहकर जो आपलोगोंका मुँह सूखा जाता है इसका यही तो तात्पर्य है कि आपलोग जीवनका सबसे बड़ा ध्येय 'कीर्तिरक्षा' समझते हैं। अब ज़रा स्वार्थदृष्टिसे ही विचार कर लीजिये कि विभीषणके संग्रहमें मुझे अधिक लाभ है या स्वयं रावणके। मैं तो समझता हूँ कि विभीषणके स्थानपर यदि स्वयं रावणको ही अभय दे दिया जाता है तो अधिक लाभ होता है। रावणके संग्रहमें विभीषण तो उनके साथमें स्वयं आ ही जाते हैं किन्तु उसके साथ-साथ ही मेरी कीर्तिकौमुदी चतुर्दश भुवनोंमें और भी उज्ज्वल होकर फैलेगी कि घोरापराधी क्रूरकर्मा रावण-सरीखेको भी राघवने शरणमें ले लिया। सम्मुख युद्धमें शस्त्रोंके जोरसे अपने बाहुबलके द्वारा जो

वीरलोग भयानक-से-भयानक शत्रुको जीतते हैं उनकी अपेक्षा मैं तो उनको बड़ा वीर समझता हूँ जो अपने साथ घोर अपकार करनेवालेको भी शरणागत होनेपर क्षमा कर देते हैं। आज जो रावणने अपराध किया है वह मेरे पक्षमें सबसे उत्कट है, जगत्-मात्र जान रहा है। ऐसे घोर अपराधका अपराधी दीन होकर मेरे दरवाजेपर आया हो और मैं अभय देकर अपनी शरणमें ले लूँ इसमें मेरी अधिक कीर्ति होगी या अपकीर्ति? मेरी उदारता समझी जायगी या 'घूँसेका बदला लातसे लेनेवालोंकी'-सी प्रावाहिकता?

आज रावण विश्वविदित एकमात्र वीर है। उसकी क्या कथा, उसके पुत्रोंतकने कई बार देवताओंको छका दिया है। उसके बेटेकी ख्याति ही इन्द्रजित् नामसे है, जिसे सुन-सुनकर बेचारा इन्द्र लज्जाके मारे गड़ा जाता है। भूमिकी कौन गिनती, देवतातक आज उसे प्रणाम कर रहे हैं। सन्ध्योपासनके समय द्विजोंके प्रणाम अबतक सूर्यके हिस्सेमें आते थे। जिस दिशामें सूर्य होता उसी दिशाकी तरफ मुख करके ब्राह्मण-क्षत्रियादि सन्ध्या-प्रणाम आदि किया करते थे किन्तु आज रावणका यह दबदबा है कि सूर्य कहीं भी रहे उससे कोई प्रयोजन नहीं। रावण जिस दिशामें जाता है उसी दिशाकी तरफ़ मुख करके ब्राह्मणादि प्रणाम कर रहे हैं। वह भी इतना मनस्वी और मानी है कि कभी किसीसे नम्र नहीं हुआ। इतिहासोंमें सुना जाता है कि ऐसे-ऐसे राजा हो गये हैं जिन्होंने कहा है कि हमें झुकना मालूम नहीं। आजतक किसी राजशक्तिको हमने झुककर सलाम नहीं किया। किन्तु रावणकी मानिता, सर्वमानिता (सबकी मानी हुई) है। आलोचक लोग

कहते हैं कि रावणके ऊपर इतनी विपत्तियाँ आयीं, कुटुम्बका इतना क्षय हुआ परन्तु वह अपनी बातसे कभी न हटा। जिस समय कुम्भकर्ण और इन्द्रजित्-सरीखे मारे गये उस समय प्रहस्त आदि बड़े-बड़े अभिमानी रावण-सचिवोंकी भी हिम्मत हिल गयी। उनकी तरफ़से भी प्रस्ताव हुआ कि अब रामसे सन्धि कर ली जाय, परन्तु वाह रे रावण, हज़ार आपत्ति आनेपर भी दैन्य स्वीकार नहीं किया। उसने कहा कि अबतक जो रावण त्रिभुवनमें शरण्य (शरण देनेवाला) रहा है, कभी किसीसे दीन वचन कहनेका जिसको अवसर नहीं आया, वह आज अपनी तरफसे सन्धिका प्रस्ताव करे ? प्राण बड़ी चीज़ है कि अपना यश ? मैं कभी सन्धिके अक्षर मुखसे नहीं कह सकूँगा। जो कुछ होना है मुझे निश्चित है, किन्तु मैं कभी अपने वचनको नहीं जाने दूँगा। आज भी मैं यही साहस रखता हूँ कि तपस्वी रामको उसके हिमायतियों-सहित ठीक कर दूँगा।

और तो क्या—जिन भगवान् शिवसे इतना रुतबा मिला था उनके आगेतक तो जिससे दीनताके वचन कहे ही न गये। अपने मस्तकोंको अपने ही हाथसे काट-काटकर होम कर देनेके साहससे प्रसन्न होकर चराचरनायक शिवने जिस समय वर माँगनेके लिये कहा उस समय रावणके दसों मुख आपसमें झगड़ने लगे कि 'तू माँग, तू माँग'। प्रत्येक मुखको लज्जा है कि आजतक मैंने किसीसे याचना नहीं की। शिव हुए तो क्या—परन्तु मैं ज़बान कैसे निकालूँ। बस, आपसमें बहुत देरतक मुखोंमें हुज्जत होती

रही, कलहतकका मौका आ गया। क्या ऐसा मानी त्रिभुवनमें दूसरा है? कवि मुरारि कहते हैं—

सन्तुष्टे तिसृणां पुरामपि रिपौ कण्डूलदोर्मण्डली-
लीलालूनपुनर्विरूढशिरसो देवस्य लिप्सोर्वरम्।
याच्ञादैन्यपराञ्चि यस्य कलहायन्ते मिथस्त्वं वृणु
त्वं वृण्वित्यभितो मुखानि स दशग्रीवः कथं कथ्यताम्॥

'अपने हाथसे मस्तक काट दिया जाता है और वह फिर निकल आता है। यों मस्तकहवनरूपी असामान्य साहससे जब त्रिपुरारि भगवान् सन्तुष्ट हो गये और वर देने लगे उस समय याचनाकी दीनतासे पराङ्मुख हुए जिसके दशों मुख 'तू माँग, तू माँग' इस तरह कलह करते हैं, उस दशग्रीवका वर्णन कैसे किया जा सकता है?'

वही मानी रावण यदि आज मेरे दरवाजेपर आया हुआ हो तो मेरी कीर्ति कुछ कम प्रशस्य है? सो भी किसलिये? शरणागत होनेके लिये। बस, इससे बढ़कर कीर्ति-पताका और कितनी ऊँची चाहते हो? यह मेरा बड़ा गौरव है कि रावणसदृश त्रिलोकीका अद्वितीय अभिमानी मेरे पास शरणयाचनाके लिये आया हुआ हो, और मैं उसे अभय दे रहा होऊँ। अतएव, श्रीरामचन्द्र यहाँ आज्ञा करते हैं कि—'यदि वा रावणः स्वयम्' 'यदि स्वयं रावण भी आया हुआ हो तो उसे ले आओ, मैंने उसे अभय दे दिया।'

यहाँ 'स्वयम्' और कहा है। स्वयं कहनेका तात्पर्य है कि जिस रावणके सम्बन्धके कारण तुम लोग विभीषणपर भी शंका कर रहे

हो वह 'स्वयम्' रावण भी आवे तो भी मैं उसे अभय कर देता हूँ। अथवा 'स्वयम्' से आप बड़ी गूढ़ बात कहते हैं। आप कहते हैं कि यदि रावण अपने कियेपर पश्चात्ताप करे और अब अपनी खैर न समझकर जनक-नन्दिनी श्रीसीताको आगे लेकर मेरी शरणमें आवे तो मुझे ही क्या तुमको और साधारण-से-साधारण मनुष्यतकको उसके स्वीकारमें संशय न होगा। जिन मैथिलीके लिये इतना विवादसूत्र छिड़ा है उन्हें ही आगे लिये आ रहा है और क्षमायाचना कर रहा है, अब और बाकी क्या रहा? किन्तु शरणागतवत्सलताका गौरव इसमें ही है कि यदि वह अकेला खाली हाथ भी आये तो भी मैं उसे अभय दूँ। अतएव आप आज्ञा कर रहे हैं कि 'स्वयम्'। यदि बिना सीताको लिये केवल वही आया हो तो भी मैंने उसे अभय दिया।

अथवा—'स्वयम्' से यह सूचित करते हैं कि तुम विभीषण समझकर उसे लिवाने जाओ किन्तु वहाँ तुम्हें मालूम पड़े कि विभीषणका रूप धारण करके यह तो स्वयं रावण ही आया है। तो भी मैं तुमको आज्ञा देता हूँ कि तुम उसको लिवा लाओ। उसे बिना लाये अकेले तुम मुझसे यह पूछने मत आना कि 'वह तो विभीषणके रूपमें रावण है'। नहीं, कोई हो, मैंने अभय दे दिया। अतएव आप कह रहे हैं कि—'स्वयम्'। विभीषणके रूपमें स्वयं रावण ही क्यों न हो, मैंने अभय दे दिया।

जब इस तरह शरणागतवत्सल श्रीरामचन्द्रने तृतीय बार बड़े जोरसे विभीषणके स्वीकारकी केवल सम्मति ही नहीं उसे

लिवा लानेकी आज्ञा ही दे दी तब कारुणिक हृदय सुग्रीवसे न रहा गया। वह एकदम प्रसन्न हो गये, कहा कि 'हे भगवन्! आप 'लोकनाथशिरोमणि हैं' जो लोकोंके नायक हैं उनके भी आप शिखामणि हैं। यह उदारता आपमें न हो तो और किसमें हो? धृष्टताकी क्षमा हो, हमलोग तो आपकी उदारताकी एक तरहसे परीक्षा कर रहे थे। मेरा भी अन्तरात्मा विभीषणको शुद्ध जान चुका है। मैं आपके शरणागत-रक्षणव्रतको आज ही नहीं, पहलेसे ही अच्छी तरह जानता हूँ। अब यह विभीषण 'नः सखित्वम् अभ्युपैतु' 'हमारा मित्र और समान गौरवका भाजन बने' यों कहकर सुग्रीव बड़ी प्रसन्नताके साथ विभीषणको लिवा लाते हैं।

श्रीरामके सम्मुख आते ही विभीषण उनके चरणोंमें गिर जाते हैं और—

अनुजो रावणस्याहं तेन चास्म्यवमानितः।
भवन्तं सर्वभूतानां शरण्यं शरणं गतः॥
परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च।
भवद्गतं हि मे राज्यं जीवितं च सुखानि च॥

'मैं रावणका छोटा भाई हूँ, उसके द्वारा तिरस्कृत होकर निकाला गया हूँ। आप सर्वलोकोंके शरण्य हैं, मैं आपके शरण आया हूँ। मैंने लङ्का, मित्र, धन आदि सब कुछ छोड़ दिया है। राज्य, सुख, और तो क्या मेरे जीवनतक अब आप हैं।' यों दैन्यप्रदर्शनपूर्वक आर्त विभीषण आत्मनिवेदन करते हुए 'मानसिक' के अनन्तर 'वाचिक' शरणागति निवेदन करते हैं।

बस, भगवान् तो उन्हें पहले ही स्वीकार कर चुके थे । अब इस समय, विभीषण अपने दैन्यको भूल जायँ और उनपर इतना बड़ा अहसान श्रीरामने किया है, इस बातका प्रसंग ही हटानेके लिये श्रीरामचन्द्र बात ही दूसरी छेड़ देते हैं । 'लोचनाभ्यां पिबन्निव' प्रेमातिशयके कारण बड़े स्नेहसे विभीषणको निहारते हुए आप पूछते हैं—'विभीषण ! मुझे लंकाके समाचार कहो, इत्यादि ।'

बस, विभीषणकी शरणागति सफल होती है । दयालु श्रीरामचन्द्र सबपर इस तरह अनुग्रह करें ।

कञ्जमाञ्जुल्यहरणे करणे सर्वसम्पदाम् ।
श्रीरामचन्द्रचरणे शरणेच्छा समेधताम् ॥